

# जीवन्मोक्ष-विवेक भाषा-टीका

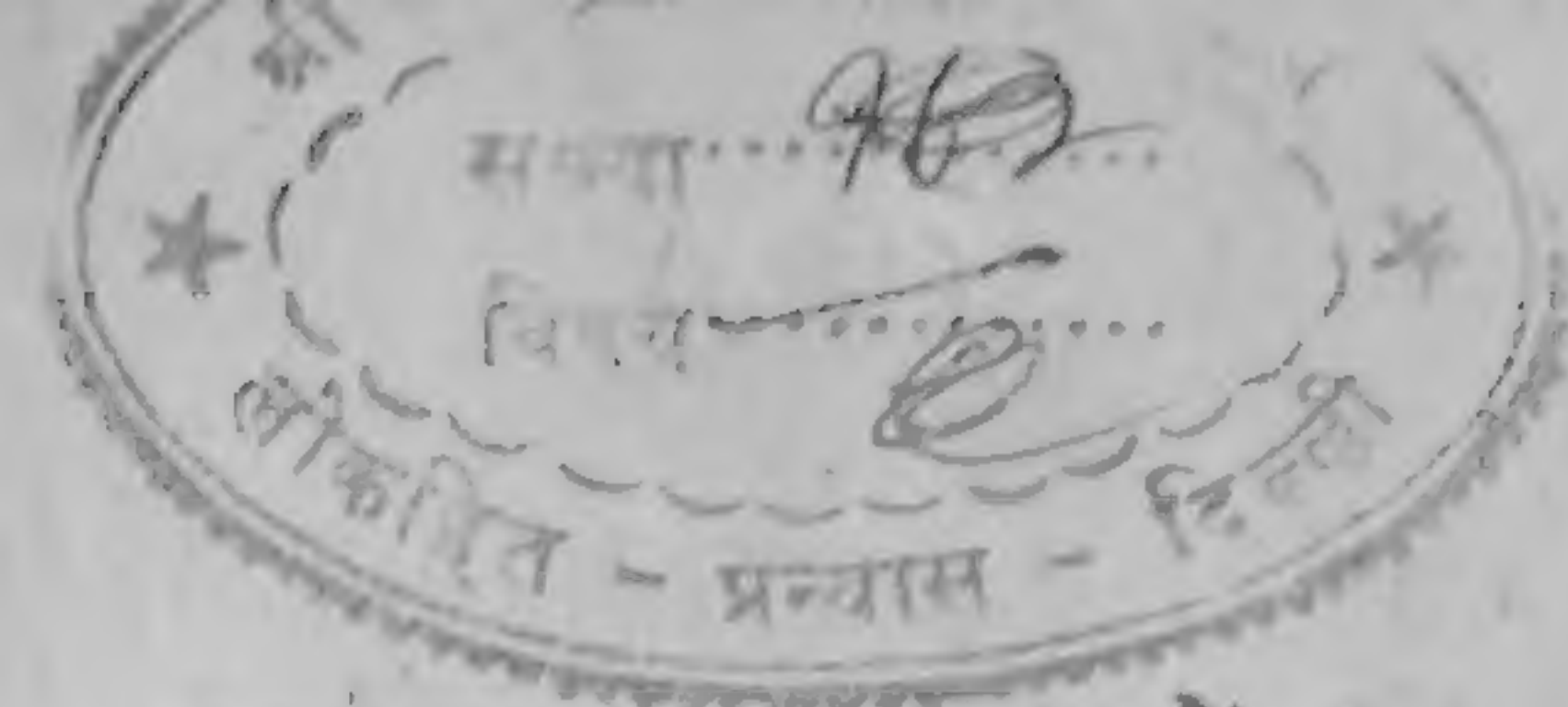


परशुरामपुरीया  
आदित्य अगरवाह  
मारकेट  
निलकंठार

परशुराम पुरिया . . .  
विवेक

मारकेट निलकंठार  
मण्डल





अनुवादककृत ग्रन्थोंकी

## सूची ।

गौतमीयन्यायदर्शन वात्स्यायनभाष्य और  
भाषाटीका मूल्य ३॥)

वेद उपवेद और वेद के छः अङ्गों के रक्षा के लिये हमारे ऋषियों ने छः उपाङ्ग स्वरूप छः दर्शनों को रचा है । इन दर्शनों में ( अपने २ तरी के पर ) वेदोक्त सत्य सनातन धर्म को सुक्ति और प्रमाणों से बड़े २ नास्तिकों के आक्षेपों को उत्तर देकर वेदोक्त धर्म की रक्षा कियी गयी है । इन छः दर्शनों में से सब से अधिक महर्षी गौतमजी ने चार्वाक, बौध, आर्हत, जैन आदि प्रबल नास्तिकों के आक्षेपों का युक्तियुक्त अकाट्य उत्तर दिया है । इस दर्शन में एक बड़ी विलक्षणता यह है कि इस को भलीभांति पढ़ समझ लेने पर शास्त्रार्थ वा वहस की रीति, और युक्तियुक्त बात लिखने वा बोलने की रीति मालूम होजाती है और चाहे कैसाभी प्रबल नास्तिक क्यों न हो इस शास्त्र के जानने वाले के सामने उस का मत नहीं ठहर सकता । इस न्याय विद्या को 'तर्क' मत्तिक



या लाजिक कहते हैं। इस के ५३० सूत्रों पर वात्स्या-  
यन मुनिकृत भाष्य और तदनुकूल सरलभाषानुवाद  
किया गया है। इस की भूमिका में अन्यान्य दर्शनों  
के साथ समन्वय दिखलाया गया है। यह पुस्तक  
अन्यान्य १३ शुद्ध प्रतियां से मिलाकर, छापी गयी  
है। यह पुस्तक देखने योग्य है।

सामवेदीय गोभिल गृह्यसूत्र संस्कृतटीका और भाषानुवाद मूल्य २॥)

वेद के शिक्षा कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द,  
और ज्योतिष इन छः अङ्गों में से 'कल्प' नामक अङ्ग  
वेद के हस्त स्वरूप है अर्थात् वेद का जो प्रधान  
उद्देश्य श्रेयसकर कर्म काण्ड की प्रवृत्ति करानेमें है।  
उसी का प्रतिपादक श्रौत और गृह्य सूत्र है। जिन  
में से यह गृह्य सूत्र पुस्तक है। चारों वेदों की अलग  
२ शाखा होने से, प्रत्येक शाखा के अलग २ गृह्य  
सूत्र हैं। उसी प्रकार यह सामवेद के कौथुमी शाखा  
का गोभिलमुनि प्रणीत "गोभिल गृह्यसूत्र" है।  
इस पुस्तक में इस शाखाके द्विजों के कर्तव्य गर्भा-  
धानादि संस्कार तथा स्मार्त कर्मों का विधा-  
न है। इस ग्रन्थ में पहिले सूत्र, फिर उस की  
संस्कृत में टीका, तब उस का भाषा में अनुवाद और  
मौके २ पर टिप्पणी और गर्भाधानादि संस्कारों में

पठनीय पूरे २ मन्त्र दिये गये हैं। और इस की भू-  
मिका में वेद, शाखा, सूत्र, संस्कार, आदि अनेक  
उपयोगी विषयों पर विचार लिखा गया है। पुस्तक  
देखने योग्य है।

आर्यभटीय, या लघुआर्य सिद्धान्त मूल्य १)

महामति पं० आर्य भट्ट पटना निवासी ने वेद के  
अनुकूल इस ग्रन्थ को आर्या छन्दों में सिद्धान्त के  
अपूर्व ज्योतिष का ग्रन्थ शाके ४२१ में रचा था।  
जिस को आज १४०९ वर्षे हुई। इस पर पं० परमे-  
श्वराचार्य की संस्कृत टीका है। और भाषानुवाद  
किया गया है। इस की भूमिका में अपूर्व २ बातों  
पर विचार किया गया है। यह पुस्तक हिन्दुस्तान में  
आज तक नहीं छपी इस की केवल आवृत्ति जर्मन  
देश के लिपजिग स्थान में डाक्टर कार्प ने छपवायी  
थी, जो ५) रु. को मिलती है, इस में पृथिवी का  
भ्रमण स्पष्ट लिखा है। इस की भूमिका में समुद्रम-  
थन, राशलीला, और अन्यान्य उपयुक्त विषयों पर  
विचार लिखा गया है। ग्रन्थ देखने योग्य है।

सूर्य सिद्धान्त भाषाटीका और बृहद्भूमिका मूल्य १॥)

यह ग्रन्थ सिद्धान्त ज्योतिष के उपलब्ध ग्रन्थों  
में सब से प्राचीन सर्व मान्य है। भारत वर्ष में ज्यो-



तिष शास्त्र के अनुसार पञ्चाङ्ग बनने और सिद्धान्त सम्बन्धी विचार होने पर इसी ग्रन्थ के अनुसार फैसला किया हुआ माना जाता है । आज तक इस अमूल्य ग्रन्थ पर ऐसे अपूर्व विचार के साथ भाषा-नुवाद नहीं किया गया था । इस की भूमिका १५० पृष्ठों में और शेष भाग में ग्रन्थ है । इस की भूमिका में प्रायः ज्योतिष सम्बन्धी सब विषयों पर वेद, ब्राह्मण, पुराण आदि मान्य ग्रन्थों तथा अङ्गरेजी आदि के पुस्तकों से सार लेकर उनपर वेदानुकूल विचार किया गया है । इस की थोड़ी प्रति रह गयी है ।

उपर लिखी ४ पुस्तकों की प्रशंसा भारत मित्र, बङ्गवासी वैङ्कटेश्वर हितवार्ता, सरस्वती, भारतजीवन, आर्यमित्र बहुत से प्रसिद्ध समाचार पत्रों ने मुक्त कण्ठ से कियी है ।

पत्रादिप्रेषणस्थानम् }

हरिदासगुप्तः,  
चौखम्बा, बनारस, सिटी,

अथ जीवन्मुक्तिविवेकान्तर्गत ( प्रमाणरूपेण धृत )

श्रुतिस्मृतिग्रन्थानां

## सूचीपत्रम् ।

ग्रन्थ नाम

पराशरस्मृति	आरुणी उपनिषद्
वृहदारण्यकोपनिषद्	दक्षस्मृति
भगवद्गीता	विष्णुस्मृति
योगवासिष्ठ	शंखस्मृति
उपदेश साहस्री	आपस्तम्बस्मृति
नैष्कर्म्य सिद्धि	अत्रि स्मृति
मनुस्मृति	सूतसंहिता
छान्दोग्य उपनिषद्	वाजसनेयी उपनिषद्
कठोपनिषद्	बौधायनस्मृति
मुण्डकोपनिषद्	मेधातिथि
माण्डूक्योपनिषद्	विष्णुपुराण
महाभारत	तैत्तिरीय ब्राह्मण
भागवत	कौषीतकी ब्राह्मण
योगसूत्र	आर्यपञ्चाशी
यमस्मृति	कावषेयीगीता
वसिष्ठस्मृति	वाल्मिकीयरामायण
बेदान्तसूत्र	गौडपादाचार्यकृतमाण्डूक्यकारिका
श्वेताश्वतरोपनिषद्	योगवार्त्तिक
जावालोपनिषद्	लीलोपाख्यान
परमहंसोपनिषद्	





श्रीमद्विद्यारण्यविरचितः

## जीवन्मुक्तिविवेकः ।

तत्र प्रथमं जीवन्मुक्तिप्रमाणप्रकरणम् ।

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्यो ऽखिलं जगत् ।

निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

अर्थः—जिस का निःश्वासरूप वेद हैं, और जिस ने वेदो-  
क्तज्ञानानुसार सारे जगत् को निर्माण किया, उस श्रीविद्यातीर्थ-  
सकल विद्याओं का पवित्र आश्रय-गुरु से अभिन्न श्रीमहेश्वर  
को मैं वन्दन करता हूँ ॥ १ ॥

वक्ष्ये विविदिषान्यासं विद्वत्सन्त्यासं च भेदतः ।

हेतू विदेहमुक्तेश्च जीवन्मुक्तेश्च तौ क्रमात् ॥ २ ॥

अर्थः—विविदिषासन्त्यास और विद्वत्सन्त्यास को भिन्न २  
कथन करूंगा । इन में से पहिला विविदिषासन्त्यास विदेहमुक्ति  
का और विद्वत्सन्त्यास जीवन्मुक्ति का हेतु है ॥ २ ॥

सन्त्यासहेतुर्वैराग्यं यदहर्विरजेत्तदा ।

प्रव्रजेदिति वेदोक्तेस्तद्भेदस्तु पुराणगः ॥ ३ ॥

अर्थः—जिस दिन वैराग्य उत्पन्न हो उसी दिन सन्त्यास  
ग्रहण करे ऐसा वेद का कथन है । अत एव सन्त्यास का हेतु  
वैराग्य है, इस सन्त्यास का भेद पुराणोंमें प्रसिद्ध है ॥ ३ ॥



विरक्तिर्द्विविधा प्रोक्ता तीव्रा तीव्रतरेति च ।

सत्यामेव तु तीव्रायां न्यसंयोगी कुटीचके ॥ ४ ॥

अर्थ:—वैराग्य दो प्रकारका है— एक तीव्र वैराग्य दूसरा तीव्रतर वैराग्य । इनमें से तीव्रवैराग्य होनेपर योगी \*कुटीचक सन्यास धारण करे ॥ ४ ॥

शक्तो बहूदके तीव्रतरायां हंससंज्ञिते ।

सुसुधुः परमे हंसं साक्षाद्विज्ञानसाधने ॥ ५ ॥

अर्थ:—जो तीव्रवैराग्यवान् योगी शरीरसामर्थ्यवाला हो तो वह बहूदक \*सन्यास ग्रहण करे । और तीव्रतर वैराग्य होने पर, हंस नाम का सन्यास लेवे, परन्तु तीव्रतर वैराग्यवान् पुरुष यदि मुक्ति चाहनेवाला हो तो, वह साक्षात् अपरोक्ष ज्ञान का साधनभूत परमहंससन्यास को स्वीकार करे ॥ ५ ॥

पुत्रदारगृहादीनां नाशे तात्कालिकी मतिः ।

धिकं संसार इतीदृक् स्याद्विरक्तेर्मन्दता हि सा ॥ ६ ॥

अर्थ:—जिस समय स्त्री पुत्र गृह आदिकोंका नाश होता उस समय “इस संसार को धिक्कार है” इस प्रकार की बुद्धि उपजती है— उसको मन्दवैराग्य कहते हैं ॥ ६ ॥

अस्मिन् जन्मनि मा भूवन्पुत्रदारादयो मम ।

इति या सुस्थिरा बुद्धिः सा वैराग्यस्य तीव्रता ॥ ७ ॥

\* जो सन्यासी यात्रा ( सफर ) आदिक में सामर्थ्य हीन होनेसे एकजगह तीर्थस्थानादिक में कुटी बान्ध कर रहता प्रति दिन १२००० हजार प्रणवका जप करता और यथा समय भिक्षामाङ्गकर अपने आश्रममें ब्रह्मध्यान करता वह कुटीचक है ।

१ तीर्थाटन करने वाले—सन्यासीको बहूदक जानना ।

अर्थ:—“इस जन्म में मुझे स्त्रीपुत्रादिक कोई भी पदार्थ न होवें” इस प्रकार की जो सुस्थिरबुद्धि उस का नाम तीव्रवैराग्य है ॥ ७ ॥

पुनरावृत्तिसहितो लोको मे माऽस्तु कश्चन ।

इति तीव्रतरत्वं स्यान्मन्दे न्यासो न कोऽपि हि ॥ ८ ॥

अर्थ:—“इस जन्म और पुनर्जन्म में मुझे किसी भी लोक की इच्छा नहीं है” ऐसी वृत्ति की तीव्रतर वैराग्य में गणना होती है । मन्दवैराग्य में किसी सन्यासाश्रम का अधिकार नहीं ॥ ८ ॥

यात्राद्यशक्तिशक्तिभ्यां तीव्रे न्यासद्वयं भवेत् ।

कुटीचको बहूदश्चेत्युभावेतौ त्रिदण्डिनौ ॥ ९ ॥

अर्थ:—यात्रा आदि के निमित्त पर्यटन करनेमें सामर्थ्य असामर्थ्य के कारण तीव्रवैराग्यवान् पुरुष यथाक्रम से कुटीचक और बहूदक नाम के दो सन्यासों को धारण करे । ये कुटीचक और बहूदक सन्यासी त्रिदण्डी होते हैं ॥ ९ ॥

द्वयं तीव्रतरे ब्रह्मलोकमोक्षाविभेदतः ।

तल्लोके तत्त्वविद्धंसो लोके ऽस्मिन्परमहंसकः ॥ १० ॥

अर्थ:—तीव्रवैराग्यवान् योगी को यदि ब्रह्मलोक की इच्छा हो तो, वह हंस नामक सन्यास को ग्रहण करे । वह ब्रह्मलोक में आत्मसाक्षात्कार होने पर ब्रह्माके साथ मुक्ति पाता है । और यदि उक्त योगी को केवल मोक्ष ही की इच्छा हो तो वह परम हंस नामक आश्रम का सेवन करे । उस को वर्तमान शरीर में ही आत्मसाक्षात्कार होता है ॥ १० ॥

एतेषां तु समाचाराः प्रोक्ताः पाराशरस्मृतौ ।



व्याख्यानं ऽस्माभिरत्राप्यं परमहंसो विविच्यते ॥११॥

अर्थः—इन सब सन्यासियों के सदाचार का निरूपण पाराशरस्मृतिमें किया है और उस के व्याख्यान करने से हम उपराम करते हैं और इस ग्रन्थ में केवल परमहंस ही की विवेचना करते हैं ॥ ११ ॥

जिज्ञासुर्ज्ञानवांश्चेति परमहंसो द्विधा मतः ।

प्राहुर्ज्ञानाय जिज्ञासोन्यासं वाजसनेयिनः ॥ १२ ॥

अर्थः—जिज्ञासु और ज्ञानवान् ये दो प्रकारके परमहंस हैं । जिज्ञासु (सन्यासी) ज्ञान प्राप्ति के लिये परमहंस आश्रम धारण करे ऐसा वाजसनेयी शाखा के अध्ययन करनेवालोंने (बृहदारण्यक उपनिषद् में) कहा है ॥ १२ ॥

प्रव्राजिनो लोकमेतमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति हि ।

एतस्यार्थस्तु गद्येन वक्ष्यते मन्दबुद्धये ॥ १३ ॥

अर्थः—“एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति” इस श्रुति का अर्थ मन्दबुद्धिपुरुषोंके लिये हम गद्य ( वाक्य ) द्वारा कहेंगे ॥ १३ ॥

लोको हि द्विविधः, आत्मलोकोऽनात्म-

लोकश्चेति तत्राऽऽत्मलोकस्य त्रैविध्यं

बृहदारण्यके तृतीयाध्याये श्रूयते—

अर्थः—आत्मलोक और अनात्मलोक ये दो प्रकारके लोक हैं । इनमें से अनात्मलोक का तीनप्रकार का होना बृहदारण्यक उपनिषद्के ३रे अध्याय में सुना जाता है ।

“अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः पितृ-

लोको देवलोक इति, सोऽयं मनुष्यलोकः

पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा कर्मणा पितृ-  
लोको विद्यया देवलोकः” इति ।

आत्मलोकश्च तत्रैव श्रूयते ।

अर्थः—मनुष्यलोक, पितृलोक, और देवलोक, ये तीन लोक हैं । इनमें से मनुष्य लोक का जय पुत्र द्वारा ही किया जा सकता, अन्यकर्म द्वारा नहीं । पितृलोक का कर्मद्वारा ही जय किया जा सकता, पुत्र या विद्याद्वारा नहीं । और देवलोक का विद्या (उपासना) द्वारा जय किया जा सकता पुत्र या कर्म द्वारा नहीं ।

आत्मलोक भी पूर्वोक्त उपनिषद् के ३रे अध्याय में ही वर्णित है—

“यो ह वा अस्माल्लोकात् स्वं लोकमदृष्ट्वा प्रैति स एनमविदितो न भुनक्ति” इति । “आत्मानमेव लोकमुपासीत स य आत्मानमेव लोकमपास्ते न हास्य कर्म चीयते ” इति च ॥ योमांसादिकपिण्डलक्षणात्स्वलोकं परमात्माख्यमहं ब्रह्मास्मीत्यविदित्वा म्रियते स स्वलोकः परमात्माऽविदितोऽविद्यया व्यवहितः सन्नेनमवेत्तारं प्रेतं मृतं न भुनक्ति शोकमोहादिदोषापनयनेन न पालयति । उपासकस्य ह निश्चितं कर्म न चीयते एकफलदानेनोपक्षीणं न भवति । कामितसर्वफलं मोक्षं च ददातीत्यर्थः । षष्ठाध्यायेऽपि ।

अर्थः—जो पुरुष अपने स्वरूपभूत स्वयंप्रकाश आत्मा को



साक्षात्कार किये बिना इस मांस आदिक के पिण्डरूप शरीर को छोड़ता है उस का अज्ञात आत्मा, उस के शोकमोहभयादि से पालन नहीं करता, अतएव आत्मलोक की ही उपासना करनी चाहिये । जो आत्मरूप लोक की उपासना करता है उस के कर्म का नाश नहीं होता अर्थात् एक फल दान से कर्म का क्षय नहीं होता प्रत्युत सब ही इच्छित फलों को देता और मोक्ष भी देता है ॥

बृहदारण्यक उपनिषद् के द्बे अध्याय में भी कहा है—

“किमर्थं वयमध्येष्यामहे किमर्थं वयं यक्ष्यामहे किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक” इति । “ये प्रजामीशिरे ते इमशानानि भेजिरे ये प्रजा नेशिरे तेऽमृतत्वं हि भेजिरे” ।

अर्थः—किस लिये हम अध्ययन करेंगे ? किस लिये हम यज्ञ करेंगे ? प्रजाद्वारा हम क्या करेंगे ? कि जिस को यह आत्मरूप फल की प्राप्ति हुई है । जो प्रजा का स्वामी हुआ वह मरण को प्राप्त हुआ ( उस ने स्मशान का सेवन किया ) और जो प्रजा का स्वामी न हुआ वह मोक्ष को प्राप्त हुआ ॥

एवं सति—“एतमेव प्रवाजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ती”त्यत्राऽऽत्मलोको विवक्षित इति गम्यते । “स वा एष महानज आत्मा” इति प्रकान्तस्याऽऽत्मन एतच्छब्देन परामृष्टत्वात् । लोक्यतेऽनुभूयत इति लोकः । तथाचाऽऽत्मानुभवमिच्छन्तः प्रव्रजन्तीति श्रुतेस्तात्प-

र्यार्थः सम्पद्यते । स्मृतिश्च ।

अर्थः—इस लिये “ एतमेव ” इत्यादि श्रुति में आत्मलोक विवक्षित है ऐसा प्रतीत होता है । क्योंकि “स वा एष०” इस श्रुति में पठित आत्मा का “एतमेव प्रवा०” इस श्रुति में ‘एतत्’ ( इस ) शब्दद्वारा ग्रहण किया है । “लोक्यते” इस व्युत्पत्ति-द्वारा लोकपदका ‘अनुभव गम्य’ ऐसा अर्थ होता है । इसलिये “एतमेव प्र०” इस श्रुतिका तात्पर्य ऐसा निकलता है कि “आत्मानुभव की इच्छा करनेवाला पुरुष सन्न्यास ग्रहण करता है । स्मृति भी कहती है—

“ ब्रह्मविज्ञानलाभाय परमहंससमाह्वयः ।  
शान्तिदान्त्यादिभिः सर्वैः साधनैः सहितो  
भवेत् ” इति ।

अर्थः—ब्रह्मसाक्षात्काररूपलाभ के लिये ‘परमहंस’ यह संज्ञा है । इस लिये परमहंससंन्यासी शमदमादि साधनों से युक्त होवे । इह जन्मनि जन्मान्तरे वा सम्यगनुष्ठितैर्वेदानुवचनादिभिरुत्पन्नया विविदिषया सम्पादितत्वादयं विविदिषासंन्यास इत्याभिधीयते । अयं च वेदनहेतुः संन्यासो द्विविधः, जन्मापादककाम्यकर्मादित्यागमावात्मकः प्रैषोच्चारणपूर्वकदण्डधारणाद्याश्रमरूपश्चेति ।

अर्थः—इस जन्म या जन्मान्तर में यथाविधि ( बाकायदे ) आचरण के साथ वेदाध्ययनादि शुभ निश्च कर्म द्वारा उत्पन्न हुई विविदिषा से सम्पादन होनेसे इस का नाम विविदिषा



सन्न्यास है। यह विविदिषा सन्न्यास ज्ञान का हेतु है। यह सन्न्यास दो प्रकार का है। एक जन्मसम्पादक केवल काम्यकर्मादि का त्यागरूप और दूसरा प्रैषमन्त्र का उच्चारणपूर्वक दण्डधारणादिआश्रमविह्व युक्त सन्न्यास है ॥

“ पुंजन्म लभते माता पत्नी च प्रैषमात्रतः ।  
ब्रह्मनिष्ठः सुशीलश्च ज्ञानं चैतत्प्रभावतः ” ॥  
त्यागश्च तैत्तिरीयादौ श्रूयते—

अर्थ:—केवल प्रैषमन्त्र के उच्चारण से भी उस उच्चारण करनेवाले की माता और पत्नी पुरुष योनि को प्राप्त होती, और स्वयं भी इस मन्त्र के प्रभाव से ब्रह्मनिष्ठ, सुशील, और ज्ञानवान् होता है। पुनर्जन्म का देनेवाला काम्यकर्मादि का त्यागरूप सन्न्यास का, तैत्तिरीयादि उपनिषद् में श्रवण होता है—

“ न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैक अमृतत्त्वमानशुः ” इति ।

अर्थ:—‘किसी को कर्म द्वारा, प्रजा द्वारा, या धन द्वारा, मुक्ति नहीं उई, किन्तु त्यागद्वारा कई एक को मुक्ति प्राप्त हुई है ॥

अस्मिंश्चत्यागे स्त्रियोऽप्यधिक्रियन्ते ।

भिक्षुकी त्यागेन स्त्रीणामपि प्राग्विवाहाद्वा वैधव्यादूर्ध्वं सन्न्यासेऽधिकारोऽस्तीति दर्शितम् । तेन भिक्षाचर्यं, मोक्षशास्त्रश्रवणं,

१ यहां से चतुर्थपादे यहां तक ग्रन्थ प्रक्षिप्त है क्योंकि चतुर्धरीटीका कार श्रीविद्यारण्यके पश्चात् हुये हैं सुतरां चतुर्धरी के वाक्यका ग्रहण यहां पर विद्यारण्य नहीं कर सकते ।

एकान्त आत्मध्यानं च ताभिः कर्तव्यं, त्रिदण्डादिकं च धार्यम्, इति मोक्षधर्मे चतुर्धरीटीकायां सुलभाजनकसंवादः । शारीरकभाष्ये वाचक्रवीत्यादि श्रूयते । देवताधिकरणन्यायेन विधुरस्याधिकारप्रसङ्गेन तृतीयाध्याये चतुर्थपादे ।

अत एव मैत्रेयीवाक्यमाप्नायते ॥

अर्थ:—इस काम्य कर्म के त्यागरूप सन्न्यास में स्त्रियों कोभी अधिकार प्राप्त है । कारण यह है कि श्रुतिमें ‘भिक्षुकी’ इस पदके द्वारा विवाहके पूर्व या विधवा होने के बाद स्त्रियों को भी सन्न्यास में अधिकार है ऐसा श्रुतिद्वारा दिखलाया गया है । अत एव उसे भिक्षाटन मोक्षशास्त्र का श्रवण, और एकान्त स्थान में आत्मध्यान करना और त्रिदण्डादि सन्न्यासाश्रमके चिन्ह धारण करना चाहिये यह वार्ता मोक्षधर्मान्तर्गत सुलभाजनक के संवाद में चतुर्धरीटीकामें स्पष्ट है । और शारीरक भाष्य में ( शा० अ० ३ पा ४० सू० ३६ से ३८ तक ) वाचक्रवी आदि ब्रह्म वादिनी भिक्षुकी स्त्रियों का श्रवण देवताधिकरण में स्त्रीरहित पुरुष को विद्यामें अधिकारके प्रसङ्ग में है । इसलिये इस प्रमाण में मैत्रेयी ब्राह्मणका वाक्य वहां दृष्टान्तरूपसे दिया है ।

“ येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां

यदेव भगवन् वेत्थ तदेव मे ब्रूहि ” । इति ॥

अर्थ:—जिस के द्वारा मुझे मुक्ति न होगी, उस धन को मैं ( लेकर ) क्या करूंगी ? अत एव हे भगवन् ? आप जानते



हो उसी को मुझे कहो ।

ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थानां केन चित्रिमित्ते-  
न सन्न्यासाश्रमस्वीकारे प्रतिबद्धे सति  
स्वाश्रमधर्मेऽनुष्ठीयमानेष्वपि वेदनार्थो मा-  
नसः कर्मादित्यागो न विरुध्यते । श्रुतिस्मृ-  
तीतिहासपुराणेषु लोके च तादृशां तत्त्वविदां  
बहूनामुपलम्भात् । यस्तु दण्डधारणादिरूपो  
वेदनहेतुः परमहंसाश्रमः स पूर्वैराचार्यै  
बहुधा प्रपञ्चित इत्यस्माभिरुपरम्यते ॥

॥ इति विविदिषासन्न्यासः ॥

अर्थः—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, इन आश्रमियों को  
किसी निमित्त से सन्न्यासाश्रम स्वीकार करने में बलवान् रूका-  
वट होतो, अपने २ आश्रमोचित धर्मों को पालन करते हुए भी मानस  
सन्न्यास का सेवन कर तत्त्वज्ञान प्राप्त करे । इस में कोई विरोध  
नहीं । इस अंश में वेद, स्मृति, इतिहास, पुराण, और लोक  
में ऐसे तत्त्वज्ञानियों के दृष्टान्त बहुत पाये जाते हैं । दण्डधारणा-  
दिचिन्हविशिष्ट ज्ञान का साधनरूप जो विविदिषां सन्न्यास  
है, उस की विवेचना पूर्वाचार्यों ने अनेक प्रकार से कियी है  
अत एव इस विषय में हम उपराम करते हैं ।

इसभांति विविदिषा सन्न्यास का संक्षेपसे निरूपण समाप्त हुआ ॥

अथ विद्वत्सन्न्यासं निरूपयामः । सम्यगनु-  
ष्ठितैः श्रवणमनननिदिध्यासनैः परतत्त्वं वि-

दितवद्भूमिः सम्पाद्यमानो विद्वत्सन्न्यासः ।  
तं च याज्ञवल्क्यः सम्पादयामास । तथा हि-  
विद्वच्छिरोमणिर्भगवान् याज्ञवल्क्यो वि-  
जिगीषुकथायां बहुविधेन तत्त्वनिरूपणेना-  
ऽऽश्वलप्रभृतीन् विप्रान् प्रविजित्य वीतरा-  
गकथायां संक्षेपविस्तराभ्यामनेकधा जनकं  
बोधयित्वा मैत्रेयीं बुबोधयिषुस्तस्यास्त्वरया  
तत्त्वाभिमुखयाय स्वकर्तव्यं सन्न्यासं प्रति-  
जज्ञे । ततस्तां बोधयित्वा सन्न्यासं चकार  
तदुभयं मैत्रेयीब्राह्मणस्याऽऽद्यन्तयोराज्ञा-  
यते ।

अर्थः—अब हम विद्वत्सन्न्यास का निरूपण करते हैं यथा-  
विधि श्रवण, मनन निदिध्यासन का अनुष्ठान कर जिसने  
तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया है ऐसा पुरुष विद्वत्सन्न्यास धा-  
रण करे । इस सन्न्यास को भगवान् योगिवर श्रीयाज्ञवल्क्य मुनि  
ने सम्पादन किया था । विद्वानों के मुकुटमणि भगवान्  
श्रीयाज्ञवल्क्य विजिगीषुकथा में बहुत प्रकार से तत्त्वनिरूपण  
द्वारा आश्वल आदिक ब्राह्मणों को जीता था और वीतराग  
कथा में राजा जनक को संक्षेप और विस्तार से बोध कराया  
उस के बाद अपनी स्त्री मैत्रेयी जो अधिकारी के लक्षणों से स-  
म्पन्न थी, उसे उपदेश देने की इच्छा से उस को शीघ्र तत्त्वा-  
भिमुख करने के लिये स्वयं “ हे स्त्री ! अब मुझे सन्न्यास आश्र-  
म धारण करना है ” ऐसी प्रतिज्ञा कियी । अनन्तर उस को त-  
त्त्वाभिमुखकरानेवाले प्रश्नोत्तर द्वारा श्री याज्ञवल्क्यमुनि ने बोध  
कराया और स्वयं सन्न्यास ग्रहण किया । ये दोनों बातें मै-



१२२  
 के लिये काल के आदि और अन्त में स्पष्ट है, वह यह है:—  
 के लिये काल के आदि और अन्त में स्पष्ट है, वह यह है:—

नम इ याशवत्स्योऽन्यदुत्तमुपाकरिष्यन्  
मैत्रेयीति शेषाच्च याशवत्स्यः प्रव्रजिष्य-  
न्वा अरे ऽहमस्मात्स्थानादस्मि" इति ।

अर्थ: - गुह्याश्रम से अन्य संन्यासाश्रमधारण करने की इच्छा से मैत्रेयी ( अपनी स्त्री ) से याज्ञवल्क्य मुनि ने कहा कि मैं इस गुह्याश्रम का त्याग कर संन्यासाश्रम को ग्रहण करने की इच्छा करता हूँ ॥

“ एतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञ-  
वल्क्यो विजहार ” इति च ।

अर्थ:—“ यही मोक्षका साधन है ” इतना कह श्रीयाज्ञवल्क्य ने सन्यास ग्रहण किया । ये उपरोक्त दोनों वाक्य क्रम से मैत्रेयीब्राह्मण के आदि और अन्त में पठित हैं ।

कहोलब्राह्मणेऽपि विद्वत्सन्त्यास आम्नायते  
 " एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रै-  
 पणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च  
 व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति " इति ।

अर्थ:—कहोलब्राह्मण में भी विद्वत्संन्यास का वर्णन है । इस प्रकार से प्रसिद्ध उस आत्मा का साक्षात्कार कर ब्रह्म-वित् पुरुष पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से अलग हो, भित्ताटन करते हैं अर्थात् संन्यासाश्रम को धारण करते हैं ॥

न चैतद्वाक्यं विविदिषासंन्यासपरमिति  
शङ्कनीयम् । पूर्वकालवाचिनो विदित्वेति त्का-  
प्रत्ययस्य ब्रह्मविद्याचिनो ब्राह्मणशब्दस्य च

बाधप्रसङ्गात् । न चात्र ब्राह्मणशब्दो जाति-  
याचकः । वाक्यशेषे पाण्डित्यबाल्यमौनश-  
ब्दाभिधेयैः श्रवणमनननिदिध्यासनैः साध्यं  
ब्रह्मसाक्षात्कारमभिप्रेत्याथ ब्राह्मण इत्यभि-  
हितत्वात् ।

अर्थ:—यह वाक्य विविदिषा सन्न्यास का प्रतिपादन करने वाला है ऐसी शङ्का न करनी चाहिये । क्योंकि 'विदि-त्वा' इस पद में स्थित भूत काल में 'त्का' प्रत्यय और ब्रह्म-वेत्ता का वाचक "ब्राह्मण" शब्द का बाध होता है । इस वाक्य में ब्राह्मणशब्द, ब्राह्मणजाति का वाचक नहीं, क्योंकि उक्त वाक्य के शेष भागमें, पाण्डित्य, बाल्य और मौन इन संज्ञाओं से यथा क्रम से कथन करनेपर, श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा साध्य ब्रह्मसाक्षात्कार के अभिप्राय से ही "अथ ब्राह्मणः" ऐसा कथन किया है ।

ननु तत्र विविदिषासंन्यासोपेतः पाण्डित्या-  
दौ प्रवर्त्तमानोऽपि ब्राह्मणशब्देन परामृष्टः ।  
“तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन  
तिष्ठासेदिति चेम् । मैवम् । भाविनीं वृत्तिमा-  
श्रित्य तत्र ब्राह्मणशब्दस्य प्रयुक्तत्वात् । अ-  
न्यथा कथमथ ब्राह्मण इति साधनानुष्ठानोत्त-  
रकालवाचिनमथशब्दम्प्रयुञ्जीत । शारीरब्रा-  
ह्मणेऽपि विद्वत्संन्यासविविदिषासंन्यासौ  
स्पष्टं निर्दिष्टौ ।

अर्थ:—शङ्का:—उस स्थल में 'तस्माद्वा०' ( इस कारण



आश्रय ग्रहण को विधिपूर्वक कर मनन में स्थित रहे ) इस वाक्य में अथवा आदि में प्रसङ्ग होने से विविदिषासंन्यासना-  
म पुरुषका भी ग्रहण किया है । ?

उत्तर:—अभिष्यन्त में ब्रह्मावत्त्व की प्राप्ति करनेवाला इस अर्थ का आश्रय कर पूर्वोक्त वाक्य में ब्राह्मण शब्द का प्रयोग किया है । जो वैसा न होता, तो श्रुति 'अथ ब्राह्मणः' इस वाक्य में अथवादिक साधनोत्तर काल वाचक अथ शब्द का उच्चारण क्यों करती ! नहीं करती । शारीर ब्राह्मण में भी विविदिषा संन्यास का स्पष्ट निर्देश है ।

" एतमेव विदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव प्रवा-  
जिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति " इति ।  
मुनित्वं मननशीलत्वं तच्चाऽसति कर्त्तव्यान्तरे  
सम्भवतीत्यर्थात्संन्यास एवाभिधीयते । ए-  
तच्च वाक्यशेषे स्पष्टीकृतम् ।

अर्थ:—इस आत्माको ही जानकर मुनि होता है । इस संन्यासी के लोक की ( आत्मा को ही ) इच्छा कर पुरुष संन्यास ग्रहण करते हैं । इस वाक्य में 'मुनि' शब्द का अर्थ मननशील इस प्रकार होता है परन्तु मननशीलत्व जब तक कर्त्तव्य शेष होता तब तक नहीं हो सकता अर्थात् उस से संन्यास हो चुकित होता है यह वार्त्ता ऊपर के वाक्य के अन्तिम भाग में स्पष्ट किया है ।

" एतस्मै वै तन्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न प्राप्नु-  
यन्ते किं प्रजया कारिष्यामो जगं लोकमाप्नु-  
यामः " इति । ते ह स्म पुत्रौपणायाश्च

विज्ञैपणायाश्च लोकैपणायाश्च व्युत्थायाश्च  
भिक्षाचर्यं चरन्ति " इति । अयं लोक इत्य-  
परोक्षेणानुभूयत इत्यर्थः ।

अर्थ:—यह वही है— जिस को जान कर पूर्व समय के विद्वानों ने प्रजा की इच्छा न की थी । ( कारण यह है कि उनको धारणा थी कि ) जिनको यह स्वयं प्रकाश आत्मस्वरूप प्राप्त हुआ है, वे हम प्रजाको क्या करेंगे ! ऐसा समझ कर उन विद्वानों ने पुत्र की इच्छा धनकी इच्छा और लोक की तृष्णा को छोड़ दिया और भिक्षावृत्ति ( संन्यासाश्रम ) का आश्रय लिया था अर्थात् संन्यास ग्रहण किया था । इस श्रुति में अयं लोकः का अर्थ जिस का साक्षात् अनुभव हुआ है ऐसा यह आत्मा ऐसा होता है ।

नन्वत्र मुनित्वेन फलेन प्रलोभ्य विविदिषा-  
संन्यासं विनाय वाक्यशेषे स एव प्रपञ्चितः ।  
अतो न संन्यासान्तरं कल्पनीयम् । सैवम् ।  
वेदनस्यैव विविदिषासंन्यासफलत्वात् । न  
च वेदनमुनित्वयोरेकत्वं शङ्कनीयम् । " वि-  
दित्वा मुनिर्भवतीति " पूर्वोत्तरकालीनयो-  
स्तयोः साध्यसाधनभावप्रतीतिः । ननु वेद-  
नस्यैव परिपाकानिशापरूपमवस्थान्तरं मुने-  
त्यम् । अतो वेदनद्वारा पूर्वसंन्यासस्यैव त-  
त्फलमिति चेत् । कावम् । अत एव साधन-  
रूपासंन्यासादर्थं फलरूपमेव संन्यास-  
इत्यम् । अतो विविदिषासंन्यासाज्ज्ञाता तत्फलम-



नाम श्रवणादीनि सम्पादनीयानि, तथा वि-  
विविधसंन्यासिनाऽपि जीवन्मुक्तये मनोनाशवा-  
सनाच्चर्या सम्पादनीया । एतच्चोपरिष्ठात्प्र-  
पञ्चगिन्यामः ।

अर्थः—शङ्काः—(एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति) इमं श्रुति  
में मुनित्व की प्राप्तिरूप फल का लोभ बताकर, उस फल के  
निमित्त विविदिपासंन्यास का विधान कर 'एतद्ध स्म वै०' इ-  
त्यादि वाक्यशेष द्वारा विविदिपासंन्यास का ही स्पष्टीकरण कि-  
किया है इस लिये विविदिपासंन्यास से भिन्न अन्य संन्यास  
की कल्पना करनी सम्भव नहीं ।

समाधानः—'विदित्वा मुनिर्भवति' ऐसे कथन से वेदन-ज्ञान  
की साधनरूपता तथा मुनित्व की फलरूपता प्रतीत होती है ।  
अतएव विविदिपासंन्यास द्वारा प्राप्त हुए ज्ञानरूप फल मिलने  
पर विद्वत्संन्यास द्वारा मुनित्वरूप फल मिलता है । यह बात  
यथार्थ है ।

शङ्काः—ज्ञान के ही परिपाक विशेष से प्राप्त हुई एक  
प्रकार की अवस्था है, वही मुनित्व है, अतएव ज्ञान द्वारा  
पूर्वसंन्यास अर्थात् विद्वत्संन्यास का ही मुनित्व फल है विद्वत्सं-  
न्यास का फल नहीं ।

समाधानः—यह बात ठीक है । इसी लिये हम साधन रूप  
संन्यास से भिन्न फल रूप संन्यास का कथन करते हैं ।

जैसे विविदिपासंन्यासी को ज्ञान के लिये श्रवण मनन और  
विदिध्यासन सम्पादन करना चाहिये उसी प्रकार विद्वत्सं-  
न्यासी को भी जीवन्मुक्तिरूप उत्कृष्ट फल के निमित्त वासना-  
क्षय और मनोनाश सम्पादन करना चाहिये । यह बात विस्तार

पूर्वक आगे ( इसी ग्रन्थ में ) कहेंगे ।

सत्यप्यनयोः संन्यासयोरवान्तरभेदे परम-  
हंसत्वाकारेणैकीकृत्य "चतुर्विधा भिक्षवः"  
इति स्मृतिषु चतुःसंख्योक्ता । पूर्वोत्तरयोरु-  
भयोः संन्यासयोः परमहंसत्वं जावालश्रुता-  
ववगम्यते ।

अर्थः—शङ्काः—जो विद्वत्संन्यास नाम का एक अलग सं-  
न्यास होता तो, स्मृति में कुटीचक, बहूदक, हंस, एवं परमहंस  
इन चार प्रकार के भिक्षुओं के गिनने के बदले पांचप्रकारके  
गिनते ? उत्तर— यद्यपि विविदिपा संन्यास और  
विद्वत्संन्यास में परस्पर अवान्तर विलक्षणता हैं । तथापि  
परमहंस में दोनों का समावेश कर स्मृतियों में भिक्षुओं की ४  
ही संख्या रक्खी है । दोनों संन्यासों का परमहंस होना जावाल  
उपनिषद् की श्रुति से ही जाना जाता है ।

तत्र हि जनकेन संन्यासे पृष्ठे सति याज्ञव-  
ल्क्योऽधिकाराविशेषविधानेनोत्तरकालानुष्ठे-  
येन च सहितं विविदिपासंन्यासमाभिधाय  
पश्चादत्रिणा यज्ञोपवीतरहितस्याऽऽक्षिप्ते ब्रा-  
ह्मण्ये सति पश्चादात्मज्ञानमेव यज्ञोपवीत-  
मिति समादधौ । अतो बाह्योपवीताभावात्  
परमहंसत्वं निश्चीयते । तथाऽन्यस्यां कण्डि-  
कायां परमहंसो नामेत्युपक्रम्य सम्बर्तकादीन्  
बहून्ब्रह्मविदो जीवन्मुक्तानुदाहृत्य "अव्य-  
क्तलिङ्गा अव्यक्ताचारा अनुन्मत्ता उन्मत्तव-



दाचरन्तः" इति विद्वत्संन्यासिनो दर्शिताः ।

अर्थः—

जबकि उपनिषद् में जनक राजा का संन्यासमन्व-  
नी प्रश्न करने पर श्री याज्ञवल्क्य मुनि ने संन्यासाश्रम के  
अधिकार का विधान कर उत्तर काल में साधने योग्य कर्त्तव्य  
महित विविदिषा संन्यास का कथन किया, इस को सुन भग-  
वान् भविष्युनि बोले कि 'यज्ञोपवीत के त्याग करने से ब्राह्मण-  
त्व नष्ट होगा और ऐसा करने पर उपनिषद् के विचार में अधि-  
कार भी नहीं रहता' । इस के उत्तर में 'आत्मज्ञान ही उन को  
( संन्यासियों के ) यज्ञोपवीत है' यों श्रीमहामुनि योगिवर्य ने  
तत्प्राधान्य किया अत एव याज्ञ उपवीत के अभाव से विविदिषा-  
संन्यासियों का परमहंस होना निश्चित होता है । उसी प्रकार  
इसी उपनिषद् की अन्यकण्डिका में 'परमहंस नाम' से लेकर  
गङ्गातीरादि के जोड़ प्रमाणित जीवनमुक्त पुरुषों का नाम देकर  
"ये सव जिन का आश्रमादि ज्ञापक चिह्न कोई दीखता नहीं,  
जिन मुक्त न जाग जाते, उन्मत्त न हो परन्तु उन्मत्त का सा व्यवहार क-  
रनेवाले हैं, इस प्रकार कह कर, उसी तरह विद्वत्संन्यास को  
दिखलाया है ।

"त्रिदण्डं कम्पण्डलं शिखरं पात्रं जलपावित्रं  
शिखां यज्ञोपवीतं च येनैतत् सर्वं भूः स्वाहा-  
व्यक्तुः परित्यज्याऽऽन्मानसन्निवर्त्तयेत्" इति

अर्थः—त्रिदण्ड, कम्पण्डल, शीका, जलपावित्र, शिखा और  
यज्ञोपवीत इन सब को "भूः स्वाहा" पढ़ कर जल में छोड़ देना  
और आन्मसंशोधन करे ।

त्रिदण्डिनः सन् एकदण्डकृतस्य विविदिषा  
संन्यासं विधाय तत्फलरूपं विद्वत्संन्यासस्य  
बभूवुदाजहार ।

अर्थः—इस वाक्य द्वारा त्रिदण्डी संन्यासी के लिये एक  
दण्ड का धारणरूप विविदिषासंन्यास का विधान कर उसके  
फलरूपी विद्वत्संन्यास का ही उदाहरण दिया है ।

"यथाजातरूपधरो निर्देन्दो निष्परिग्रहस्तत्र  
ब्रह्ममार्गे सम्यक् सम्पन्नः शुद्धमानसः प्राण-  
सन्धारणार्थं यथोक्तकाले विमुक्तो वैश्यमा-  
चरन्नुदरपात्रेण लाभालाभौ समौ कृत्वा  
संन्यासात् देवतागुरुभूयःकृत्यन्मसीदद्वन्द्व-  
कुन्दादजात्याग्रिहीत्रनदीपुच्छिनगिरिगुह्य-  
कन्दरकोटरनिर्धर्मव्यापटलेमरानिकेतनशाल्यम-  
यज्ञोन्मिलनः शुक्लव्याजपराधयोऽप्यन्तर्यामिणः  
शुक्लाशुभकर्मनिर्घटनपरः संन्यासेन ह्यमरा-  
मं करोति स एव हंसो नाम" इति ।

अर्थः—जैसा पैदा हुआ उसी प्रकार अर्थात् नंगा, सुसुदुः-  
खी, अन्ध के समान ही रहने, अप्रसन्नचित्त, अज्ञानी के समान ही रहना  
जानकर शुद्धपराध्याया योग्यात्म्य योग्य समय में अमर में जा-  
कर उदरपात्र द्वारा भिक्षा करता हुआ भिक्षा मिले या न मिले  
इस में समता रखने वाला, शून्य घर में, देवमन्दिर में, फूल के  
टाल में, दीपक की आड़ में, वृक्षों की आड़ में, कुम्हार के  
आवा में, अग्निहोत्रमृद में, नदी के तट पर, पर्वत की कन्दरा  
में, वृक्ष के खोड में, झरना के पास, यज्ञस्थानिक ( यज्ञागार ) का



वेदी) पर, या जहां कोई न रहता हो वहां प्रयत्नरहित शुद्ध परमात्मा के ध्यान में तत्पर, आत्मनिष्ठावाला, शुभाशुभ कर्म के उच्छेद करने में तत्पर पुरुष संन्यास द्वारा शरीर को त्याग करता, उसी को परमहंस जानना” ।

तस्मादनयोः भयोः परमहंसत्वं सिद्धम् । समानेऽपि परमहंसत्वे सिद्धे विरुद्धधर्माक्रान्तत्वादवान्तरभेदोऽप्यभ्युपगन्तव्यः । विरुद्धधर्मत्वं चाऽऽरुण्युपनिषत्परमहंसोपनिषदोः पर्यालोचनायामवगम्यते । “केन भगवन् कर्माण्यशेषतो विसृजानीति” शिष्यायज्ञोपवीतस्वाध्यायगायत्रीजपाद्यशेषकर्मत्यागरूपे विविदिषासंन्यासे शिष्येणाऽऽरुणिना पृष्ठे सति गुरुः प्रजापतिः “शिष्यां यज्ञोपवीतम्” इत्यादिना सर्वत्यागमभिधाय “दण्डमाच्छादनं कौपीनं च परिग्रहेत्” इति दण्डादिस्वीकारं विधाय “त्रिसंध्यादौ स्नानमाचरेत् । सन्धि समाधावात्मन्याचरेत्सर्वं पुर्वदेव्यारण्यमावर्तयेत् । उपनिषदमावर्तयेत्” इति वेदनहेतूनाश्रमधर्मानुष्ठेयतया विधत्ते ।

अर्थः—इस लिये इन दोनों आश्रमों का परमहंस होना सिद्ध है । परमहंसत्वरूप धर्मद्वारा दोनों समान होने पर भी उन में परस्पर अन्य विरुद्धधर्म होने से उन में अवान्तर भेद स्वीकार करना अवश्य चाहिये । इस के विरुद्ध धर्म का ज्ञान आरुणि उपनिषद् और परमहंसोपनिषद् की आलोचना से होता है ।

आरुणि उपनिषद् में इस भाति है: —“केन भगवन् ०”—हे भगवन् ? किस प्रकार मैं सब कर्मों का त्याग करूं ? इस प्रकार आरुणि शिष्य के स्वाध्याय गायत्री जपादिक सब कर्मों का त्यागरूप विविदिषा संन्यास विषयक प्रश्न करने पर गुरु प्रजापति ने “शिष्यां यज्ञोपवीतं” इत्यादि पूर्वोक्तवचनद्वारा सब का त्याग कहा और ‘दण्डमाच्छादनं कौपीनं’—दण्ड, आच्छादन, और कौपीन को ग्रहण करे इस प्रकार दण्डादि ग्रहण करने का विधान किया एवं ‘त्रिसंध्यादौ’ इत्यादि प्रातः, मध्याह्न, सायंकाल में स्नान करें सन्धिकाल में, आत्मा का अनुसन्धान करें, सब वेदों में, आरण्यक और उपनिषद् का आवर्तन करे । इस रीति से ज्ञान का हेतुरूप आश्रम धर्मों का कर्तव्यरूप से विधान किया है ।

अथ योगिनां परमहंसानां कोऽयं मार्ग इति विद्वत्संन्यासे नारदेन पृष्ठे सति गुरुर्भगवान् प्रजापतिः स्वपुत्रमित्रेत्यादिना पूर्ववत् सर्वत्यागमभिधाय “कौपीनं दण्डमाच्छादनं च स्वशरीरोपभोगार्थाय च लोकस्योपकारार्थाय च परिग्रहे” इति दण्डादिस्वीकारस्य लौकिकत्वमभिधाय तच्च न मुख्योऽस्तीति शास्त्रीयत्वं प्रतिषिध्य कोऽयं मुख्य इति चेदयं मुख्यो “न दण्डं न शिष्यां न यज्ञोपवीतं न आच्छादऽऽदनं चरति परमहंस” इति दण्डादिलिङ्गराहित्यस्य शास्त्रीयतामुक्त्वा “न शीतं न शोष्णं” इत्यादिवाच्येना “ऽऽशाभरो विनैमस्कार” इत्यादिवाक्येन च लोकव्यवहाराती



तत्त्वमभिधायान्ते “यत्पूर्णानन्दैकबोधस्तद्व्य-  
व्याहमस्मीति कृतकृत्योभवतीत्यन्तेन ग्रन्थेन  
ब्रह्मानुभवमात्रपर्यवसानमाचष्टे । अतो वि-  
द्वन्मार्गोपनिषत्वादस्त्येवानयोर्महान् भेदः । स्मृ-  
तिव्यप्ययं भेद उक्त इति द्रष्टव्यम् ।

अर्थः—जायालोपनिषद् में विद्वत्संन्यास के लिये इस भांति  
वर्णन है । “परमहंस योगी का कौन सा मार्ग है ?” इस प्रकार  
भगवान् नारद के विद्वत्संन्यास सम्बन्धी प्रश्न करने पर गुरु-  
प्रजापति ने ‘स्वपुत्रमित्र’० आदि वक्ष्यमाण वाक्यद्वारा पूर्ववत्  
सर्व का त्याग कह कर ‘कौपीनं दण्डमाच्छादनं’०—कौपीन, दण्ड,  
और आच्छादन को अपने शरीर निर्वाह के लिये और लोगों के  
कल्याण के लिये ग्रहण करे इस वाक्यद्वारा दण्डादि को धारण  
करे यह कोई शास्त्रीय मुख्य कर्तव्य नहीं किन्तु लौकिकव्यवहार  
है ऐसा बतलाया । इस पर फिर नारदजी ने पूछा कि विद्वत्संन्यास  
का मुख्य धर्म क्या है ? इस के उत्तर में प्रजापति ने यह वचन  
कहा ( “न दण्डं० इत्यादि ) कि परमहंस दण्ड, शिखा, यज्ञोप-  
वीत, कौपीन, आच्छादनादि धारण नहीं करता, इस रीति से  
दण्डादि चिन्ह का अभाव शास्त्रोक्त है, ऐसा कहकर ( न  
शीतं न चोष्णं० इत्यादि ) उस को शीत, उष्णादि द्वंद्व धर्म, बाधा  
नहीं करना, वह दिशारूपी वस्त्र, धारण करता वह किसी की  
स्तुति नमस्कारादि नहीं करता’ इत्यादि वचनों द्वारा उस की  
लोकों से विलक्षणता जनाकर अन्त में ( ‘यत्पूर्णं० ) जो, पूर्ण,  
आनन्दवत्, और बोधरूप है, वह ब्रह्म मैं हूं ऐसे ज्ञान द्वारा कृत  
होता है । इस अन्तिम जीवन्मुक्त योगी का पर्यवसान केवल  
ब्रह्मानुभव में ही पृथोक्त उपनिषद् ने जगलाया है, अतएव नि-

विदिषा संन्यास और विद्वत्संन्यास में परस्पर विरुद्ध धर्म होने  
से उन में अवान्तर विलक्षणता है । स्मृतियों में भी यह भेद  
दिखलाया है, वह देखने योग्य है ।

“संसारमेव निःसारं दृष्ट्वा सारदिदृक्षया ।  
प्रव्रजन्त्यकृतोद्वाहाः परं वैराग्यमाश्रिताः ॥  
प्रवृत्तिलक्षणो योगो ज्ञानं संन्यासलक्षणम् ।  
तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान्” ॥  
इत्यादि विविदिषासंन्यासः ।

अर्थः—इस प्रकार से संसार को साररहित अनुभव कर  
सारवस्तु ( परमात्मा ) के दर्शन की इच्छा से गृहस्थाश्रम में  
प्रवेश करने के पहिले ही परम वैराग्यवान् अधिकारी पुरुष  
संन्यास ग्रहण करता है ॥ कर्मयोग प्रवृत्तिरूप है, और ज्ञान का  
साधन संन्यास है । अतएव ज्ञान ही को प्रधानता समझ उसी  
को सम्पादन करने के निमित्त बुद्धिमान् पुरुष इस जगत् में  
संन्यास ग्रहण करे यह वाक्य विविदिषा संन्यास का बोधक है ।

“यदा तु विदितं तत्त्वं परं ब्रह्म सनातनम् ।  
तदैकदण्डं संगृह्य सोपवीतं शिखां त्यजेत् ॥  
ज्ञात्वा सम्यक् परं ब्रह्म सर्वं त्यक्त्वा परिव्र-  
जेत् । इत्यादिविद्वत्संन्यासः ।

अर्थः—जब सनातन परब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता,  
तब एक दण्ड को धारण कर, उपवीतसहित शिखा का त्याग  
करे और अच्छे प्रकार परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने पर, सब का  
त्याग कर परिव्राजक होवे । यह वाक्य विद्वत्संन्यास का प्रति-  
पादक है ।



ननु कलाविद्यास्विव कदाचिदौत्सुक्यमात्रे-  
णापि वेदितुमिच्छा सम्भवत्येव विद्वत्ताऽ-  
प्यापातदर्शिनः पण्डितम्मन्यमानस्याप्यवलोक्यते, नच तौ प्रयजन्तौ दृष्टौ । अतो विवि-  
दिषाविद्वत्ते कीदृशे विवक्षिते इति चेत् ।  
उच्यते । यथा तीव्रायां बुभुक्षायामुत्पन्नायां  
भोजनादन्यो व्यापारो न रोचते, भोजने च  
विलम्बो न सोढुं शक्यते । तथा जन्महेतुषु  
कर्मस्वत्यन्तमरुचिर्वेदनसाधनेषु च श्रवणा-  
दिषु त्वरा महती सम्पद्यते तादृशी विवि-  
दिषा संन्यासहेतुः । विद्वत्ताया अवधिरूपदे-  
शसाहस्यमभिहितः ।

अर्थः—शङ्काः—जैसे लोक कलारूपविद्याओं में कौतुक से  
प्रवृत्त होते हैं उसी प्रकार अध्यात्मशास्त्र में भी कितने एक को  
कौतुक से प्रवृत्ति करने की इच्छा होनी सम्भव है । उसी प्रकार  
अपण्डित होकर आपको पण्डित मानने वाला ब्रह्म के सामा-  
न्य ज्ञानवाले में भी विद्वत्ता देखी जाती है । अतएव विविदिषा  
और विद्वत्ता पूर्वोक्त दोनों संन्यासों में कैसी अपेक्षित है ? स-  
माधानः—अत्यन्त भूख लगे पुरुष को जैसे भूख के समय भोज-  
न के सिवाय अन्य किसी काम में मन नहीं लगता तैसे भोजन  
में विलम्ब भी नहीं सह सकता, उसी प्रकार जन्म देनेवाले क-  
र्मों में अत्यन्त अरुचि और ज्ञान के साधन श्रवणादि में अत्यन्त  
शीघ्रता होती है इससे उसी समय विविदिषासंन्यास ग्रहण करे ।  
विद्वत्संन्यास की अवधि भगवान् शङ्कराचार्य जीने उपदेशसाह-  
स्री ( ग्रन्थ ) में दिखलाया है ।

“ देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम् ।  
आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते ” इति ।  
श्रुतावपि ।

अर्थः—जैसे अज्ञानी को देहात्मज्ञान होता है, वैसा ही देहा-  
त्मज्ञान को बाध करने वाला ज्ञान जिस को स्वरूपमें ही होता वह  
पुरुष यदि मुक्ति की इच्छा न करे तथापि वह मुक्त होता है ।

श्रुति भी कहती है कि—

“ भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।  
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ”  
इति । परमपि हिरण्यगर्भादिकं पदमवरं  
यस्मादसौ परावरः, हृदये बुद्धौ साक्षिण-  
स्तादात्म्याध्यासोऽनाद्यविद्यानिर्मितत्वेन ग्र-  
न्थिवद्दृढसंश्लेषरूपत्वाद्ग्रन्थिरित्युच्यते ।  
आत्मा साक्षी कर्त्ता वा, साक्षित्वेऽप्यस्य  
ब्रह्मत्वमस्ति वा न वा, ब्रह्मत्वेऽपि तद्बुद्ध्या  
वेदितुं शक्यं न वा, शक्यत्वेऽपि तद्वेदन-  
मात्रेण मुक्तिरस्ति न वा, इत्यादयः संशयाः,  
कर्माण्यनारब्धान्यागामिजन्मकारणानि, त-  
देतद्ग्रन्थ्यादित्रयमविद्यानिर्मितत्वादात्मद-  
र्शनेन निवर्तते । स्मृतावप्ययमर्थ उपलभ्यते ।

अर्थः—पर अर्थात् हिरण्यगर्भादि पद जिस से निवृत्त  
कोटि को भोगता है, उस परमात्मा का साक्षात्कार होने पर  
इस अधिकारी पुरुष की अनादि आदि आदि सचित बुद्धि में मात्मी  
का तादात्म्याध्यास, अत्यन्त दृढतावाला होने से हृदय की  
ग्रन्थि मंश को भोगता है, यो गां मुख ( मुख ) बांधी है ।



यह आत्मा मासी है ? या कर्ता है ? वह सब का साक्षी होने, तो भी वह कदाचित् ब्रह्म है या कैसा ? कदाचित् वह ब्रह्मरूप मात्र तो भी ब्रह्मरूप जाना जा सकता था नहीं ? कदाचित् जाना जा सकता था तो भी उसकी केवल ज्ञान द्वारा मुक्ति की प्राप्ति सम्भव है या नहीं ? इत्यादिमें शय और प्रारब्ध कर्म का लोड कर जीवन्मुक्ति का हेतुगत कर्म, यह सब आरिष्या का कार्य होने से आत्मदर्शन में नष्ट हो जाते हैं । श्रीमद्भगवद्गीता में भी यही अर्थ प्रतीत होता है ।

“यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिरस्य न लिप्यते।  
सत्त्वाऽपि स इमांल्लोकान् हन्ति न विषध्य-  
ते” । इति ।

ब्रह्मविदो भावः सत्ता स्वभाव आत्मा  
नाहंकृतोऽहंकारेण तादात्म्याध्यासादन्तर्नि-  
ऽऽच्छादितः । बुद्धिलेपः संशयः । तदभावे  
त्रैलोक्यवधेनापि न विषध्यते किमुतान्येन  
कर्मणेत्यर्थः ।

अर्थ—जिस ब्रह्मवित् पुरुष का सत्तास्वभाव आत्मा, अह-  
ङ्कार द्वारा अन्तर में तादात्म्याध्यास में आच्छादित नहीं, और  
जिस की बुद्धि संशयरूप लेप रहित—(निर्लेप) है । वह पुरुष  
इस लोक को अर्थात् तीनों लोकों का हनन कर भी नहीं  
हनन करता ! और बन्धन को भी प्राप्त नहीं होता है ।

नन्वेवं सति विविदिषामन्यामफलं तत्त्व-  
ज्ञानेनैवाऽऽर्गामिजन्मनां चारितत्वाहृत्ति-  
मानजन्मशेषस्य भोगमन्तरेण विनाशयितु-  
मशक्यत्वात् किमनेन विद्वत्संन्यासप्रयासे-

नेति चेत् । सैवम् । विद्वत्संन्यासस्य जीव-  
न्मुक्तिहेतुत्वात्, तस्माद्विदनाय यथा विवि-  
दिषामन्यास एवं जीवन्मुक्तये विद्वत्संन्या-  
सः सम्पादनीयः ।

॥ इति विद्वत्संन्यासः ॥

अर्थः—शंकाः—यदि ऐसा है तो, विविदिषा संन्यास के  
फलरूप तत्त्वज्ञानद्वारा ही आगामी ( भविष्यत् में होनेवाले जन्म  
का वारण ( रोक ) हो सकता है, और वर्तमान जन्म के अन-  
शिष्ट कर्मों का भोग किये बिना नाश हो नहीं सकता, तब इस-  
विद्वत्संन्यास के निमित्त परिश्रम किस लिये किया जावे ?

समाधानः—विद्वत्संन्यास जीवन्मुक्तिरूप बड़े फल के वाप्ये  
है । जैसे ज्ञान प्राप्ति के लिये विविदिषामन्यास का ग्रहण करना  
आवश्यक है, उसी प्रकार जीवन्मुक्ति के लिये विद्वत्संन्यास का  
सम्पादन करना योग्य है ।

इस प्रकार विद्वत्संन्यास का निरूपण समाप्त हुआ ।

अथ केयं जीवन्मुक्तिः, किंवा तत्र प्रमाणम्,  
कथं वा तत्सिद्धिः, सिद्ध्या वा किं प्रयोजन-  
मिति चेत् ।

उच्यते । जीवनः पुरुषस्य कर्तृत्वभावतृत्वा-  
सुखदुःखादिलक्षणाश्चक्षुष्यैः क्लेशरूपत्वाद्  
बन्धो भवति, तस्य निवारणं जीवन्मुक्तिः ।

अर्थः—जीवन्मुक्ति किमर्थ की कहते ? इस में प्रमाण क्या



है किन्तु प्रसार इस की सिद्धि हो सकती ? और किस प्रयोजन में उस की सिद्धि कियी जाती ? इन ४ प्रश्नों में से प्रथम प्रश्न का उत्तर—जीवन पुरुष को कर्त्तापन, भोक्तापन, सुख, दुःखादि अन्तःकरण का धर्म केशों का उत्पादक होने में बन्धन होना है । इस केशरूप चित्त के धर्म का जो निवारण है उसे जीवन्मुक्ति कहते हैं ।

नन्वयं बन्धः किं साक्षिणो निवार्यते, किंवा चित्तात् । नाऽऽद्यः, तत्त्वज्ञानेनैव निवारित-त्वात् । न द्वितीयः, असम्भवात् । यदा तु जलाद् द्रवत्वं निवार्येत, बन्हेर्वाष्णत्वं तदा चित्तात्कर्तृत्वादिनिवारणसम्भवः, स्वाभाविकत्वं तु सर्वत्र समानम् ।

अर्थः—शङ्काः—क्या तुम इस बन्धन को साक्षी से निवारण करने हो, या चित्त से दूर करते हो ? जो कहो कि साक्षी से निवारण किया जाता तो यह बात सम्भव नहीं । क्योंकि विविदिषा मंन्याम में ही तत्त्वज्ञान द्वारा पहिले ही साक्षी से भ्रान्तिमिद्ध बन्धन का निवारण किया है । यदि ऐसा कहो कि साक्षी से नहीं, किन्तु अन्तःकरण में से बन्धन का वारण किया जाता तो, वह बात भी नहीं बन सकती । क्योंकि कर्त्तापन, भोक्तापन, सुख, दुःख, आदिक अन्तःकरण के स्वाभाविक धर्म हैं, अतएव, जो जल के द्रवत्वरूप धर्म का और अग्नि के उष्णत्वरूप धर्म का नाश किया जा सके तो अन्तःकरण में से कर्त्तापन आदिक धर्मों का वारण हो सकता । क्योंकि, स्वाभाविक धर्म का, धर्मों की स्थिति पर्यन्त नाश हो नहीं सकता । और सब ही स्वाभाविक धर्म समान होते हैं अतएव अन्तःकरणका

तो धर्म नष्ट होता है जलादिकों का नहीं, ऐसा भी नहीं कह सकते ।

मैवम् । आत्यन्तिकनिवारणसम्भवेऽप्यभि-भवस्य सम्भवात् । यथा जलगतं द्रवत्वं मृ-त्तिकामेलनेनाभिभूयते, बह्वैरोष्ण्यं मणिस-न्त्रादिना, तथा सर्वाश्चित्तवृत्तयो योगाभ्या-सेनाभिभवितुं शक्यन्ते ।

अर्थः—समाधान—स्वाभाविक धर्म का निःशेषता से नाश नहीं हो सकता, यह बात यथार्थ है, परन्तु उस का अभिभव निरोध करना अशक्य नहीं है । जैसे जल में का द्रवत्व (बहना) जल के साथ मिट्टी मिलाकर अटकाया जा सकता है, उसी प्रकार अग्नि में की उष्णता को मणि, ( चन्द्रकान्त ) मन्त्र, औषधि द्वारा रोक सकते हैं, इसी प्रकार योगाभ्यास से चित्त की सारी वृत्तियों का निरोध किया जा सकता है ।

ननु प्रारब्धं कर्म कृत्स्नाविव्यातत्कर्मनाशने प्रवृत्तस्य तत्त्वज्ञानस्य प्रतिबन्धं कृत्वा स्वफ-लदानाय देहेन्द्रियादिकमवस्थापयति । नच सुखदुःखादिभोगश्चित्तवृत्तिं विना सम्पाद-यितुं शक्यते ततः कथमभिभवः ।

अर्थः—शङ्काः—प्रारब्धकर्म, कार्यसहित सारी अविव्या का क्षय करने के लिये प्रवृत्त हुए तत्त्वज्ञान को बाध कर ( उसको होने से रोक कर ) देह, इन्द्रियादिक को जागृत रखता है, क्योंकि, चित्त की वृत्तियों के विना प्रारब्ध का फलरूप सुख दुःखादिकों का भोग हो नहीं सकता, अतएव योगाभ्यास द्वारा अन्तःकरण की वृत्तियों का अभिभव ( निरोध ) कैसे हो सकता ? मैवम् । अभिभवसाध्याया जीवन्मुक्तेरपि



सुखातिशयरूपत्वेन प्रारब्धफल एवान्तर्भा-  
वात् ।

अर्थः—समाधानः—वृत्तियों के निरोध द्वारा साधने योग्य  
जीवन्मुक्ति, इस उत्तम प्रकार के सुख होने से अन्य सुखों के  
साथ इस सुख का प्रारब्ध कर्म के फल में ही अन्तर्भाव है ।

तर्हि कर्मैव जीवन्मुक्तिं सम्पादयिष्यति मा-  
भूत् पुरुषप्रयत्न इति चेत् ।

अर्थः—शङ्का—जैसे प्रारब्ध कर्म ही प्रयास विना योग्य  
समय में अपने सुखदुःखरूप फलों का जीव को भोगवाता है,  
उसी प्रकार वह जीवन्मुक्ति सुख को योग्य समय में जीव को  
देगा फिर उस के निमित्त परिश्रम करने की क्या आवश्यकता है ?

कृषिवाणिज्यादावपि समानः पर्यनुयोगः ।  
कर्मणः स्वयमदृष्टरूपस्य दृष्टसाधनसम्पत्ति-  
मन्तरेण फलजननासमर्थत्वादपेक्षितः कृ-  
ष्यादौ पुरुषप्रयत्न इति चेज्जीवन्मुक्तावपि  
समं समाधानम् ।

अर्थः—समाधानः—यह तुम्हारा प्रश्न केवल मेरे विरुद्ध  
सम्भव नहीं परन्तु अन्न पैदा करने के लिये जो किसान खेती  
करता और धन सम्पत्ति की प्राप्ति के लिये जो व्यापारी लोग  
व्यापार करता उसके विरुद्ध भी घटता है । क्योंकि, उस को  
भी अपने प्रारब्ध कर्म ही अन्नादि की प्राप्ति करा देगा । इस  
पर प्रारब्ध वादी का उत्तरः—कर्म स्वयं अदृष्ट होने से दृष्ट  
अर्थात् प्रत्यक्ष साधन सम्पत्ति के बिना फल देने में असमर्थ है ।  
अतएव अन्नादि फल मिलने के निमित्त तो उसे कृषि आदि  
प्रत्यक्षमापत्री की आवश्यकता है, तब जीवन्मुक्ति के लिये

भी प्रयास करना निष्प्रयोजन नहीं है ।

सत्यपि पुरुषप्रयत्ने कृष्यादौ फलपर्यवसानं  
यत्र न दृश्यते तत्र प्रबलेन कर्मन्तरेण प्रति-  
बन्धः कल्पनीयः । तच्च प्रबलं कर्म स्वानुकूल-  
वृष्ट्यभावादिरूपां दृष्टसामग्रीं सम्पाद्यैव  
प्रतिबन्धाति । स च प्रतिबन्धो विरोधिना  
प्रबलतरंणोत्तम्भकेन कारीरीष्ट्यादिरूपेण  
कर्मणाऽपनीयते । तच्च कर्म स्वानुकूलां वृष्टि-  
लक्षणां दृष्टसामग्रीं सम्पाद्यैव प्रतिबन्धमप-  
नयति । किं बहुना प्रारब्धकर्मण्येवात्यन्तम्भ-  
क्तेन भवता योगाभ्यासरूपस्य पुरुषप्रयत्नस्य  
वैयर्थ्यं मनसाऽपि चिन्तयितुमशक्यम् ।

अर्थः—प्रारब्ध वादी के प्रति सिद्धान्ती कहता हैः—कर्म  
अदृष्ट होने से जीवन्मुक्ति सुख भी दृष्टसामग्री विना प्राप्त हो  
सकता, है वैसा नहीं । किसी २ समय कृषि आदिक कर्म का  
फल जब नहीं दीख पड़ता तो, तब वर्तमान पुरुषार्थ करने  
से किसी अन्य प्रबलतर कर्म द्वारा फल के प्रतिबन्ध की कल्प-  
ना करे, वह भी अधिक बलवान् प्रतिबन्धक कर्म भी दृष्ट सामग्री  
विना अन्नादि फल के प्रतिबन्ध करने में समर्थ नहीं होता,  
परन्तु अपने अनुकूल वृष्टि के अभाव रूप दृष्ट सामग्री द्वारा ही  
प्रतिबन्ध करता है । वह प्रतिबन्ध भी अपने विरोधी अतिप्रबल  
'कारीरी इष्टि' १ आदि उत्तम्भक ( प्रतिबन्धक का प्रतिबन्धक )  
कर्मद्वारा नाश को प्राप्त होता है । वह भी स्वयं ही प्रतिबन्ध को

१ पानी जब नहीं बरसता है, उस समय लोग इस यज्ञ को  
पानी बरसाने के निमित्त करते हैं । यज्ञ एक प्रकार का यज्ञविशेष है ।



निवारण कर दृष्टि आदि दृष्ट सामग्री द्वारा निवारण करना। जो काम न करे सो काम न करे : जो दोष न करे, जीवन्मुक्ति का हेतु है, वह माया उम सुख को नहीं उत्पन्न कर योग्यात्मनः पुण्यपुण्य द्वारा उत्पन्न करता है। अतएव तुम या जो प्रारब्धका अत्यन्त भक्त है, उस को योगाभ्यास रूप पुरुषार्थ की निष्फलता का मन में लेश भी विचार नहीं रखना चाहिये।

अथवा प्रारब्धं कर्म यथा तत्त्वज्ञानात्प्रवर्तं  
तथा तस्मादपि कर्मणो योगाभ्यासः प्रवर्तो-  
ऽस्तु। तथाच योगिनामुद्दालकवीनहव्यादीनां  
स्वेच्छया देहत्याग उपपद्यते।

अर्थ:—अथवा तुम्हारे अभिप्रायासानुसार प्रारब्ध कर्म जैसे तत्त्वज्ञान से प्रवर्त है उसी प्रकार प्रारब्धकर्म से योगाभ्यास अधिक बलवान् है, ऐसा हम कहते हैं। इसी लिये उद्दालक, वी-  
नहव्यादिक योगी महान्माओं ने अपनी इच्छा से ही देहत्याग किया सो उचित है।

यद्यल्पायुषामस्माकं तादृशो योगो न सम्भवति-  
तदा कामादिरूपचित्तवृत्तिनिरोधमात्रे योगे  
को नाम प्रयासः। यदि शास्त्रीयस्य प्रयत्न-  
स्य प्राबल्यं नास्तीक्रियते तदा चिकित्सामा-  
रभ्य मोक्षशान्त्रपथेनानां सर्वोपमानर्थक्यं  
प्रसज्येत। नहि कदाचित् कर्मफलविसम्बा-  
दमात्रेण दीर्घकालमापादयितुं शक्यम्। अन्य-  
था कदाचित्कं पराजयं दृष्ट्वा सर्वभूषण-  
जाड्यादिसनोपेक्ष्येत। अतएवाऽऽनन्दबोधा-

चार्या आहुः।

अर्थ:—हम लोगों की आयु थोड़ी होती है अतएव जैसे उद्दालक आदिक महान्माओं ने योगाभ्यास किया था वैसे योग करने में हम लोग अपमर्थ हैं। तथापि काम आदिक चित्तवृत्तियों के निरोधरूप योगमाधन में कौन बड़ा परिश्रम है? कुछ नहीं। जो तुम शास्त्रीय पुरुषार्थ को भी प्रारब्धकर्म से अधिक बलवान् न मानोगे, तो वैद्यक शास्त्र से लेकर मोक्ष शास्त्र तक, लौकिक अलौकिक सुखों की प्राप्ति के माधनों के प्रतिपादन करने वाले सब ही शास्त्र व्यर्थ हो जावेंगे। एकवार यदि पुरुषार्थ का फल न हो तो, उस पर से सारे पुरुषार्थ के उपर दुर्बलत्वरूप दोष को आरोपित करना यह विवेकी पुरुष की दृष्टि से किसी प्रकार योग्य नहीं। जो एकवार पुरुषार्थ निष्फल हो जाने से सदैव उम की निष्फलता ही गिनी जावे तो कोई राजा शत्रु से पराजय पाने पर, पीछे उसको सैन्य आदिक सम्पूर्ण युद्ध सामग्रियों का त्याग ही कर देना चाहिये, परन्तु अब तक किसी राजा ने ऐसा नहीं किया है और या ऐसा होना सम्भव भी नहीं। इसी लिये आनन्द बोधाचार्य ने कहा है।

“न ह्यजीर्णभयादाहारपरित्यागः, भिक्षुक-  
भयाद्वा स्थाल्यनधिश्रयणं, यूकाभयाद्वा  
प्रावरणपरित्यागः” इति।

शास्त्रीयप्रयत्नस्य प्राबल्यं वसिष्ठरामसम्वादे  
विस्पष्टमवगम्यते “सर्वमेव हि सदैव” त्वारभ्य  
“तदनु तदप्यवमुच्य साधुनिष्ठे” त्यन्तेन ग्रन्थेन।

अर्थ:—अजीर्ण के भय से कोई आहार को नहीं छोड़ता, भिक्षुक के भय से कोई भोजन न पकावे, ऐसा नहीं होता है, या



तुम्हारे से कोई कपड़ा न पहने ऐसा नहीं होता । शायरीय  
पुण्य ही प्राप्त । श्रीयोगवासिष्ठ रामायण के अन्तर्गत श्री-  
वासिष्ठ और श्रीराम के सम्वाद से स्पष्ट जानी जाती है, श्रीव-  
सिष्ठजी कहते हैं: ।

“सर्वमेव हि सदा संसारे रघुनन्दन ।

सर्वप्रयत्नात् सर्वेण पौरुषात्समवाप्यते” ॥

सर्व पुत्रवित्तस्वर्गलोकव्रत्तलोकादिकलं, पौ-  
रुषं पुत्रकामेष्टिकृपिवाणिज्यज्योतिष्टोमव्रत्तो-

पासनालक्षणः पुरुषप्रयत्नः ।

अर्थ:—हे रघुनन्दन ! इस संसार में शास्त्रानुकूल आचरित-  
पुत्रकामेष्टि, कृपि, वाणिज्य, ज्योतिष्टोम, व्रत्तोपासना आदिक  
पुरुषार्थ द्वारा, पुत्र, धन, स्वर्ग मोक्ष आदि सब ही फलों को पा  
सकते हैं ।

“उच्छास्त्रं शास्त्रितं चेति पौरुषं द्विविधं स्मृतम् ।

तत्रोच्छास्त्रमनर्थाय परमार्थाय शास्त्रितम्” ॥

उच्छास्त्रं-परद्रव्यापहारपरस्त्रीगमनादि, शा-  
स्त्रितं नित्यनैमित्तिकानुष्ठानादि, अनर्था-नर-  
कः, अर्थेषु स्वर्गादिषु परमो मोक्षः परमार्थः ।

अर्थ:—दूसरे के पदार्थ को हर लेना, परस्त्रीगमन आ-  
दिक अशास्त्रीय पुरुषार्थ, और नित्य नैमित्तिक आदिक सत्कर्मों  
का अनुष्ठानरूप शास्त्रविहित पुरुषार्थ, यों दो प्रकार के पुरुषार्थ  
हैं। इनमें से अशास्त्रीय पुरुषार्थ नरकादि अनर्थ फल का हेतु है।  
और शास्त्रीय सत्कर्माचरणरूप पुरुषार्थ परमार्थ के लिये है ।

“आबाल्यादलजभ्यस्तैः शास्त्रसत्सङ्गमादिभिः ।

गुणैः पुरुषप्रयत्नेन संऽर्थः सम्पाद्यते हितः ॥

अलं सम्पूर्णं सम्यगित्यर्थः । गुणैर्युक्तैरेतत्पद्या-

हारः । हितः श्रेयः श्रेयोरूपः । श्रीरामः ।

अर्थ:—बाल्यावस्था ही से यथानिधि सत्कर्मों का श्रवण,  
सत्समागम, आदि शुभ गुण युक्त पुरुषार्थ से श्रेयरूप अर्थ सम्पा-  
दन किया जा सकता है। इस के अनन्तर श्रीरामजी प्रवृत्त करने हैं: ।

“प्राक्तनं वासनाजालं नियोजयति मां यथा ।

मुने तथैव तिष्ठामि कृपणः किं करोम्यहम्” ॥

इति ॥ वासना धर्माधर्मरूपा जीवजनसं-  
स्काराः ।

अर्थ:—धर्म अधर्मरूप जीवगतसंस्कार ही वासना इस नाम  
से प्रसिद्ध हैं, वह जिस प्रकार मुझ को प्रेरणा करती हैं, उसी प्रकार  
मैं रहता हूँ । हे मुने ? मैं दीन स्वतन्त्रता से क्या कर सकता हूँ ?

वासिष्ठः—

“अन एव हि हे राम? श्रेयः प्राप्नोषि शाश्वतम् ।

स्वप्रयत्नोपनीतेन पौरुषेणैव नान्यथा” ॥

यतो वासनापरतन्त्रो भवानत एव हि पा-  
रतन्त्र्यनिवारणाय स्वोत्साहसम्पादितो न-  
नोवाकायजन्यः पुरुषव्यापारोऽपेक्षितः ।

अर्थ:—तुम वासना के बन्दी नहीं हो, इसी कारण हे राम !  
परतन्त्रता से मुक्त होने के लिये स्वयं उत्साह युक्त सिद्ध किसे  
मन, वाणी, और शरीर जन्य पुरुषार्थ द्वारा मोक्षरूप अविनाशी  
सुख को पाओगे ।

“द्विविधो वासनाव्यूहः शुभोऽपि वा शुभप्रयत्ने ।

प्राक्तनो विजते राम द्वयोरैकतरोऽप्यन्यथा” ॥

किं धर्माधर्मावुभावपि तर्हि नियोजयति मां



कतर इति विकल्पः । एकतरपक्षेऽपि शुभो-

शुभोऽपि विकल्पः ।

अर्थः—शुभ और अशुभ इन दो प्रकार की वासना का समूह तुम में है ? और वे दोनों तुम को प्रेरणा करते हैं ! यदि कहो कि दोनों तो एक साथ प्रेरणा करते नहीं किन्तु एक प्रेरणा करता है तो, क्या शुभवासना समूह प्रेरण करता या अशुभवासनासमूह प्रेरणा करता है ?

“वासनौघेन शुद्धेन तत्र चेदपनीयसे ।

तत्क्रमेणाऽऽशु तेनैव पदं प्राप्यप्स्यसि शाश्वतम्” ॥

तत्र तेषु पक्षेषु । ततस्तर्हि तेनैव क्रमेण शुभ-  
वासनाप्रापितेनैवाऽऽचरणेन प्रयत्नान्तरनि-  
रपेक्षेण । शाश्वतं पदं मोक्षम् ।

अर्थः—उनमें से यदि शुभवासना समूह तुम को प्रेरणा करती है तो, उस शुभवासना की प्रेरणा से प्राप्त शुभाचरण द्वारा ही क्रमशः तुम शाश्वत पद—( मोक्ष ) पाओगे ।

“अथ चेदशुभो भावस्त्वां योजयति सङ्कटे ।  
प्राक्तनस्तदसौ यत्नाज्जेतव्यो भवता स्वयम्” ॥  
भावो वासना । तत्तर्हि यत्नोऽशुभविरोधि-  
शास्त्रीयधर्मानुष्ठानं तेन स्वयं जेतव्यः न तु  
युद्धे मृत्युमुखेनैव पुरुषान्तरमुखेन जेतुं  
शक्यः ।

अर्थः—और यदि पूर्व की वासना तुम को संकट में जो-  
डती है, अर्थात् अशुभ कार्य करवाती है तो अशुभवासना की-  
विरोधी शुभवासनारूप शास्त्रीय धर्मों के अनुष्ठान द्वारा उन को  
तुम जीत सकते हो ।

“शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासना-  
सरित् ।

पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि” ॥

उभयपक्षे तु शुभभागस्य प्रयत्ननिरपेक्षेऽप्य-  
शुभभागं शास्त्रीयप्रयत्नेन निवार्य शुभमेव  
तस्य स्थाने समाचरेत् ।

अर्थः—वासनारूप नदी की दो धारायें बहा करती हैं  
एक शुभ मार्ग से दूसरी अशुभ मार्ग से । इन में से अशुभ वा-  
सना की धारा को पुरुष प्रयत्न द्वारा शुभमार्ग में लगावे, अर्थात्  
अशुभवासनारूप अधर्माचरण को त्याग कर उस की जगह  
शास्त्रीय प्रयत्न द्वारा सद्धर्माचरण करे ।

“अशुभेषु समाविष्टं शुभेऽवेवावतारयेत् ।

स्वमनः पुरुषार्थेन बलेन बलिनां वर” ॥

अशुभेषु परस्त्रीद्रव्यादिषु । शुभेषु शास्त्रार्थदेवता-  
ध्यानादिषु । पुरुषार्थेन पुरुषप्रयत्नेन, प्रबलेन ।

अर्थः—हे बलवान् में श्रेष्ठ रामचन्द्र ! परस्त्री पर द्रव्यादि  
में लिप्त हुए अपने मन को प्रबल पुरुष प्रयत्न द्वारा हटाकर शुभ-  
मार्ग में—शास्त्र चिन्तन और इष्ट देवता के ध्यानादि में स्थापन करो ।

“अशुभाच्चालितं याति शुभं तस्मादपीतरत् ।

जन्तोश्चित्तं तु शिशुवत्तस्मात्तच्चालयेद्बलात्” ॥

यथा शिशुर्मृद्भक्षणाग्निवार्य फलभक्षणे  
योज्यते मणिमुक्ताकर्पणान्निवार्य कन्दुकाद्या-  
कर्पणे योज्यते तथा चित्तमपि सत्सङ्गेन दुः-  
सङ्गात्तद्विपरीतविषयान्निवारयितुं शक्यम् ।

अर्थः—जीवों का शिशु तुल्य चित्त अशुभ में रुककर शुभ



में जाता और शुभ में से अशुभ में प्रवेश करना है, अतः पशु को बचाने के लिये अशुभाचरणसे रोकना । जैसे जो कोई बालक मट्टी खाता हो तो उस के हाथ में फल देकर उस को मट्टी खाने से रोक जा सकता, और मणि, मुक्ता फल आदिक मन्वन्त पदार्थ को लेकर खेलने वाले बालक के हाथ में नाश होने देकर गेन्द वगैरह देकर उस के पाम से मणि आदि पदार्थ लिया जा सकता है उसी प्रकार चित्त रूपी बालक को भी मन्मथ द्वारा दुःमित्र से रोककर विपरीत आचरणों से बचा सकते हो ।

“समतासान्त्वनेनाऽऽशु न द्रागिति शनैः शनैः ।

पौरुषेण प्रयत्नेन लालयेच्चित्तबालकम्” ॥

चपलस्य पशोर्वन्धस्थाने प्रवेशनाय द्वावुपायौ भवतः । हरितनृणप्रदर्शनं करहृयनादिकं, वाक्पारुष्यं दण्डादिभर्त्सनं चेति । तत्राऽऽद्येन सहसा प्रवेक्ष्यते, द्वितीयेनेनस्ततोधावन् शनैः शनैः प्रवेक्ष्यते । तथा शत्रुमित्रादिसमत्वं सुखबोधनम्, प्राणायामप्रत्याहारादिपुरुषप्रयत्नश्चेत्येतौ द्वौ चित्तशान्त्युपायौ । तत्राऽऽद्येन मृदुयोगेन शीघ्रं लालयेत् । द्वितीयेन हठयोगेन द्रागिति न लालयेत् । किन्तु शनैः शनैः ।

अर्थः—शत्रुमित्रादिकों से समतारूप मान्यते द्वारा चित्तनाम का बालक शीघ्र वश हो जाता है, और अन्य उपाय द्वारा उस प्रकार वश नहीं होता किन्तु धीरे २ वश होता है । जैसे बध्न पशु को गोशाला में बन्धनार्थ ले जाने के दो उपाय

होते हैं । एक तो हरी घास उस के आगे धरके जाना उसके शरीर को खुगलाना आदि, और दूसरा उसको कठोर वचन बोलना और दण्ड द्वारा ताड़न करना इत्यादि । इन दोनों में से प्रथम उपाय द्वारा वह पशु थोड़े समय में अपने स्थान में प्रवेश करता है और दूसरे उपाय से इधर उधर दौड़ता भटकता बड़े परिश्रम से प्रवेश करता है । उसी प्रकार चित्तरूपी पशु को अपने अधीन वर्त्तवने के भी दो उपाय हैं । एक तो शत्रुमित्रादि में समभाव रखना इत्यादि मृदु उपाय और दूसरा प्राणायामादि कठिन उपाय है इन में से मृदु उपाय द्वारा अतिशीघ्र वश में होता है और दूसरा हठयोग द्वारा सत्वर वश न होकर धीरे २ बहुत समय में वश होता है ।

“द्रागभ्यासवशाद्याति यदा ते वासनोदयम् ।

तदाऽभ्यासस्य साफल्यं विद्धि त्वमरिमर्दनम्” ॥

मृदुयोगाभ्यासाच्छीघ्रमेव सद्वासनोदये सति साफल्यमभ्यासस्य वक्तव्यं नत्वल्पकालत्वेनासम्भावना शङ्कनीया ।

अर्थः—मृदुयोगाभ्यासद्वारा जब तुम्हारे चित्त में शुभ वासना सहज स्वभाव से उदय पावे उस समय हे शत्रुमर्दन ! तुम्हारा अभ्यास सफल हुआ, ऐसा जानो । ‘थोड़े समय में कर्म मिट्ट हुआ ?’ ऐसी शङ्का से सदवासना की निधि की असम्भावना तुम्हें न करनी चाहिये ।

“सन्दिग्धावामपि भृशं शुभामेव समाहर ।

शुभवासनाऽभ्यस्यमाना सम्पूर्णा न वेति सन्देहस्तदाऽपि शुभामभ्यसेदेव । तद्यथा सहस्रजपे प्रवृत्तस्य दशमीज्ञानसंख्या यदा सन्दि-



ग्या तदा पुनरपि शतं जपेत् । असम्पूर्तां स-  
म्पृतिः फलिष्यति, सम्पूर्तां च तद्वृद्ध्या न  
सहस्रजपो दुष्यति तदत् ।

अर्थः—शुभ वासना के अभ्यास की सिद्धि होगी या नहीं  
ऐसे सन्देह को अपने अन्तःकरण में मिलने पर भी सदवासना  
का ही अभ्यास करे जैसे सहस्र ( हजार ) जप में प्रवृत्त” हुए  
पुरुष को दशम सैकड़े में यदि सन्देह हो ( कि ९०० जपे या  
१००० पूरा हुआ ? ) तो सौ मन्त्र फिर जपे । इससे जो  
हजार जप में कमी हुई होगी तो उस की पूर्ति होगी और जो  
हजार जप से अधिक हुआ, तो इससे सहस्रजप दूषित न होगा ।  
उसी प्रकार सदवासना के अधिक अभ्यास करने से कोई हानि  
नहीं, किन्तु सदवासना की दृढता ही होती है ।

“अव्युत्पन्नमना यावद् भवानज्ञाततत्पदः ।  
गुरुशाम्प्रमाणस्तु निर्णीतं तावदाचर ॥  
ततः पक्कपायेण नूनं विज्ञातवस्तुना ।  
शुभोप्यसौ त्वया त्याज्यो वासनौघो निरोधिना ॥  
यदति शुभगमार्थसेवितं त-  
च्छुभमनुसृत्य मनोज्ञभावयुद्ध्या ।  
अधिगमय पदं यद्वितीयं  
तदनु तदप्यवमुच्य सधु तिष्ठ” इति ।  
स्पष्टोऽर्थः । तस्माद्योगाभ्यासेन कामाद्यभि-  
भवसम्भवार्जावन्मुक्तौ न विवादितव्यम् ।

इति जीवन्मुक्तिस्वरूपम् ।

अर्थः—जब तक तुम को बोध का उदय हो कर पर-  
मात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार न हो तब तक गुरु और शास्त्र  
प्रमाण द्वारा निर्णीत शुभवामना का अभ्यास करो । उस को  
करने से तुम या जिम के अन्तःकरण का मल नाश हो गया  
है, और जिम को आत्मसाक्षात्कार हुआ है, उन को सब वृत्तियों  
के निरोध के अभ्यास में प्रवृत्त रहकर शुभवामना को भी  
त्यागना योग्य है । जो अति शुभ फल देने वाला और आर्यों  
से सेवित है, उस शुभाचरण को अनुसरण कर शुद्ध हुई बुद्धि  
द्वारा उस अद्वितीय पद को तुम प्राप्त करो । पीछे उस शुभ अ-  
भ्यास को भी छोड़ कर भली भांति स्वरूप में स्थिर रहो ।

इस प्रकार योगाभ्यास से कागादिवृत्तियों का निरोध होना  
सम्भव है । अत एव जीवन्मुक्ति में विवाद करना उचित नहीं ।

इसभांति जीवन्मुक्तिस्वरूपका निरूपण समाप्त हुआ ।

श्रुतिस्मृतिवाक्यानि जीवन्मुक्तिसद्भावे प्र-  
माणानि । तानि च कठवल्ल्यादिषु पठ्यन्ते—  
“विमुक्तश्च विमुच्यते” इति । जीवन्नेव दृष्ट-  
वन्धात् कामादेर्विशेषेण मुक्तः सन् देहपाते  
भाविवन्धाद्विशेषेण मुच्यते । वेदनात्प्रागापि  
शमदमादिसम्पादनेन कामादिभ्यो मुच्यते  
एव, तथाऽप्युत्पन्नानां कामादीनां तत्र प्रयत्ने-  
न निरोधः । अत्र तु धीवृत्त्यभावादनुत्पत्ति-  
रेव ततो विशेषेणेत्युच्यते । तथा प्रलये देह-  
पाते सति कश्चित्कालं भाविदेहवन्वान्यु-  
च्यते । अत्र त्याग्यन्तिको साक्ष इत्यादिप्रोक्तं



विशेषणेत्युक्तम् । बृहदारण्यके पठ्यते ।

अर्थः—जीवन्मुक्ति के सद्भाव में श्रुति और स्मृतियों के प्रमाण हैं । —( विमुक्तश्च० ) के प्रमाण कठवल्ली आदिक उपनिषद् में पढ़े हैं ।

जीवन्मुक्ति दशा में काम आदिक प्रलम्बवन्धनों में मुक्त होने पर देहजगत् के अनन्तर भावी ( होनेवाले ) वन्धनों में भी विशेषकर मुक्त होता है । यद्यपि ज्ञान होने के पूर्व भी काम आदिक मायनों को सम्पादनकर मुमुक्षु अधिकारी कामादिकों से मुक्त होता है, तथापि उसको एक समय प्रयत्न पूर्वक निरोध करना पड़ता है । और जीवन्मुक्त दशा में तो अन्तःकरण की वृत्तियों के अभाव से कामादिक वृत्तियाँ उदय होने में असमर्थ रहती हैं, अत एव 'विशेषकर मुक्त होता है' ऐसा श्रुति कहती है । प्रलय काल में देह पात के अनन्तर अमुक काल पर्यन्त भावी देहरूप वन्धन से मुक्त रहता है, और विदेह मुक्ति पीछे तो आनन्दिक मोक्ष की प्राप्ति होती है, अत एव श्रुतिमें 'विमुच्यते' ( विशेष कर मुक्त होता है ) ऐसा कथन किया है ।

बृहदारण्यक में लिखा है कि—

“यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते” ॥

श्रुत्यन्तरेऽपि—

“स चक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव समना अमना इव” इति ।

एव मन्यत्राप्युदाहार्यम् । स्मृतिषु जीवन्मुक्त-स्थितप्रज्ञ-भगवद्भक्त-गुणातीत-ब्राह्मणा-तिवर्णाश्रमादिनामभिस्त्वत्र तत्र व्यवहियते ।

वसिष्ठरामसम्वादे “नृणां ज्ञानैक निष्ठानाम्” इत्यारम्भ “सत्किञ्चिदवशिष्यते” इत्यन्तेन

ग्रन्थेन जीवन्मुक्तः पठ्यते । वसिष्ठः—

अर्थः—जब इस अधिकारी पुरुष के हृदय में स्थित मन कामनायें निवृत्त हो जाती हैं, उस समय यह जीव ( पूर्व-अज्ञ अवस्था में मरणधर्मवाला रहता है, ) अमृत नाम मरण रहित हो जाता है और जीवित ही दशा में ब्रह्म को प्राप्त होता है अन्य श्रुति में भी कहा है । नेत्रवाला होकर नेत्र हीन की नाई, कर्ण इन्द्रियवाला होकर कर्णहीन की नाई, मनवाला होकर मनहीन की नाई ( जीवन्मुक्त पुरुष होजाता है ) अर्थात् उस की वृत्तियाँ इन्द्रियों द्वारा अपने-विषयों का अनुमन्थान नहीं करती, जिस से वह इन्द्रियवाला होने परभी इन्द्रिय रहित का सा प्रतीत होता है । इस के सिवाय अन्य श्रुतियों को भी दृष्टान्तरूप से लेनी । स्मृतियों में जीवन्मुक्त पुरुष को जीवन्मुक्त, स्थितप्रज्ञ, भगवद्भक्त, गुणातीत, ब्राह्मण, और अतिवर्णाश्रमी, आदिक विविध संज्ञाओं से कथन किया है । योगवासिष्ठ में वसिष्ठ राम के सम्वाद में ‘नृणां ज्ञानै०’ से लेकर ‘सत्किञ्चि०’ इस श्लोक तक जीवन्मुक्त की अवस्था का वर्णन किया है । वसिष्ठ जी बोले—

“नृणां ज्ञानैकनिष्ठाना मात्मज्ञानविचारिणाम् ।

सा जीवन्मुक्तोदेति विदेहोऽन्मुक्ततेन या” ॥

ज्ञानैकनिष्ठत्वं लौकिकवैदिककर्मत्यागः । देहेन्द्रियसदसद्भावमात्रेण मुक्तिव्यस्य विशेषो न त्वनुभवतः । द्वैतप्रतीतेरुभयत्राभावात् । श्रीरामः—

अर्थः—लौकिक, वैदिक कर्मों का त्यागपूर्वक केवल ज्ञान



विशेषणोक्तम् । बृहदारण्यके पठ्यते ।

अर्थः—जीवन्मुक्त के लक्षण में जो कि और बातों के प्रमाण हैं । —( विमुक्तश्च ) वे प्रमाण कठवल्ली आदिक उपनिषदों में पड़े हैं ।

जीविनी दशा में काम आदिक प्रसङ्गवन्धनों से मुक्त होने पर देहवास के अनन्तर भावी ( होनेवाले ) वन्धनों से जो अन्तःकरण मुक्त होता है । अतः जो देह के पूर्व भी इन वन्धनों से मुक्त हो जाय तो देहवास के अनन्तर काम आदिकों से मुक्त होता है । अतः जो देह के अनन्तर प्रत्यक्ष मुक्ति करना पड़ता है । और जीवन्मुक्त दशा में तो अन्तःकरण की दृष्टियों के अभाव में कामादिक दृष्टियाँ उद्भूत होने में असमर्थ रहती हैं, अत एव 'विशेषकर मुक्त होता है' ऐसा श्रुति कही है । प्रलय काल में देह पात के अनन्तर अमुक काल पर्यन्त भावि देहरूप वन्धन से मुक्त रहता है, और विदेह मुक्ति पीछे तो आत्यन्तिक मोक्ष की प्राप्ति होती है, अत एव श्रुतिमें 'विमुच्यते' ( विशेष कर मुक्त होता है ) ऐसा कथन किया है ।

बृहदारण्यक में लिखा है कि—

"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।

अथ सर्वोऽवृत्तो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते" ॥

श्रुत्यन्तरेऽपि—

"स चक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव समना  
अमना इव" इति ।

अतः सर्ववन्धनमुदाहृतम् । अतः किं जीवन्मुक्त-स्थितप्रज्ञ-भगवद्भक्त-गुणार्तात-ब्राह्मणा-ति-वर्णाश्रमादिनामभिस्तत्र तत्र व्यवहित्यते ।

वासिष्ठरामसम्वादे "नृणां ज्ञानैक निष्ठानाम्"

इत्यारम्भ "सत्किञ्चिदवशिष्यते" इत्यन्तेन

ग्रन्थेन जीवन्मुक्तः पठ्यते । वासिष्ठः—

अर्थः—जब इस अधिकारी पुरुष के हृदय में स्थित सब कामनायें निवृत्त हो जाती हैं, उस समय यह जीव ( पूर्व-अज्ञ अवस्था में मरणधर्मवाला रहता है, ) अमृत नाम मरण रहित हो जाता है और जीविनी ही दशा में प्रलय को प्राप्त होता है अन्य भूति में भी कदा है । नेत्रवाला होकर नेत्र हीन की नाई, कर्ण इन्द्रियवाला होकर कर्णहीन की नाई, मनवाला होकर मन-हीन की नाई ( जीवन्मुक्त पुरुष हो जाता है ) अर्थात् उस की दृष्टियाँ इन्द्रियों द्वारा अपने-अपने स्थितियों का अनुसन्धान नहीं करती, जिस से वह इन्द्रियवाला होने पर भी इन्द्रिय रहित का सा प्रतीत होता है । इस के विनाश अन्य भूतियों को भी गृहान्तर में लेती । स्मृतियों में जीवन्मुक्त पुरुष को जीवन्मुक्त, स्थितप्रज्ञ, भगवद्भक्त, गुणातीत, ब्राह्मण, और अनिर्वर्ण्यमानो, आदिक विविध संज्ञाओं से कथन किया है । योगवासिष्ठ में वासिष्ठ राम को सम्बोधित में 'नृणां ज्ञाने०' से लेकर 'सत्किञ्चि०' इस श्लोक तक जीवन्मुक्त की भावना का वर्णन किया है । वासिष्ठ जी बोले—

"नृणां ज्ञानैकानिष्ठानां सात्वतज्ञानादिव्यारिणाम् ।

सा जीवन्मुक्तो भवेति विशदोऽमुक्तोऽयम् ॥

ज्ञानैकानिष्ठत्वं लौकिकवैदिकसर्वसाधनः ।

हेतुव्यसदसहसावमानस्य मुक्तिरस्य वि-

शेषो न त्वनुभवतः । ईशप्रतीतिरस्य सदा सा-

वात् । श्रीरामः—

अर्थः—लौकिक, वैदिक सभी का लक्षणहीन होता है।



निष्ठ और आत्मविचार परायण पुरुष को जीवन्मुक्त दशा प्राप्त होती है जो विदेहमुक्त दशा के समान है ।

जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति में केवल इतना ही भेद है कि जीवन्मुक्त पुरुष को अन्य की दृष्टि में देहेन्द्रियादिक विद्यमान है, और विदेहमुक्त को नहीं । परन्तु दोनोंके अनुभव में कोई भेद नहीं है । द्वैत की अप्रतीति दोनों ही में समान है ।

श्रीरामजी बोले—

“ब्रह्मन् विदेहमुक्तस्य जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ।

ब्रूहि येन तथैवाऽहं यते शास्त्रगया दृशा” ॥

अर्थ:—हे ब्रह्मन् ! विदेहमुक्त और जीवन्मुक्त का लक्षण कहो । जिस को सुनकर शास्त्र से प्राप्त ज्ञान द्वारा उस पद की प्राप्ति के लिये मैं यत्न करूँ ।

वासिष्ठ:—

“यथास्थितमिदं यस्य व्यवहारवतोऽपि च ।

अस्तं गतं स्थितं व्योम स जीवन्मुक्त उच्यते”

इदं प्रतीयमानं गिरिनदीसमुद्रादिकं जगत्प्रतिपत्तु-  
देहेन्द्रियव्यवहारेण सह महाप्रलये परमेश्वरे-  
णोपसंहृतं सत्स्वरूपोपमर्दनास्तं गतं भवति,  
अत्र तु न तथा, किंतु विद्यत एव देहेन्द्रियादि-  
व्यवहारः गिरिनद्यादिकं चेद्वरेणानुपसंहृतत्वा-  
द्यथापूर्वमवतिष्ठमानं सत्सर्वैरन्यैः प्राणिभिर्वि-  
स्पष्टमवलोक्यते । जीवन्मुक्तस्य तत्प्रत्यायक-  
वृत्त्यभावात् सुषुप्ताविव सर्वमस्तं गतं भवति ।  
स्वयंप्रकाशमानं चिद्व्योम केवलमवशिष्यते ।  
वदस्य सुषुप्तौ तात्कालिकवृत्त्यभावस्यास्यऽपि

आविधीयति बीजसद्भावाच्च जीवन्मुक्तत्वम् ।

अर्थ:—वासिष्ठ जी बोले देह इन्द्रियद्वारा व्यवहार करने हुए जिस जीवन्मुक्त पुरुष को यह नामरूपात्मक जगत् व्योमका ल्यों होने पर भी, वह नाश होजाने के समान केवल चिदाकाश ही भासता है, जगत् की प्रतीति नहीं होती, उस को जीवन्मुक्त कहते हैं ।

यह प्रतीयमान पर्वत, नदी, समुद्रादि अनेक पदार्थों का समुदायात्मक जगत् जिस भांति प्रलय समय में उस को जानने वाले जीव के देहेन्द्रियादिक के साथ नाश को प्राप्त हो जाता है वैसा स्वरूप रहता नहीं, उस भांति जीवन्मुक्त दशा में नहीं होता । किन्तु देह इन्द्रिय आदि का व्यवहार रहता ही है तथा नामरूप जगत् भी ईश्वर द्वारा नष्ट न होने से उस को अन्य सब प्राणि-  
गण स्पष्ट देख सकते हैं । परन्तु जीवन्मुक्त पुरुष को जगत् की प्रतीति करानेवाली वृत्तियों का अभाव होने से सुषुप्ति के तुल्य अस्त गत होता है । उस को तो शेष केवल स्वयंप्रकाश चिदा-  
काश ही स्थित है । तात्कालिक वृत्तियों का अभाव तो सुषुप्ति में वद्धजीवों को भी होता है परन्तु सुषुप्ति से उत्तर काल में उदय होने वाली वृत्तियों का बीज सुषुप्ति में विद्यमान होने से वद्ध पुरुष की गणना जीवन्मुक्त में नहीं होती ।

“नोदेति नास्तमायाति मुग्धदुःखैर्मुग्धप्रभा ।

यथाप्राप्ते स्थितिर्यस्य स जीवन्मुक्त उच्यते” ॥

मुग्धप्रभा हर्षः । सकलचन्दनसत्कारादिमुग्धे प्राप्तेऽपि संसारिण इव हर्षो नोदेति । मुग्धप्रभास्त-  
मयो दैन्यम् । धनहानिर्नाशकारादिदुःखे प्राप्तेऽपि न दीनो भवति । इदानीं तत्तत्प्रमाणविशेषान्त-



रेण प्रारब्धकर्मापादितपूर्वप्रवाहागतभिक्षान्ना-  
दिकं यथाप्तं तस्मिन् स्थितिर्देहरक्षा । समा-  
धिदाढ्येन स्रक्चन्दनादिप्रतीत्यभावात् । क-  
दाचिद्व्युत्थानदशायामापाततः प्रतीतावपि  
विवेकदाढ्येनैव हेयोपादेयत्वबुद्ध्यभावाद्धर्पा-  
दिराहित्यमुपपद्यते ।

अर्थः—सुखदुःख के कारण जिस के मुखपर हर्ष विषाद  
के चिन्ह प्रतीत न हों, और यथाप्राप्त पदार्थों के उपर जिस की  
स्थिति होती है, उस का नाम जीवन्मुक्त है । 'मुखप्रभा' अर्थात्  
हर्ष । स्रक्, चन्दन, सत्कार आदिक अनुकूल पदार्थों की प्राप्ति  
से संसारी जीवों के समान जिस के चित्त में हर्ष का उदय  
नहीं होता, तथा धनहानि, धिक्कार आदिदुःख प्राप्त होने पर भी  
जिस के मुख पर मलिनता नहीं होती, अर्थात् जिस के मुख पर  
दीनता का चिन्ह प्रतीत नहीं होता तथा वर्तमान शरीर द्वारा  
प्रयत्न किये बिना प्रारब्ध द्वारा प्राप्त भिक्षान्न आदिक पर जिस  
के शरीर का निर्वाह होता, वह जीवन्मुक्त पुरुष है ?। इस पुरुष  
को समाधि में तौ दृष्टियों के अभाव होने से कोई श्रद्धावान्  
पुरुष उस का अर्चन करे तो भी उस का उस को भान नहीं  
होता, और समाधि से भिन्न व्युत्थान काल में यद्यपि उस को  
भान होता है, परन्तु उस समय भी उस का विवेक इतना दृढ  
रहता है जो किसी वस्तु में उस को हेय उपादेयबुद्धि नहीं होती  
जिस से उस को हर्षविषादादि रहितभाव सम्भव होता है ।

“यो जागर्ति सुषुप्तस्थो यस्य जाग्रन्न विद्यते ।  
यस्य निर्वासनो बोधः स जीवन्मुक्त उच्यते” ॥  
चक्षुरादीन्द्रियाणां स्वस्वगोलकेष्ववस्थानेनो-

परत्यभावाज्जागर्ति । मनोवृत्तिरहितत्वात्सु-  
षुप्तिस्थः । अत एवेन्द्रियैरर्थोपलाब्धिरित्येत-  
स्य जागरणलक्षणस्याभावाज्जाग्रन्न विद्यते ।  
सत्यपि बोधे जाग्रमानो ब्रह्मवित्त्वाभिमाना-  
दिर्भांगार्थापादितकामादिश्च भीदोपः वासना  
वृत्तिराहित्येन तद्दोषाभावान्निर्वासनत्वम् ।

अर्थः—जो जाग्रत अवस्था में रहता हुआ सुषुप्ति में स्थित  
है, जिस को जाग्रत अवस्था नहीं, तथा जिन को वासना र-  
हित ज्ञान है, उस को जीवन्मुक्त पुरुष कहते हैं । चक्षु आदिक  
इन्द्रियों के अपने २ गोलकों में स्थित होनेसे वह जाग्रत अवस्था  
को अनुभव करता है, तथापि मन वृत्ति, रहित होनेसे सुषुप्ति में  
स्थित है इसी कारण से इन्द्रियों द्वारा विषयों का ज्ञानरूप जाग्रत  
अवस्था का जिस को अभाव है । ब्रह्मवित्त्वं पन के होने पर  
भी ब्रह्मवित्त्वं पन के अभिमानादि, विषयभोगनिमित्त उत्पन्न का-  
मादि द्वारा अन्तःकरण के दोष के वासना वृत्तियों के रहित पन  
से उस के दोष के अभाव से जिस को वासनारहित ज्ञान है  
उसे जीवन्मुक्त कहते हैं ।

“रागद्वेषभयादीनामनुरूपं चरन्नपि ।

योऽन्तर्गम्यदत्यन्तः स जीवन्मुक्त उच्यते” ॥  
रागानुरूपं भोजनादिप्रवृत्तिः । द्वेषानुरूपं  
बौद्धकापालिकादिभ्यो विमुक्तत्वम् । भयानु-  
रूपं सर्पव्याघ्रादिभ्योऽपसर्पणम् । आदिश-  
ब्देन मात्सर्यादि । मात्सर्यानुरूपमितरयोगि-  
भ्य आधिक्येन समाभ्यासनुष्ठानम् । सत्यपि  
व्युत्थानदशायामापाततः प्रतीतावपि



सेन प्रापिते विश्रान्तचिन्तस्य कालुष्यर-  
हितत्वादन्तःस्वच्छत्वम् । यथा व्योम्नि धूम-  
धूलिमेघादियुक्तेऽपि निर्लेपस्वभावत्वादाति-  
शयन स्वच्छत्वं तद्वत् ।

अर्थः— राग, द्वेष, भय आदिक के अनुकूल वर्त्ताव करने पर भी जो अन्तर में आकाश की नाई अत्यन्त निर्मल है । उसे जीवन्मुक्त कहते हैं ।

भाजनादि में प्रवृत्ति यह राग की अनुकूलता है, बौद्ध का-  
पालिक आदिकों से विमुखता यह द्वेष की अनुकूलता है, मर्ग  
व्याघ्रादि से डर कर भागना यह भय की अनुकूलता है । आ-  
दिशब्द से मात्सर्यादिको लेना चाहिये । एक योगी के दूने  
योगीसे अधिकतर समाधि आदिका अनुष्ठान करना यह मा-  
त्सर्य की अनुकूलता है । विश्रान्तचित्त वाले पुरुष को, व्यु-  
त्थान अवस्था में बहुतदिनों के पहिले के अभ्यास के कारण  
ऐसा आचरण प्राप्त होने पर भी जैसे आकाश, धूम, धूलि, मेघ,  
आदिकों से आच्छन्न होने परभी अपने निर्लेपस्वभाव से स्वच्छ  
है इसी प्रकार उस का अन्तःकरण रागादि मल से रहित होने  
से अत्यन्त निर्मल होता है ।

“यस्य नाहं कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।  
कुर्वतोऽकुर्वतो वाऽपि स जीवन्मुक्त उच्यते ॥  
पूर्वाह्ने विद्वत्संन्यासप्रस्तावे व्याख्यातम् ।  
लोके बद्धस्य पुरुषस्य शास्त्रीयकर्म कुर्वतोऽहं  
कर्तेति तदा चिदात्माऽहंकृतो भवति । स्वर्गं  
प्राप्स्यामीति हर्षेण बुद्धिर्लिप्यते । अकुर्वत-  
स्तु त्यक्तवानस्मीत्यहंकृतत्वं । स्वर्गालाभ-

विपादादिलेपः । एवं प्रतिपिद्धकर्मणि लौ-  
किककर्मणि च यथासम्भवं योजनीयम् ।  
जीवन्मुक्तस्य तु तादात्म्याध्यासाभावाद्धर्पा-  
द्यभावाच्च न दोषद्वयम् ।

अर्थः— विहित ( कर्त्तव्य ) या प्रतिपिद्ध ( अकर्त्तव्य )  
कर्मों के करने पर भी जिस का आत्मा अहङ्कार से तादात्म्यके  
अध्यास से आच्छादित नहीं, और जिस की बुद्धि हर्ष विपादा-  
दि लेप रहित है, उस को जीवन्मुक्त कहते हैं ।

लोक में बद्ध पुरुष शास्त्रीय कर्म करता है, उस समय “ मैं  
इस कर्म का कर्त्ता हूँ ” इस प्रकार उस के भीतर अहङ्कार उप-  
जता है, तथा “ मैं स्वर्गसुख को पाऊँगा, ऐसे हर्षरूप लेप को  
भी वह प्राप्त होता है । और जिस समय शास्त्रीय कर्म नहीं क-  
रता उस समय “ मैंने सत्कर्मों का त्याग किया ” ऐसे अभिमान  
के वश होता है । और ‘अरे अब मुझे स्वर्गसुख प्राप्त नहीं होगा’  
इस प्रकार के भेद रूप लेप को प्राप्त होता है । इस भांति नि-  
पिद्ध और लौकिक कर्मोंके सम्बन्धमें भी यथायोग्य योजना  
कर लेनी । जीवन्मुक्तपुरुष को तो अहंकार के साथ तादा-  
त्म्याध्यास न होने से और हर्षादि दोष के अभाव के कारण  
उस में पूर्वोक्त दोनों दोष होते नहीं ।

“यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।  
हर्षामर्षभयोन्मुक्तः स जीवन्मुक्त उच्यते” ॥  
अधिचेपताडनादावप्रवृत्तादेतस्माल्लोको नो-  
द्विजते । अत एवैतस्मिँल्लोकस्याधिचेपाश-  
प्रवृत्तेः कस्य चिद्दुष्टस्य तत्प्रवृत्तावप्येतच्चित्ते  
तादृशविकल्पानुदयाभावाद्यपि नोद्विजते ।



अर्थः—जिस तत्त्ववेत्ता पुरुष में कोई प्राणी मन्ताप का भाव नहीं होता और बिना अपराध दुःख देनेवाले प्राणियों से जो दुःख को नहीं पाता और जिस ने हर्ष, अमर्ष, भय उद्वेग इन चारों का परित्याग किया है उसे जीवन्मुक्त करते हैं।

स्वयं अन्यो के धिक्कार, ताड़नादि में प्रवृत्त न होने से, अन्यलोग इस तत्त्ववेत्ता पुरुष से भय नहीं करते। इसी कारण लोगों की ताड़नादि ऐसे पुरुष पर नहीं होता, कदाचित् किसी दृष्ट की प्रशंसा हो भी जाती है तथापि उस के चित्त में निरस्कारादि विकल्पों के अनुदय होने से, जो किसी से भय नहीं करता, तथा हर्ष क्रोध, भयादि से जो मुक्त है, वह जीवन्मुक्त है।

“शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः।

यः सचित्तोऽपि निश्चितः स जीवन्मुक्त उच्यते”॥

शत्रुमित्रमानावमानादिविकल्पाः संसार-  
कलनाः शान्ता यस्य सः। चतुःषष्टिविधाः  
कलाः, तत्सद्भावेऽपि तदभिमानव्यवहा-  
रयोरभावान्निष्कलत्वम्। चित्तस्य स्वरूपेण  
सद्भावेऽपि दृश्यनुदयान्निश्चितत्वम्। चिन्तेनि  
पाठे वासनावशादात्मध्यानवृत्तिसद्भावेऽपि  
लौकिकदृश्यभावान्निश्चितत्वम्।

अर्थः—शत्रु, मित्र, और मान अपमानादि विकल्प जिस के चित्त में से शान्त हो गये हैं, जो विद्या कलादि में कुशल होने पर भी उस के ज्ञान के कारण अभिमान न करने से तथा उस के उपयोग न करने से विद्याकलादि ज्ञान शक्ति की नाद है, और जिस का चित्त विद्यमान रहता हुआ वृत्तिरहित होने से बिना चित्त का है, वह जीवन्मुक्त है।

“यः समस्तार्थजातेषु व्यवहार्यपि शीतलः।  
परार्थेष्विव पूर्णत्मा स जीवन्मुक्त उच्यते”॥  
परमं हि विवाहोत्सवादौ स्वयं गन्दा नर्त्यान्त्र्यै-  
तदीयकार्येषु व्यवहार्यपि लाभान्नाभयोर्यै-  
विपादरूपं बुद्धिसन्तापं न प्राप्नोति। एवमयं  
मुक्तः स्वकार्येऽपि शीतलः। न केवलं सन्ता-  
पभावाच्छीतलत्वं किन्तु परिपूर्णस्वरूपानु-  
सन्धानादपि ॥

इति जीवन्मुक्तलक्षणम्।

✱ (अथ विदेहमुक्तलक्षणम्—)

अर्थः—जो मनुष्य पदार्थ सम्बन्धी व्यवहार करता हुआ भी  
अन्यो के लिये व्यवहार करता है, ऐसा व्यवहार करने से शी-  
तल चित्तवाला है, उसी प्रकार जो पूर्ण आत्मा के अनुसन्धान  
में निरन्तर लिप्त रहता है, उसे जीवन्मुक्त कहते हैं।

जैसे कोई पुरुष अन्य के घर विवाहादि उत्सव में जाकर  
घर के मालिक की प्रसन्नता रखने के लिये उस के कार्यों में  
भाग लेता हुआ भी उस को उस कार्य में लाभ या हानि हो तो,  
स्वयं हर्ष विपाद रूप मन्ताप युक्त होना नहीं उभा प्रकृत यत्  
मुक्त पुरुष भी अपने कार्यों में शीतल अन्तःकरण का भाव  
है अर्थात् हर्ष विपाद रहित रहता है। हर्ष विपाद के नाशान्न  
ही केवल अन्तःकरण में शीतलता रहती है नहीं, किन्तु मूर्ति  
पूर्णस्वरूप के अनुसन्धान के प्रभाव से भी अन्तःकरण की शी-  
तलता मुक्त पुरुष अनुभव करता है।

जीवन्मुक्तका लक्षण समाप्त हुआ।



विदेहमुक्त का लक्षण कहते हैं—

“जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते ।  
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव” ॥  
यथा वायुः कदाचिच्चलनं त्यक्त्वा निश्चल-  
रूपेणावतिष्ठते तथा मुक्ताऽऽत्माऽप्युपाधि-  
भिरुक्तसंसारं त्यक्त्वा स्वरूपेणावतिष्ठते ।

अर्थः— अपनी शरीर को काल के अधीन होने पर मुक्त पुरुष, जिस प्रकार चलता वायु कभी २ निष्पन्द ( स्थिर ) अवस्था को धारण कर लेता उसी प्रकार जीवन्मुक्त पद को छोड़कर विदेहमुक्ति में प्रवेश करता है । जैसे किसी समय वायु अपने चलन रूप व्यापार को साग के निश्चल रूप में स्थिति करता है ।

“विदेहमुक्तो नोदेति नास्तमेति न शाम्यति ।  
न सन्नासन्न दूरस्थो न चाहं न च नेतरः” ॥  
उदयास्तमयौ हर्षविपादौ । न शाम्यति न च  
तत्परित्यागी लिङ्गदेहस्यात्रैव लीनत्वात् ।  
सद्वाच्यो जगद्धेतुरविद्या मायोपाधिर्न प्राज्ञे-  
श्वरः । असद्वाच्यो नापि भूतभौतिकः । न  
दूरस्थ इत्युक्त्वा न मायातीतः । न चेत्युक्त्वा  
स्थूलभुक्समीपस्थत्वं निषिध्यते । अहं न  
चेति समष्टिश्च । नेतर इति न व्याप्तिश्च । व्य-  
वहारयोग्यो विकल्पः कोऽपि नास्तीत्यर्थः ।

अर्थः— विदेहमुक्त पुरुष, हर्ष विपाद रूप उदय और अस्त को प्राप्त नहीं होता । उसी प्रकार उस का परित्यागी भी नहीं है, क्योंकि लिङ्गदेह स्थूल शरीर के साथ ही लय पा जाता है ।

वह सवरूप नहीं अर्थात् जगत् का कारण अविद्या और माया उपाधि विशिष्ट प्राज्ञ और ईश्वर रूप नहीं, उसी तरह अमन अर्थात् भूत और उस का कार्यरूप नहीं, माया से अतीत नहीं, तथा समष्टि, वैसा ही व्याप्ति शरीर के व्यवहार के योग्य कोई भी विकल्प उस में नहीं ।

“ततः स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् ।  
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किञ्चिदवशिष्यते” ॥  
एवंविधया विदेहमुक्त्या सदृशत्वोत्कर्ष-  
त्वोक्तेर्जीवन्मुक्तावपि यावद्यावान्निर्विकल्पा-  
तिशयस्तावत्तावदुत्तमत्वं द्रष्टव्यम् । भगव-  
द्गीतासु द्वितीयाध्याये स्थितप्रज्ञः पठ्यते ।

अर्जुन उवाच—

अर्थः— उस समय, निश्चल, गम्भीर, अर्थात् मन से भी जाना न जा सके ऐसा, प्रकाश नहीं, वैसा तम से भी विलक्षण, व्याप्त, वाणी का विषय नहीं, तथा इन्द्रियों द्वारा ग्रहण न होसकने योग्य, तैसा अनिर्वचनीय सत्, अवशेष रहता है । इस प्रकार की विदेहमुक्ति के तुल्य जीवन्मुक्ति की गणना कर उस की श्रेष्ठता बताता है, अतएव जीवन्मुक्ति दशम में भी जितने अंश में अन्तःकरण की निर्विकल्पता की अधिकता होती उतने अंश में उस दशा की उत्तमता समझनी चाहिये । भगवद् गीता के २ रे अध्याय में स्थितप्रज्ञ का लक्षण कहा है ।

अर्जुन बोले—

“स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ? ।  
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत ब्रजेत किम्” ॥  
प्रज्ञा तत्त्वज्ञानम् । तद्विधम् । स्थितम-



तथा जारं अनुरक्तनायीः सर्व-  
कार्येषु बुद्धिर्जारमेव ध्यायति, प्र-  
साधनानि किमप्यन्यपि गृहकर्म-  
णि सद्य एव विस्मर्यन्ते, तथा परवैराग्योपे-  
तस्य योगाभ्यासपादवेनात्यन्तवर्जाकृताचि-  
त्तस्योत्पन्ने तत्त्वज्ञाने तद्बुद्धिर्जारमिव नैरन्त-  
र्धेन तत्त्वं ध्यायति तदिदं स्थितप्रज्ञानम् । उक्त-  
गुणरहितस्य केनापि पुण्यविशेषेण कदाचि-  
दुत्पन्नेऽपि तत्त्वज्ञाने गृहकर्मवत्तत्रैव तत्त्वं  
विस्मर्यते तदिदमस्थितं प्रज्ञानम् । एतदेवाऽऽ-  
भिप्रेत्य वसिष्ठ आह ।

अर्थः— समाहित स्थितप्रज्ञ और व्युत्थित ( समाधि में से  
उठा हुआ ) स्थितप्रज्ञ यों कालभेद में दो प्रकारका स्थितप्रज्ञ  
है । इन में से समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ पुरुष उस के लक्षण को बो-  
धन कराने वाले कैवे शब्दों से व्यवहार करता है ? और वह  
व्युत्थित स्थितप्रज्ञ बाणी का कैसा व्यवहार करता है ? तथा  
किस भांति वह बाह्य इन्द्रियों का निग्रह करता है ? उभी तरह  
किस प्रकार वह इन्द्रियों के निग्रह काल के अभाव में विषयों  
को प्राप्त होता है ?

प्रज्ञा ( तत्त्वज्ञान ) स्थिर और अस्थिर इस प्रकार दो प्र-  
कार की है । जैसे जार पुरुष में प्रीति करने वाली नारी, या  
के सब कामों को करती हुई भी बुद्धि द्वारा जार ही का चि-  
न्तन किया करती है । तथा चक्षुरादि इन्द्रियों द्वारा प्राप्त हुए  
वार के कामों को करती है, जिस काम को प्रतिदिन किया  
करती उसे भी भूल जाया करती है । उभी प्रकार परवैराग्य

मुक्त पुरुष, या जिनने ( सद्गुरु के उपदेश में ) योगाभ्यास  
की पट्टा में चित्त को अत्यन्त वश कर लिया है, उस की बुद्धि,  
तत्त्वज्ञान होने के अनन्तर जार में अनुरक्त नारी के समान पर-  
मात्मा का निरन्तर ध्यान किया करती है । अत एव उस की  
प्रज्ञा स्थित है, परन्तु जिस में उक्त गुण नहीं, ऐसे पुरुष को  
कदाचिन् किसी पुण्य विशेष में तत्त्वज्ञान हो भी जाता है ।  
उस को व्यभिचारिणी स्त्री के गृह कार्यों के विस्मरण के समान  
तत्त्वज्ञान का विस्मरण हो जाता है, इस लिये उस की प्रज्ञा  
अस्थिर है । यह बात वसिष्ठ ने भी कही है—

“परव्यसनिनी नारी व्यग्राऽपि गृहकर्मणि ।

तदेवाऽऽस्वादयत्यन्तः परसद्गुरसायनम्” ॥

एवं तत्त्वे परे शुद्धे धीरो विश्रान्तिमागतः ।

तदेवाऽऽस्वादयत्यन्तर्बहिर्व्यवहरन्नपि” ॥ इति ।

तत्र स्थितप्रज्ञः कालभेदाद्बुद्धिविधः । समा-

हितो व्युत्थितश्च । तयोर्गुणयोर्लक्षणं पूर्वा-

त्तराभ्यामर्द्धाभ्यां पृच्छति— समाधिस्थस्य

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा, कीदृशैर्लक्षणवाचकैः

शब्दैः सर्वैरयं भाष्यते, व्युत्थितः स्थितप्रज्ञः

कीदृशं वाग्व्यवहारं करोति, तस्योपवेशन

गमने मूढेभ्यो विलक्षणे कीदृशे ।

श्रीभगवानुवाच—

अर्थः— जार ( यार ) के साथ फैसी हुई नारी अपने घर  
के कामों में व्यग्र होने पर भी जैसे पुरुष के साथ भोगादि ज-  
नित सुख का ही मन में अनुभव किया करती है । इसी प्रकार  
परमशुद्धतत्त्वज्ञान होने पर धीर विवेकी पुरुष विश्रान्ति को



सब कामों को करने हुए भी अपने अन्तःकरण में उसी कामना का अनुभव किया करता है। तदां कालभेद में स्थित-  
प्रज्ञ ही प्रकार का है एक समाहित, दूसरा व्युत्थित। उन दोनों  
का कथन पूर्वोक्त आधे श्लोक द्वारा अर्जुन ने पूछा है। समा-  
धिर्य स्थितप्रज्ञ की भाषा, अन्य साधारणपुरुषों की अपेक्षा  
कैसी होती है? किम रीति के लक्षण वाचक शब्दों से सब से  
यह कहा जाता है ( अर्थात् लोग इसे क्या कह कर व्यवहार  
करते हैं) व्युत्थितस्थितप्रज्ञ किम रीति का वाग्व्यवहार कर-  
ता है? उस का बैठना, चलना, अन्य साधारण लोगों की अ-  
पेक्षा कैसा विरक्षण है?

इस पर श्री कृष्ण जी उत्तर देते हैं—

“प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।  
आत्मन्येवाऽऽत्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते” ॥  
कामास्त्रिविधाः बाह्या आन्तरा वासनामात्र  
रूपाश्चेति । उपार्जितमोदकादयो बाह्या,  
आशामोदकादय आन्तराः, पथिगततृणादि-  
वदापाततः प्रतीता वासनारूपाश्च । समा-  
हिताऽशेषधीवृत्तिसंक्षयात्सर्वान्परित्यजति ।  
अस्ति चास्य सुखप्रसादलिङ्गमयः सन्तोषः ।  
स च न कामेषु किं त्वात्मन्येव, कामानां ल-  
क्तत्वात् । बुद्धेः परमानन्दरूपेणाऽऽत्माभिमु-  
खत्वाच्च । नचात्र संप्रज्ञातसमाधाविवा-  
ऽऽत्मानन्दो मनोवृत्त्योल्लिख्यते किन्तु स्वप्र-  
काशचिद्रूपेणाऽऽत्मना । सन्तोषश्च न वृत्ति-  
रूपः किन्तु तत्संस्काररूपः । एवं विधैर्लक्ष-

णवाचकैः शब्दैः समाहितो भाष्यते ।

अर्थः— अर्जुन ! जिस समय वह समाधिस्थ पुरुष अपने  
मन में स्थित सब कामनाओं का परित्याग करता और अपने  
आत्मा में (वृत्ति रहित चित्त में) आत्मा द्वारा सन्तोष को प्राप्त  
होता है तब वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। काम तीन प्रकार का है।  
बाह्य, आभ्यन्तर, और वासनारूप। इन में से अपने प्रयत्न पूर्वक  
उपार्जित मोदक आदिक पदार्थ बाह्य काम की गणना में हैं, जो  
मोदकादि पदार्थ उपार्जित तो नहीं हैं परन्तु आशारूप में अन्तः-  
करण में स्थित हैं यह आशा मोदकादि आभ्यन्तर काम हैं। तथा  
मार्ग में पड़ी घाम आदिक पदार्थ ( बिना इच्छा के इन पर दृष्टि  
पड़ ही जाती है) के समान रागद्वेषशून्य दृष्टि से प्रतीत हुए भोग्य  
पदार्थ केवल “वासनारूप काम” की गणना में हैं। समाधि-  
स्थ पुरुष अन्तःकरण की सारी वृत्तियों के क्षय के कारण सब  
कामों का त्याग कर देता है। यद्यपि इस के चेहरे पर की प्रसन्नता  
का चिन्ह ऊपर से उसके अन्तःकरण में सन्तोषरूप वृत्ति  
का स्फुरण रहता सा भासता है, परन्तु वह काम में सन्तोष  
नहीं है। क्यों कि, कामनाओं का तो उस ने त्याग ही कर  
दिया है तथा उस की वृत्ति परमानन्दरूप में आत्मा के ही  
अभिमुख रहती है। जैसे संप्रज्ञात समाधि में आत्मानन्द मनो-  
वृत्ति द्वारा अनुभव करता है वैसा असम्प्रज्ञात समाधि में नहीं  
होता है। उस में तो स्वयं प्रकाश चैतन्य, आत्मारूप द्वारा अनु-  
भव होता है, और वह सन्तोष वृत्ति जन्य नहीं है, किन्तु वृत्ति  
का संस्कार रूप है। इस प्रकार के लक्षण वाचक शब्दों से स-  
माधिस्थ पुरुष का कथन किया जाता है ॥

“दुःखेष्वनुलिङ्गनमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।



जीवन्मुक्तिविवेकेः स्थितधीर्मुनिरुच्यते" ॥  
 दुःखं रागादिनिमित्तजन्या रजोगुणविकार-  
 मया सन्तापान्मिका प्रतिकूला चित्तवृत्तिः ।  
 तादृशं दुःखं प्रापे सत्यहं पापी भिक्षुमां दु-  
 रात्मानमित्यनुतापात्मिका तमोगुणविकार-  
 त्वेन भ्रान्तिरूपा चित्तवृत्तिरुद्वेगः । यद्यप्ययं  
 विवेक इवाऽऽभाति तथाऽपि पूर्वस्मिन् जन्म-  
 नि चेत्तत्पापप्रवृत्तिप्रतिबन्धकत्वात्सप्रयो-  
 जनो भवति । इदानीं तु निष्प्रयोजन इति  
 भ्रान्तित्वं द्रष्टव्यम् । सुखं राजपुत्रलाभादि-  
 जन्या सात्त्विकी प्रीतिरूपाऽनुकूला चित्त-  
 वृत्तिस्तस्मिन्सुखे सत्यागामिनस्तादृशस्य सु-  
 खस्य कारणं पुण्यमनुष्ठाय वृथैव तदपेक्षा  
 तामसी वृत्तिः स्पृहा । तत्र च सुखदुःखयोः  
 प्रारब्धकर्मप्रापितत्वाद्बुद्धिस्थितचित्तस्य वृ-  
 त्तिसंभवाच्च तदुभयं समुत्पद्यते । उद्वेगस्पृहे तु  
 न विवेकिनः संभवतः । तथा रागभयक्रोधाश्च  
 तामसत्वेन कर्मप्रापितत्वाभावान्नास्य वि-  
 द्यन्ते । एवंलक्षणलक्षितः स्थितधीः स्वानु-  
 भवप्रकटनेन शिष्यशिक्षार्थमनुद्वेगानिस्पृह-  
 त्वादिगमकं वचो भाषत इत्यभिप्रायः ।

अर्थः—जो दुःखों में उद्विग्न नहीं होता, सुखों में आसक्त  
 नहीं, और प्रीति भय तथा क्रोध को जिमने त्याग दिया है, वह  
 मुनि ( मनन शील ) स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ।

रागादि निमित्त से उत्पन्न रजोगुण का कार्यरूप सन्ताप-

कार प्रतिकूल चित्तवृत्ति का नाम दुःख है । ऐसे दुःख प्राप्त  
 होनेपर " अरे मैं पापी हूँ, मुझे दुरात्मा को धिक्कार है " ऐसी  
 तमोगुण जन्य वृत्ति होने से भ्रान्तिरूप जो पश्चात्तापवाली चित्त  
 की वृत्ति उस को उद्वेग कहते हैं । यद्यपि यह उद्वेग सामान्य-  
 दृष्टि से विवेक के तुल्य भासता है, तथापि यदि वह पूर्वजन्म में  
 पाप में प्रवृत्ति करने से हुआ है तो पाप में प्रतिबन्धक होने से  
 सफल होता । परन्तु वर्तमान जन्म में प्रयोजन वाला न होने  
 से वह भ्रान्तिरूप है । राज्य, पुत्र, गृह, क्षेत्र, आदि के लाभ  
 से उत्पन्न सात्त्विक प्रीतिरूप अनुकूल वृत्ति को सुख कहते हैं ।  
 ऐसे सुख मिलने पर ' भविष्यत् में भी सुख को यह सुख मि-  
 लेतो ठीक है ' ऐसी-सुख के कारण धर्म का आचरण किये  
 बिना केवल वृथा इच्छारूप तामसी वृत्ति को स्पृहा कहते हैं । तहां  
 सुख दुःख को प्राप्त करानेवाला प्रारब्ध कर्म है, और समाधि में  
 से जाग्रत होने अनन्तर, वृत्ति भी बाहर उदय पाती है, अत-  
 एव यद्यपि उस को प्रारब्ध वश से सुख दुःख तो होता है, किं-  
 तु विवेकी पुरुषको तज्जन्य उद्वेग और स्पृहा सम्भव नहीं होती  
 उसी प्रकार तमोगुण का कार्य राग है, भय और क्रोध प्रारब्ध  
 का फलरूप न होने से उस में नहीं है । इस प्रकार का लक्षण-  
 वाला स्थितप्रज्ञ है, शिष्य को उपदेश देने के लिये अनुद्वेग  
 भाव और निःस्पृहता आदिक आपे में विद्यमान दैवी सम्प-  
 त्तियों के बोधक वचनों के उच्चारण पूर्वक अपना अनुभव प्रकट  
 करता है । यह " स्थितधीः किं प्रभाषेत ? इस प्रश्न का उत्तर  
 हुआ ।

"यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।  
 नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता" ॥



मास्मिन्सत्यन्वदीये हानिवृद्धी स्वास्मिन्नारो-  
प्यते तादृशोऽन्वविषय स्तामसवृत्तिविशेषः  
स्नेहः, सुखहेतुस्वकलत्रादशुभवस्तुगुणकथ-  
नादिप्रवर्त्तिका धीवृत्तिरभिनन्दः । अत्र  
गुणकथनस्य परप्ररोचनार्थत्वाभावेन व्यर्थ-  
त्वात्तद्धेतुरभिनन्दस्तामसः । असूयोत्पादनेन  
दुःखहेतुः परकीयविद्यादिरेनं प्रत्यशुभो वि-  
षयः । तन्निन्दाप्रवर्त्तिका बुद्धिप्रवृत्तिर्द्वेषः  
सोऽपि तामसः । तन्निन्दाया निवारणार्थ-  
त्वाभावेन व्यर्थत्वात् । त एते तामसा धर्माः  
कथं विवेकिनि सम्भवेयुः ।

अर्थ—जो विद्वान् सर्वत्र स्नेह से रहित है, और अनुकूल  
पदार्थ पाकर आनन्द, में प्रतिकूलपदार्थ पाकर दुःख में, मग्न नहीं  
होता उस की बुद्धि स्थिर हुई है ।

जिस के विद्यमान हुए अन्य वस्तु की हानि वृद्धि आपे  
में आरोपित कियी जावे ऐसी जो उस अन्यवस्तुविषयक  
अन्तःकरण की तामस वृत्ति विशेष उस का नाम स्नेह है । सुख  
का साधनरूप अपनी स्त्री, पुत्रादिक वह शुभवस्तु है, तिन के  
गुणकथनादि में वाणी की जो प्रवृत्ति होती, उस का नाम 'अ-  
भिनन्द है ( प्रशंसा ) । अपने मुख से अपने स्त्री पुत्रादिकों की  
प्रशंसा करने से सुननवाले को उस प्रशंसा से स्त्री पुत्रादिकों  
पर प्रीति नहीं होती, अतएव वह व्यर्थ प्रशंसा तामस है । आपेमें  
असूया प्रकट करने वाला होने से दुःख का कारणरूप अन्य की  
विद्यादि गुण अविवेकी को अशुभवस्तु रूप है । उस की नि-  
न्दा में प्रवृत्त कराने वाली वृत्ति का नाम द्वेष है । यह भी तमो-

गुण का तो तमो है, तमो में तमो होने में असमर्थ  
होने से व्यर्थ । तमो में तमो होने में परिणाम  
होने से भला । तमो में तमो होने से ?  
होते ही नहीं ।

“ यदा संहरते च

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः

व्युत्थितस्य समस्ततामसस्य

काभ्यामभिहितः । समाहितः

न सन्ति कुतस्तामसत्त्वशङ्केत्याम्

अर्थ—जैसे कच्छप अपने सब अङ्गों को रु

जिस ने अप ने सब इन्द्रियों को विषयों से हटा लिया  
की बुद्धि स्थिर हुई है ॥

समाधि से उठे हुए पुरुष में सब तामस वृत्तियों का अभाव  
रहता है यह बात उपरोक्त दो श्लोकोंके द्वारा कही गयी है  
और समाधिस्थ पुरुष को तो सब वृत्तियों का अभावहोने से  
उस में तामसवृत्ति के हो सकने की शङ्का ही सम्भव नहीं ।

“विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।

रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥”

प्रारब्धं कर्म सुखदुःखहेतून् कांश्चिद् विषयां-

श्चन्द्रोदयान्धकारादिरूपान् स्वयमेव सम्पा-

दयति । अन्यास्तु गृहक्षेत्रादीन् पुरुषोयोग-

द्वारेण । तत्र चन्द्रोदयादयः पूर्णेनेन्द्रियसंहा-

रलक्षणेन समाधिर्नैव निवर्तन्ते नान्यथा ।

गृहादयस्तु समाधिमन्तरेणापि निवर्तन्ते ।

आहरणमाहार उद्योगः । निरुद्योगस्य गृहा-



निवर्तते ।  
परमानन्दस्वरूपस्य  
स्वल्पानन्दहेतु-

येषां नोऽयमात्मा-

को मेव नही किया उस के वि-

ह, परन्तु उन में अभिलाष बना रहता

का तो पर ब्रह्मको देख वह रस अर्थात्

निवृत्त हो जाता है—पारम्यकर्म सुखदुःखका

चन्द्रोदय अन्धकार आदिपदार्थ को आप ही रचता है

उपार्थ की अपेक्षा नहीं और गृह क्षेत्र आदि कतिपय-

को पुरुष के उद्योग द्वारा उपजाता है । इन में चन्द्रोद-

यादे पदार्थ तो सब इन्द्रियों का निरोधरूप समाधि अवस्था-

में ही निवृत्ति पाता है अन्य उपाय में निवृत्त होता नहीं और

गृह क्षेत्रादि तो समाधि बिना भी उस के मिथने के लिये उद्यो-

ग त्याग ने में भी निवृत्त हो जाता है । परन्तु उस में से मानसी-

तृष्णा (अभिलाष) जाती नहीं परन्तु परमानन्दस्वरूप पर ब्रह्म

के साक्षात्कार से तो तुच्छ सुख देने वाले विषयो में से वह

अभिलाष भी निःशेष हो जाता है । क्योंकि—

“जिस पुरुष को इस परमानन्द स्वरूप स्वयं प्रकाश

आत्मा की प्राप्ति हो गई है, ऐसे हृदयको प्रज्ञा का क्या प्रयोजन

है ? इस भांति श्रुति तत्त्वज्ञानी पुरुष को अभिलाष का अभाव

बोध कराती है ।

“यतनोऽपि कौन्तेय ? पुरुषस्य विपश्चितः ।

इन्द्रियाणि प्रमार्थानि हरन्ति प्रसभं मनः” ॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।

यशो हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।

उद्योगत्यागव्रह्मदर्शनप्रयत्नं कुर्वतोऽपि का-

दाचित्कप्रमादपरिहाराय समाध्यभ्यासः ।

तदेतत् किमासीतेतिप्रश्नोत्तरम् ।

अर्थः—हे अर्जुन ? यत्र करते हुए विद्वान् पुरुष को भी

व्याकुल करने वाले इन्द्रियां बलात्कार से (उसके) मन को

हर लेती हैं । उन सब इन्द्रियों को भलीभांति रोक के मुझ में

विश्राम कर एकाग्र चित्त हो । क्योंकि, जिस की इन्द्रियां अपने

अधीन है उस की बुद्धि स्थिर कही जाती है ।

प्रवृत्ति के त्याग और ब्रह्मदर्शनार्थ प्रयत्न करने पर भी

किसी समय प्रमाद हो जाता है उस के निरोध के लिये समा-

धिका अभ्यास करना आवश्यक है, यह ‘किमासीत’ वह इन्द्रियों

का निग्रह किस भांति करता है ? इस प्रश्न का उत्तर हुआ ॥

“ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।

सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिवि-

भ्रमः ।

स्मृतिभ्रंशाद्युद्धिनाशोऽयुद्धिनाशान्मरणमुच्यते” ।

अस्मति समाध्यभ्यासे प्रमादप्रकार उपन्यस्तः ।

सङ्कोधेयविषयसंनिधिः । सम्मोहो विवेक-

पराङ्मुखत्वं । स्मृतिविभ्रमस्तत्त्वानुसन्धाना-

भावः । युद्धिनाशो विपरीतभावनापचयदा-

येण प्रतिबद्धस्य ज्ञानस्य मोक्षप्रदत्वसाम-



धर्माभावः ।

अर्थः—जो पुरुष विषयों का चिन्तन करता उस की उन विषयों में प्रीति उत्पन्न होती है, प्रीति होने से इच्छा होती, और उस इच्छा के प्रतिबन्ध होने से क्रोध उत्पन्न होता, और क्रोध से अविवेक होता है, अर्थात् कर्तव्य और अकर्तव्य का विचार नष्ट हो जाता है। अविवेक से स्मृतिका नाश होता स्मृति के नाश से बुद्धि नष्ट हो जाती और बुद्धिके नाश से सर्वस्वका नाश होता अर्थात् परम पुरुषार्थ से भ्रष्ट होजाता है ॥

योगी जब समाधि का अभ्यास नहीं करता, उस समय उस को किम २ प्रकार कब २ कौन २ प्रमाद होते हैं यह बात उपरोक्त श्लोकों द्वारा दिखलायी गयी है । सङ्ग नाम ध्येय पदार्थ के साथ संयोग (सन्निकर्ष) । सम्मोह हित और अहित के ज्ञान का अभाव । स्मृति विभ्रम— नाम तत्त्व पदार्थ के खोज का भूलना । बुद्धिनाश—नाम विपरीत भावना की वृद्धिरूप दोष द्वारा प्रतिबन्ध होने से तत्त्वबुद्धि की उत्पत्ति नहीं होती और उत्पन्न हुई बुद्धि की मोक्ष फल की प्राप्ति कराने में अयोग्यता होती है यही बुद्धिका नाश है ।

“रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।  
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति” ॥  
विधेयात्मत्वं वशीकृतमनस्त्वं, प्रसादो नैर्मल्यं  
बन्धराहित्यम् । समाध्यभ्यासयुक्तस्तद्वासना  
बलाद् व्युत्थानदशायामिन्द्रियैर्व्यवहरन्नपि  
प्रसादं सम्यक् प्राप्नोति । तदेतत्किं ब्रजेते-  
तिप्रश्नोत्तरम् । उपरितनेनापि बहुना ग्रन्थे-  
न स्थितप्रज्ञः प्रपञ्चितः । ननु प्रज्ञायाः

स्थित्युत्पत्तिभ्यां प्रागपि साधनत्वेन राग-  
द्वेषादिराहित्यमपेक्षितम् । बाढम् । तथा  
स्थितिविशेषः, स च मार्गकारैर्दर्शितः ।

अर्थः—इन्द्रियों को राग द्वेष से हटाकर अपने अधीन करके जो वशी पुरुष विषयों का सेवन करता, वह प्रसन्नता को पाता है । समाधि का अभ्यास वाला पुरुष अभ्यास की वा-  
सना के बल से व्युत्थान अवस्था में सब इन्द्रियों के व्यापार को करते हुए भी चित्त की प्रसन्नता को ही अनुभव करता है ।  
“इस रीति ‘ किं ब्रजेत ’ ? इस प्रश्न का उत्तर हुआ । इस के अनन्तर भी बहुत श्लोकों द्वारा श्रीमद्गीता में स्थितप्रज्ञ का विस्तार से वर्णन किया है ।

शङ्का—ज्ञान की उत्पत्ति और स्थिति के पहिले भी साधन रूप राग द्वेष के अभाव की अपेक्षा है । क्या जीवन्मुक्तदशा में ही अपेक्षा है, ऐसा नहीं ? समाधान—ठीक है, परन्तु इस में कुछ अन्तर है, और उस को श्रेयोमार्ग नामक ग्रन्थ में बतलाया है ।  
“विद्यास्थितये प्राग्ये साधनभूताः प्रयत्नानिष्पाद्याः ।  
लक्षणभूतास्तु पुनः स्वभावतस्ते स्थिताः स्थितप्रज्ञे ॥  
जीवन्मुक्तिरितीमां वदन्त्यवस्थां स्थितात्मसंबन्धाम् ।  
बाधितभेदप्रतिभामबाधितात्मावबोधसामर्थ्यात्” इति ॥

भगवद्भक्तो द्वादशाध्याये भगवता वर्णितः ।

अर्थः—विद्या की स्थिति के लिये, मुमुक्षु पुरुष में जो साधन होकर दैवी सम्पत्तियां प्रयत्न साध्य होतीं, वे स्थितप्रज्ञ पुरुष में स्वाभाविक पन से रहती हैं । इस स्थितप्रज्ञ की दशा को “ जीवन्मुक्ति ” कहते हैं । इस दशा में आत्मज्ञान के सा-  
मर्थ्यद्वारा भेदप्रतीति बाध को प्राप्त होकर होती है ।



भाषानुवादसहितजीवन्मुक्तिविवेके  
भगवद्भक्त का श्रीगीता में भगवान् ने १२ वें अध्याय में  
वर्णन किया है।

“अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।  
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥  
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।  
मध्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मदभक्तः स मे प्रियः” ॥  
ईश्वरार्पितमनस्त्वेन समाहितस्यानुसन्धा-  
नाभावात् । व्युत्थितस्याप्युदासीनानुसन्धा-  
नेन हर्षविषादाभावाच्च सुखदुःखसाम्यम् ।  
एवं वक्ष्यमाणेष्वपि द्वन्द्वेषु द्रष्टव्यम् ।

अर्थः— किसी से द्वेष करने हारा नहीं, सब प्राणियों का  
मित्र, दयावान्, ममता से छूटा, अहंकार रहित, सुख और दुःख  
को समान मानने वाला, शान्त, सर्वकाल में सन्तुष्ट, योगी, अ-  
र्थात् स्थिरचित्त मन को अपने अधीन रखने वाला, दृढनिश्चय  
अर्थात् किसी बात का विचार करके पलटने वाला नहीं, मेरे  
बीच में मन और बुद्धिको अर्पण करने हारा, ऐसा जो मेरा  
भक्त है, वह मुझ को प्रिय है । जीवन्मुक्त पुरुष जिस समय स-  
माधिस्थ होता है । उस समय उस का मन ईश्वराकार होने से  
वह अन्य विषय का अनुमन्यान नहीं करता, समाधि से व्युत्था-  
न होने पर भी उदासीन वृत्तिवाला होता है इस लिये उस की  
सदा सुख दुःख आदिक द्वन्द्व धर्मों में समान वृत्ति होती है ।

“यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।  
हर्षमर्पमयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥  
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।  
सर्वारम्भपरित्यागी यो मदभक्तः स मे प्रियः ॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।  
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः समे प्रियः ॥  
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।  
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥  
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।  
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः” इति ॥  
अत्रापि पूर्ववद्विशेषो वार्त्तिककारैर्दर्शितः ।

अर्थः—जिस से कोई उद्वेग को न प्राप्त हो, और जो कि-  
सी से उद्वेग को न प्राप्त हो, ऐसा जो हर्ष, अमर्ष कहिये दूसरे  
के सुख को देख खद, भय, और उद्वेग, इन से अलग हो वह मेरा  
प्रिय है ॥ जो मिले उसी में सन्तुष्ट, पवित्र, प्रवीण, पक्ष पातन  
रहित, खेदशून्य, फल की वासना छोड़ कर्मों का करनेहारा  
ऐसा जो मेरा भक्त वह मुझ को प्रिय है ॥ जो प्रिय वस्तु पा-  
कर प्रसन्न न नहो, किसी से द्वेष न रखता हो इष्ट पदार्थ के  
नाश होने से शोक को न प्राप्त हो, किसी वस्तुपरलोभ न करना  
हो, अशुभ और शुभ इन दोनों का त्यागकरनेवाला भक्तिमान्  
हो वह मेरा प्रिय है । शत्रु, मित्र, मान, और अपमान इन में पक्ष  
सा रहनेवाला, जाड़ा गरमी, सुख और दुःख में एकाकार, सङ्ग-  
रहित, निन्दा और स्तुतिको तुल्य मानने हारा, मौनी, जो कुछ  
मिले उसी में सन्तुष्ट, नियम से एकस्थान में वास करनेवाला  
नहीं, स्थिरबुद्धि भक्तिमान् ऐसा जो पुरुष, का मुझे प्रिय है ।

इस स्थान में भी वार्त्तिककार ने विविधप्रमाणों की और  
जीवन्मुक्त पुरुषमें भेद पूर्व के समान बताया है—

“उत्पन्नात्मप्रबोधस्य सांख्यवृत्त्यादयो गुणाः ।  
अयत्नतोऽयत्नस्य न तु साधनसाधनः” इति ॥



गुणातीतशुद्धिशाध्याये वर्णितः—

अर्थः—जिम पुरुष को आत्मज्ञान प्राप्त हो चुका है, उस पुरुष में द्वेषभूयता आदि गुण विना यत्र किये स्वभावमे सिद्ध होते हैं, साधनरूप में नहीं ॥

गुणातीत का निरूपण भगवद्गीता के १४ वें अध्याय में किया है। अर्जुन बोले।

“कैलिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ?।

किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्तते” ॥

अथो गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि, तेषां परिणामविशेषात् सर्वः संसारः प्रवर्तते। अतो गुणातीतत्वमसंसारित्वम्। जीवन्मुक्तत्वमिति यावत्। लिङ्गानि परेषामेतदीयगुणातीतत्वबोधकानि। आचार आचरणं तदीयमनःसञ्चारप्रकारः। कथमिति साधनप्रकारप्रश्नः। भगवानुवाच—

अर्थः—हे प्रभो ! किन चिन्हों करके ज्ञानी इन तीनों गुणों को अति क्रमण करने वाला होता ? और उसका क्या आचार है ? और वह किस भांति इन तीन गुणों का उल्लङ्घन करता है ?।

सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों के परिणाम विशेष से ही सब संसार की प्रवृत्ति है। अत एव गुणातीत होना, असंसारी होना, जीवन्मुक्तहोना एक ही वस्तु है। लिङ्ग अर्थात् जिन लक्षणरूप चिन्हों करके गुणातीत पुरुष का गुणातीतपन बोध हो, वैसा चिन्ह। आचार अर्थात् उस के मन की प्रवृत्ति। ‘कथं’ इत्यादि वाक्य द्वारा गुणातीत होने के साधनों का प्रकार

पूछा है। श्रीभगवान् उत्तर देते हैं—

“प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।  
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥  
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।  
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽयतिष्ठति नेद्वते ॥  
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाश्चनः।  
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥  
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।  
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥  
मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।  
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते” ॥  
प्रकाशप्रवृत्तिमोहाः सत्त्वरजस्तमोगुणाः। ते च जाग्रत्स्वप्रयोः प्रवर्तन्ते। सुषुप्तिसमाधिः शून्यचित्तवृत्तित्वावस्थासु निवर्तन्ते। प्रवृत्तिश्च द्विविधा अनुकूला प्रतिकूला चेति। तत्र मूढो जागरणे प्रतिकूलप्रवृत्तिं द्वेष्टि अनुकूलप्रवृत्तिं काङ्क्षति। गुणातीतस्य त्वनुकूलप्रतिकूलाध्यासाभावाद्वेष्टाकाङ्क्षाचे न स्तः। यथा द्वयोः कलहं कुर्वतो रवलोकयिता कश्चित्तटस्थः स्वयं केवलमुदास्ते। न तु जयपराजयाभ्यामितस्ततश्चाल्यते। तथा गुणातीतो विवेकी स्वयमुदास्ते। गुणागुणेषु वर्तन्ते, न त्वहमिति विवेकादौदासीन्यम्। अहमेव करोमीत्यध्यासो विचलनम्, न चास्य तदस्ति। तदिदं किमाचार इत्यास्य



प्रश्नस्योत्तरम् । समस्तदुःखादीनि लिङ्गा-  
न्यन्याभिचारिभक्तिसहितज्ञानध्यानाभ्यासेन  
परमात्मसेवा उति गुणान्तरमाधनम् । ब्राह्म-  
णो न्यासादिभिर्वर्णितः ।

अर्थः—हे पाण्डव ! सत्वगुणका प्रकाश, रजोगुण की प्रवृत्ति,  
और तमोगुणका मोह परिणाम है । इन के प्रवृत्त होने में जो  
ब्राह्मण को न प्राप्त हों और निवृत्त होने में उन की इच्छा न करे  
( वह गुणातीत है ) । उदासीन पुरुष के तुल्य जो सुख दुःख  
को एक समान मानता गुणों करके चञ्चल नहीं होता और 'गुण  
अपने कार्यों में प्रवृत्त होते हैं' ऐसा ज्ञान साधन बैठा रहता  
है, किसी तरह की चेष्टा नहीं करता ( वह गुणातीत है ) ।

सुखदुःख को एकसाँ मानने वाला, स्वस्थ अर्थात् किसी-  
भीति के विकार को नहीं प्राप्त, छोष्ट अर्थात् मही का देखा,  
पत्थर, और सुवर्ण को एक ही दृष्टि से देखने वाला, प्रिय और  
अप्रिय वस्तु में समानबुद्धि, निन्दा और स्तुति में एकसाँ रहने-  
वाला, और पुरुष ( गुणातीत है ) । जो मान अपमान में एकसाँ,  
और मित्र एवं शत्रु पक्ष में तुल्यदृष्टि, कर्षों के बीच फल की  
वामना छोड़ने द्वारा, वह गुणातीत कहाता है । जो मुझ को अ-  
खण्डभक्तियोग से सेवता है, वह इन सब गुणों को भली भाँति  
जीत कर ब्रह्मस्वरूप होने के योग्य होता है ॥

सत्त्व, रज, तम और क्रमसे इन का कार्य प्रकाश, प्रवृत्ति,  
और मोह, ये तीनों गुण जाग्रत एवं स्वप्न इन दो अव-  
स्थाओं में प्रवृत्त होते हैं । और सुषुप्ति, समाधि, और  
चित्तकी शून्यावस्थाओं में निवृत्त होते हैं । प्रवृत्ति अनुकूल  
और प्रतिकूल इस प्रकार दो प्रकार की होती है । निवृत्ति

में मूढ़ पुरुष जाग्रत अवस्था में गुणों की प्रतिकूल प्रवृत्ति  
में द्वेष करता, और अनुकूल प्रवृत्ति की इच्छा करता है । गु-  
णातीत पुरुषको तो अनुकूल प्रतिकूल अभ्यास की निवृत्ति हो  
जाने से किसी प्रकार की प्रवृत्ति की इच्छा ही नहीं होती, इस-  
लिये वह किसी में द्वेष नहीं करता । जैसे दो पुरुषों की लड़ाई  
को देखने वाला एक तीसरा गृहस्थ पुरुष केवल उदासीनभाव  
से देखा करता है, और उस की हार या जीत हो तो उस से  
वह स्वयं हर्ष विषाद को नहीं प्राप्त होता है । उसी प्रकार गु-  
णातीत विवेकी पुरुष गुणों की परस्पर प्रवृत्ति निवृत्ति को सा-  
क्षी के समान देखता है । गुण, गुणोंके प्रति प्रवृत्ति करता, में  
कुछ भी नहीं करता, इस प्रकार का विवेक उदासीनता का  
स्वरूप है । में ही करता है, ऐसा अभ्यास उस गुण द्वारा चला-  
यमानपन का है । यह जीवन्मुक्त पुरुष में नहीं होता । यह  
'किपाचार' ( उस का आचरण कैसा है ? ) इस प्रश्न का उ-  
त्तर है । सुख दुःख आदि में समान वृत्ति आदिक गुणातीत  
के चिह्न है, और अखण्ड भक्ति सहित ज्ञान और ध्यान के  
अभ्यास द्वारा परमात्मा का सेवन करना ये गुणातीत होने के  
साधन हैं ।

जीवन्मुक्त पुरुष को ब्राह्मण इस नाम से अभ्यास आदिक  
मुनियों ने वर्णन किया है—

“अनुत्तरीयनसनमनुपरनीर्णशागिनम् ।

बाहुपधारिणं ज्ञान्तं न देवा ब्राह्मणं विदुः” ॥

ब्राह्मणशब्दों ब्रह्मविद्यावाचिनि “अथ ब्राह्मण”

हनिश्रुत्या वर्णितम् । ब्रह्मविदम विद्वत्संन्या-

साधिकारान् ।



“यथाजातरूपधरो नाऽऽच्छादनं चरति स परमहंसः”

इत्यादिश्रुत्या परिग्रहराहित्यस्य मुख्यत्वाभिधानादनुत्तरीयत्वादिकं तस्य युक्तम् ।

अर्थः—जिस को उत्तरीय वस्त्र ( अङ्गोच्छा ) नहीं, जिस को सोने के लिये कुछ भी नहीं, अर्थात् भूमि पर शयन करता है, और जिस को अपनी भुजारूप तकेआ है, ऐसे शान्त पुरुष को देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं ।

इस श्लोक में ब्राह्मणशब्द ब्रह्मवित् का वाचक है, क्योंकि ‘अथ ब्राह्मण’ ( उस के अनन्तर ब्राह्मण ) इस श्रुति ने उस का ब्राह्मण शब्द से कथन किया है । ( यथा जातरूप० इस जन्म समय जैसा पैदा हुआ वैसे रूप को धारण करनेहारा अर्थात् नङ्गा परमहंस कुछ भी नहीं ओढ़ता ) पूर्वोक्त श्रुति में किसी पदार्थ को न ग्रहण करे यह परमहंस का मुख्य धर्म कहा है अतएव उस का उत्तरीय का त्याग आदि सम्भव होता है ।

“येन केन चिदाच्छन्नो येन केन चिदाशितः ।

यत्रकचनशायी स्यात् तं देवा ब्राह्मणं विदुः” ॥  
देहनिर्वाहायाशनाच्छादनस्थानापेक्षायामप्यशनादिगतौ गुणदोषौ नोत्पद्येते । उदरपूरण-पुष्ट्यादिरूपस्य निर्वाहस्य समत्वान्निष्प्रयोजनस्य गुणदोषविचारस्य चित्तदोषत्वात् ।

अतएव भागवते पठ्यते—

अर्थः—प्रारब्धद्वारा जो मिले उस वस्त्र से शरीरको ढाकनेवाला, जो कुछ अन्नपानादि मिले उमी पर निर्वाह करनेवाला, और जिस किसी जगह रात्रि में सोनेवाला जो पुरुष, उस

को देवगण ब्राह्मण कहते हैं ।

शरीर के निर्वाह के लिये अन्न, वस्त्र, शयन, स्थान आदि की अपेक्षा होने पर भी “यह ठीक है और यह ठीक नहीं” इस प्रकार की अन्नादिको में, जीवन्मुक्त पुरुष की बुद्धि उपजती नहीं । उदर पूरण, शरीरपोषण, आदि शरीरनिर्वाह तो भले या बुरे अन्नपानादि से भी हो सकता है, इस लिये निष्प्रयोजन भोग्यपदार्थों के गुण दोष का विचार करना यह केवल चित्त का दोषरूप होने से विवेकी पुरुषको सागना योग्य है । अतएव भागवत के ११ वें स्कन्ध में भी कहा है—

“किं वर्णितेन बहुना लक्षणं गुणदोषयोः ।

गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः” इति ।

“कन्धाकौपीनवासास्तु दण्डधृग्ध्यानतत्परः ।

एकाकी रमते नित्यं तं देवा ब्राह्मणं विदुः” ॥

ब्रह्मोपदेशादिना प्राण्यनुजिघृक्षायामुत्तम-त्वज्ञापनेन श्रद्धामुत्पादयितुं दण्डकौपीनादिलिङ्गं धारयेत् ।

“कौपीनं दण्डमाच्छादनं च स्वशरीरोपभोगार्थाय लोकोपकारार्थाय च परिग्रहेत्” इति श्रुतेः । अनुजिघृक्षयाऽपि तदीयगृहकृत्यादिवार्ता न कुर्यात्, किंतु ध्यानपरो भवेत् ।

“तमेवैकं विजानथाऽऽत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ” इति श्रुतेः ।

अर्थः—गुण दोष के लक्षणों के बहुत वर्णन से क्या फल है ? ‘यह अच्छा है,’ ‘यह बुरा है,’ इस भांति गुण दृष्टि करनी, यह दोषरूप है । और इस प्रमाण से गुण दोष दृष्टि का त्याग.



का ध्यान परायण है ।

जिसके ध्यान में मोह नहीं है, जिसके वस्त्र हैं, जो दण्ड धारण करता है, जो ध्यान परायण है, और जो निरन्तर अकेला रहता है, जहाँ जिसको एकान्त रहने में आनन्द होता है उसको देवमय ब्राह्मण कहते हैं । ब्रह्मादि द्वारा प्राणियों पर अनुग्रह करने की इच्छा हो तो अपना उत्तम आश्रम है इस प्रकार भूत-प्रेतों के बोधार्थ उनकी अपने शरीर पर श्रद्धा उपजाने के लिये परमहंस दण्डादि चिह्नों को धारण करता है । क्योंकि—  
“लोपीन, दण्ड, और आच्छादन अपने शरीर के निर्वाह के लिये और लोकोपकार के लिये ग्रहण करे” ऐसा श्रुति कहती है । प्राणियों पर अनुग्रह करने के लिये इच्छा हो तो भी वह परमहंस अन्यो के साथ, उस के घर और संसारकी बातें न करे, किन्तु उपदेश के समय को छोड़ कर सब समय में वह ध्यानपरायण रहे । श्रुति भी कहती है— “उस एक आत्मा का ही ज्ञान सम्पादन करो, और अन्यवातों का त्याग करो” यहाँ अन्य शब्द से आत्मव्यतिरिक्त वाणी समझनी चाहिये ।

“तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।

नानुध्यायाद् बहुशब्दान् वाचोविगलपनं हि तत्” इति श्रुतेश्च ।

ब्रह्मोपदेशस्त्वन्या वाङ्मन भवतीति न विरोधी । तच्च ध्यानमेकाकित्वे निर्विघ्नं भवति ।

अतएव स्मृत्यन्तरेऽभिहितम् ।

अर्थः—धीर ब्रह्मज्ञानी पुरुष, उस आत्मा का ही ज्ञान सम्पादन कर निरन्तर प्रज्ञा को करे, अनात्म विषयक अनेक शब्दों का चिन्तन न करे, क्योंकि वह वाणी को भ्रम देने वा-

दा है । ब्रह्मोपदेश अन्यवाणी नहीं । अतएव वह जीवन्मुक्त पुरुष का विरोधी नहीं । परमात्मा का ध्यान अकेला रहने में निर्विघ्नता के साथ हो सकता है । इस लिये अन्य स्मृतियों में भी कहा है—

“एको भिक्षुर्यथोक्तः स्याद्दुर्गावेव भिक्षुनं स्मृतम् ।

त्रयो ग्रामः समाख्यात ऊर्ध्वं तु नगरायते ॥

नगरं नहि कर्त्तव्यं, ग्रामो वा, भिक्षुनं तथा ।

ग्रामवार्त्ता हि तेषां स्याद्विश्वावार्त्ता परस्परम् ॥

स्नेहपैशुन्यमात्सर्यं सैनिकपीनप्रवर्त्तनं ।

निराशिषमनारम्भं निर्ममस्कारसन्तुतिम् ॥

अक्षीणं क्षीणकर्माणि तं देवा ब्राह्मणं विदुः” ॥

विशिष्टैः संसारिभिः प्रणमतां पुरुषाणामा-

शीर्वादः प्रयुज्यते । यस्य यदपेक्षितं तं प्रति

तदभिवृद्धिप्रार्थनमार्शीः तथाच पुरुषाणां भि-

न्नरुचित्वात्तदभिमतान्वेषणे व्यग्रचित्तस्य लो-

कवासना वर्द्धते । सा च ज्ञानविरोधिनी ।

तथाच स्मृत्यन्तरम्—

अर्थः—शास्त्रानुसार अकेला भिक्षु (संन्यासी) का नाम भिक्षु (संन्यासी) है । दो भिक्षु (मिलकर रहने विचरने वाले) का नाम

भिक्षुन या जोड़ा है । तीन भिक्षुओं का संवाद गाँव कहलाता । और

तीन से अधिक भिक्षुओं का तो नगर नाम है । भिक्षुओं का न-

गर, ग्राम या जोड़ा न करे । क्योंकि ऐसा करने से उन में

परस्पर ग्राम या नगर की बातें होती हैं या भिक्षा की बातें

१ इस स्थलमें “ग्रामवार्त्तादि” के बदले “राजवार्त्तादि” यह पाठ मूलग्रन्थ का है । क्योंकि ज्ञानो विरोधता में वह पाठ (संन्यासी) पड़ा है जिसका अर्थ राजवार्त्ता वाणी आदि गया होता है ।



होते हैं। और मसीब रहने में परस्पर स्नेह, चुगलखोरी, मत्सर, आदि दोष उत्पन्न होते हैं। जो किसी को आशीर्वाद न दे, जो कोई उद्यम न करे, किसी को नमस्कार या स्तुति न करे, जो दीनता के बश में न हो और जिस के कर्मोंका क्षय हो गया है, उस को देवगण ब्राह्मण कहते हैं ॥

श्रेष्ठ संसारी पुरुष आपे को प्रणाम करनेवाले लोगों के लिये आशीर्वाद देते हैं। जिस को जिस पदार्थ की अपेक्षा होती उस के प्रति उस अपेक्षित पदार्थ की, ईश्वर से प्रार्थना करने का नाम आशीर्वाद है। जैसे जिस को सन्तान की अपेक्षा होती, उस के प्रणाम करने पर "ईश्वर तुम को पुत्र देवे" या ईश्वर तुम पुत्र वान् करे इस प्रकार के वचन मुख में बोलने का नाम आशीर्वाचन है। लोगों की भिन्न २ रुचि होने से सब की इच्छित वस्तु के खोज करने में व्यग्रचित्तवाला जीवन्मुक्त संन्यासी की लोकवासना प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त होती है, और वह ज्ञान की विरोधिनी होती है। योगवासिष्ठ में कहा है—

"लोकवासनया जन्तोः शास्त्रवासनयाऽपि च ।  
देहवासनया ज्ञानं यथावन्नैव जायते " ॥  
एतच्चाऽऽरम्भनमस्कारादिष्वपि द्रष्टव्यम् ।  
आरम्भः स्वार्थं परोपकारार्थं वा गृहक्षेत्रादि-  
सम्पादनप्रयत्नः । तावेतावाशीर्वादारम्भौ  
सुक्तेन त्याज्यौ । न चाऽऽशीर्वादाभावे प्रण-  
तानां नृणां खेदः शङ्कनीयः । लोकवासना-  
खेदयोः प्रथमोः परिहाराय निखिलाशीर्वादप्र-  
तिनिधित्वेन नारायणशब्दप्रयोगात् । आ-  
रम्भस्तु सर्वोऽपि दृष्ट एव । तथा च स्मृतिः—

अर्थ—लोकवासना, शास्त्रवासना, और देह की वासना के कारण जीव को यथार्थ ज्ञान नहीं होता। उद्यम और नमस्कार भी लोकवासना के वृद्धि का हेतु होनेसे ज्ञान का प्रतिवन्धक होता है। आरम्भ अर्थात् अपने या पराये के लिये गृह, क्षेत्रादिकों के सम्पादनार्थ यत्न ( उद्योग ) करना इन आरम्भ और नमस्कार को मुक्त पुरुष त्याग देवे ।

शङ्काः—जो मुक्त पुरुष ( आपे को ) प्रणाम करने वाले को आशीर्वाद न देवे, तो प्रणाम करने वाले के चित्त में खेद प्रतीत हो, अतएव आशीर्वाद देना आवश्यक है ।

समाधानः—लोकवासना न बढ़े और प्रणाम करने वाले के जी में खेद की प्रतीति न हो इस लिये सब आशीर्वाद के बदले जीवन्मुक्त पुरुष "नारायण" शब्द का प्रयोग करे और आरम्भ ( उद्यम ) तो सब ही बुरे हैं ।

अन्य स्मृति भी कहती है—

"सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवाऽऽवृताः"  
इति ।

नमस्कारोऽपि विविदिषासंन्यासिनोऽभिहितः—

अर्थः—जैसे धूप से अग्नि का प्रकाश सब ओर से छिप जाता उसी प्रकार सब ही उद्यम दोषों से आवृत होते हैं। इसी प्रकार नमस्कार भी विविदिषासंन्यासी के लिये विहित है—

"यो भवेत् पूर्वसंन्यासी तुल्यो वै धर्मतो यदि ।  
तस्मै प्रणामः कर्त्तव्यो नेतराय कदाचन" ॥  
तत्र पूर्वत्वधर्मतुल्यत्वविचारे चित्तं विनिष्-  
प्यते । अतएव नमस्कारमात्र एव बहवः क-  
लहायमाना उपलभ्यन्ते । तत्र विहितं वा-



नमस्कारैर्दर्शितम्—

अर्थ:—जिस ने अपने पूर्व संन्यास का ग्रहण किया है और प्रणामचरण में जो अपने तुल्य हो ऐसे संन्यासी को प्रणाम करना औरों को नहीं। इस वाक्य से भी विविदिपासंन्यास में नमस्कार का विधान किया गया है। विद्वत्संन्यास के लिये यह वाक्य नहीं है। क्योंकि “यह संन्यासी मुक्त से पूर्व क्यों कर हुआ? धर्म में मेरी बराबर किस रीति से है”? इत्यादि विचार द्वारा जीवन्मुक्त की बुद्धि विक्षेप को प्राप्त होती हैं। इसी से नमस्कार के निमित्त बहुत से संन्यासी परस्पर लड़मरते अर्थात् झगड़ते हुए पाये जाते हैं।

इस विषय में वार्त्तिक कार ने कहा है—

“प्रमादिनो बहिर्चिन्ताः पिशुनाः कलहोत्सुकाः।  
संन्यासिनोऽपि दृश्यन्ते दैवसन्दृषिताशयाः” इति।  
मुक्तस्य नमस्काराभावो भगवत्पादैर्दर्शितः—

अर्थ:—प्रमादी, बहिर्मुखवृत्तिवाले (संसारी कामों में मन देने वाले) चुगलखोर, झगड़ने में प्रीति करनेवाले इस प्रकार अपने दुर्देव से दुषित चित्तवाले संन्यासी भी बहुत से देखने में आते हैं। मुक्त पुरुष किसी को नमस्कार न करे यह बात श्री शङ्कराचार्य जीने भी कही है।

“नामादिभ्यः परे भूम्नि स्वाराज्येऽवस्थितो यदा।  
प्रणमेत्कं तदाऽऽत्मज्ञो न कार्यं कर्मणा तदा” इति।  
चित्तकालुष्यहेतोर्नमस्कारस्य प्रतिषेधेऽपि सर्वसाम्यबुद्ध्या प्रसादहेतुर्नमस्कारोऽभ्युपेयते।  
तथाच स्मृतिः।

अर्थ:—आत्मज्ञ पुरुष, जिस समय नामरूप से परे और

व्यापक ऐसे स्वरूप में अवस्थित होता है, तब यह किस को प्रणाम करे? किसी को नहीं। क्योंकि उस को कोई भी कर्म कर्तव्य नहीं रहता है। चित्त विक्षेप के हेतुरूप नमस्कार का निषेध होने पर भी सब पदार्थों में समब्रह्मबुद्धि से नमस्कार करनेका शास्त्र विधान कहता है।

श्रीमद्भागवत के ११ वें स्कन्ध में लिखा है—

“ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति।  
प्रणमेद्दण्डवद्भूमावाश्वचारण्डालगोखरम्” इति।  
स्तुतिर्मनुष्यविषया प्रतिषिध्यते न त्वीश्वर-  
विषया, तथाच बृहस्पतिस्मृतिः—

अर्थ:—‘सब में ईश्वर, जीवकलारूप से प्रवेश कर स्थित है, इस भाव से चाण्डाल श्वान (कुत्ता) बैल, गदहे पर्यन्त प्राणियों को भी भूमि पर प्रणाम करे। मनुष्य की स्तुति करने का निषेध है, ईश्वर की स्तुति का निषेध नहीं।

बृहस्पतिस्मृति का वचन है—

“आदरेण यथा स्तौति धनवन्तं धनेच्छया।  
तथा चेत् विश्वकर्त्तारं को न मुच्येत बन्धनात्”  
इति।

अक्षीणत्वमदीनत्वम्। अतएव स्मृतिः।

अर्थ:—जैसे मनुष्य, धन की अभिलाषा से आदर पूर्वक धनाढ्य पुरुष की स्तुति करता उस प्रकार यदि विश्वकर्ता की स्तुति करे, तो कौन नहीं इस संसार रूप बन्धन से मुक्त हो जावे? अक्षीणता अर्थात् दीनता का त्याग करे।

इस विषय में स्मृति भी कहती है—

“अलब्धवानविषादेत काले कालेऽशनं कश्चित्।



लब्ध्वा न हृष्येद्भूतिमान् उभयं दैवतान्वितम्”  
इति ।

क्षीणकर्मत्वं विधिनिषेधानधीनत्वम् ।

“निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः”  
इति स्मरणात् । एतदेवाभिप्रेत्य भगवताऽप्युक्तम् ।

अर्थ—योग्य समय पर कदाचित् अन्न न मिले तो, संन्या-  
सी को विपाद युक्त न होना चाहिये । और मिले तो, उस से  
धर्मवाला यति हर्षित भी न होवे । क्यों कि, अन्नादि का मिल-  
ना या न मिलना दोनों ही प्रारब्ध के अधीन है । क्षीणकर्मता  
अर्थात् विधि निषेध के बश होके वर्त्ताव न करे, क्यों कि  
त्रिगुणातीत मार्ग पर चलने वाले पुरुषको क्या विधि क्या निषेध  
होता ? नहीं होता ऐसा स्मृति कहती है ।

इसी अभिप्राय से श्रीकृष्ण जी ने गीता में कहा है—

“त्रैगुणविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ? ।  
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्”  
इति ।

नारदः—

“स्मर्त्तव्यः सततं विष्णु  
विस्मर्त्तव्यो न जातु चित् ।  
सर्वे विधिनिषेधाः स्यु  
रेतयोरेव किंकरा” इति ॥

“योऽहेरिव गणाद्भीतः सन्मानान्नरकादिव ।  
कुणपादिव यः स्त्रीभ्यस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः” ॥  
राजवार्तादि तेषां स्यादित्युक्तत्वात्सर्पवत्

गणाद्भीतिरुत्पद्यते, सन्मानस्याऽऽसक्तिका-  
रणतया पुरुषार्थविरोधित्वान्नरकवच्छेदत्वम् ।  
अत एव स्मृतिः ।

अर्थ—वेद ( कर्मकाण्डात्मक ) सत्त्वगुण, रजोगुण, और  
तमोगुणरूप जो संसार के विषयमुख उन को प्रकाश करानेवाले  
हैं । अर्जुन ! तू तो निष्काम हो और परस्पर विरोधी सुख दुःखा-  
दि पदार्थों से मुक्त हो, नित्य धैर्य को धारण कर, यह पदार्थ  
कैसे मिलेगा ? यह कैसे रहेगा ? इस चिन्ता को छोड़ और आ-  
त्मवान् अर्थात् प्रमाद से रहित हो । भगवान् नारद का वचन  
है—निरन्तर विष्णु का स्मरण करे, किसी समय भी उसे  
भूले नहीं जो सदा विष्णु का स्मरण करना और कभी भी उसे  
भूलता नहीं, उस के तो विधि और निषेध दास हो रहे हैं ।  
सर्प के समान जो गण ( समूह भीड़ ) से भय करता, नरक के  
तुल्य जो सम्मान ( आदर ) से डरता, गुर्दे के समान जो स्त्री  
को छूने से डरता उसे देव गण ब्राह्मण कहते हैं ।

राजसम्बन्धी वार्ता आदि उन में होती है इत्यादि कथन से  
सर्प का जैसे भय, जन समूह से जिन को उत्पन्न होता है । स-  
म्मान यह आसक्ति होने का हेतु होने से मोक्षरूप परम पुरुषार्थ  
का विरोधी है । अत एव नरक के तुल्य त्याज्य है ।

अन्य स्मृति में भी कहा है—

“असन्मानात्तपोदृढिः सन्मानात्तपःक्षयः ।  
अर्चितः पूजितो विप्रो दुग्धा गौरिव सीदति” ॥  
एतदेवाभिप्रेत्यावमान उपादेयतया स्मर्त्तते ।

अर्थ—अपमान से तप की दृढ़ि होती है । और सम्मान  
से तप का क्षय होता है । अत एव सर्वत्र पूजन को राय से स-



एक ही स्मृति में अपमान को यत्नियों के  
निमित्त (अपमान) उपादेय गिना है—  
“यथाचरेत्तु यो गीर्वा सतां धर्ममदृश्यन् ।  
जनायथाऽवमन्येरन् गच्छेयुर्नैव सङ्गतिम्” इति ॥

तथापि द्विविधो दोषः प्रतिपिद्धत्वं जुगुप्सि-  
तत्वं चेति । तत्र कदाचिद् रागात्प्रारब्धव-  
त्तात्पर्यम् । तदेतदभिप्रेत्याऽऽह स्मृतिः ।

अर्थः—सत्पुरुषों के धर्मको दूषित न करनेवाला योगी इस  
संसार में इस प्रकार का आचरण करे कि जिससे इतर लोग  
उस का अपमान करे और उस का सङ्ग न करे ।

स्त्री में दो प्रकार का दोष होता है, जिन में से एक वह  
दोष है जिन का शास्त्रों में निषेध है, दूसरा वह है जो शास्त्र में  
निन्दित है इन में कोई उत्कट पाप प्रारब्ध के योग में उत्पन्न  
होके रागवशात् कदाचिद् कोई अल्प धैर्यवान् पुरुष से निषेध  
का उल्लङ्घन हो जाता है ।

इसी लिये अन्य स्मृति कहती है—

“मात्रा स्वस्त्रा दुहित्रा वा  
नैकशय्यासनो भवेत् ।  
बलवानिन्द्रियग्रामो  
विद्वांसमपि कर्षति” ॥

तथाच स्मृतिभिर्जुगुप्सा दर्शिता ।

अर्थः—मा, बहिन, और लड़की के साथ भी एक या बहुत  
समीप बिछावन पर न सोवे और एक आसन पर न बैठे । क्योंकि  
बलवान् इन्द्रियों की समृद्ध विद्वानों को विषय के ओर शुकती है ।

स्त्री में जुगुप्सादोष का निरूपण स्मृतियों ने किया है ।

“स्त्रीणामवाच्यदेशस्य ह्यिहनाडीवणस्य च ।  
अभेदेऽपि मनोभेदाज्जनः प्रायेण वञ्च्यते” ॥  
चर्मखण्डं द्विधा भिन्नमपानोद्गारधूपितम् ।  
ये रमन्ति रनास्तत्र कृमितुल्याः कथं न ते” ॥  
अतः प्रतिषेधजुगुप्सयोर्बभूवोर्विवक्षया कु-  
णपट्टान्तोऽत्राभिहितः ।

अर्थः—स्त्री का गुह्यभाग ( जननेन्द्रिय ) और आर्द्रनाडी  
व्रण में कोई भेद न होने पर भी मन की वृत्ति के कारण प्रायः  
लोग धोखा खाते हैं । अपान वायु मल त्याग का मार्ग के दुर्गन्ध  
में दूषित, चमड़े के दो अलग २ टुकड़ा रूप स्त्री के गुह्यस्थान  
में जो पुरुष रमण करते हैं, वे कीड़े के समान क्यों न हैं ? कृमि  
तुल्य ही हैं ।

इससे स्त्री के शरीर को स्पर्श करने का निषेध है, और उ-  
समें जो निन्द्यत्वरूप दोष स्थित है, इन दोनों दोषों के कारण  
स्त्री का शरीर मुर्दे के समान है ।

“येन पूर्णमिवाऽऽकाशं भवत्येकेन सर्वदा ।  
शून्यं यस्य जनाकीर्णं तं देवा ब्राह्मणा विदुः” ॥  
संसारिणामेकाकित्वेनावस्थानं भयात्तस्या-  
दिहेतुत्वाद्दर्जम् । जनसम्बन्धव्याप्त्याविध-  
त्वादभ्युपेयः । योगिनस्तु तद्विपरीतत्वमेका-  
कित्वे सत्यविद्येन ध्यानात्पुनरपि परिपूर्णत-  
परमानन्दात्मना सर्वगाकाशं पूर्णमिवावस्था-  
सते । अतो भयात्तस्य शोकाशोहादयो न भवन्ति ।

अर्थः—अद्वितीय आत्मा से सम्पूर्ण आकाश जिस को



सारा पूर्वमा भासता है और जिस को जनसमूह वाला स्थान जनसंघी स्थान की नाई प्रतीत होता है, उसे देवगण ब्राह्मण कहते हैं।

संसारी जीव को एकान्तवास, भय आलस्यादि का कारण होने से वर्ज्य है और जनसम्बन्ध वैसा न होने से उसे ग्राह्य है। योगी को इस का उलटा है। अर्थात् निर्जन स्थान में स्वयं अकेला होने से निर्विघ्नता से वह ध्यान कर सकता है, जिस से उस को परिपूर्ण परमानन्द स्वरूप परमात्म तत्त्वद्वारा सम्पूर्ण आकाश पूर्ण के समान भासता है, इस से उस को एकान्त प्रदेश में संसारी के तुल्य भय आलस्यादिदोष नहीं होते।

इसविषय में श्रुति कहती है—

“यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः”

इति श्रुतिः।

जनाकीर्णमिति जनसहितं स्थानं राजवार्त्ता-  
दिना ध्यानविरोधित्वादात्मप्रतीतिरहितं त-  
च्छून्यमिव चित्तं क्लेशयति। जगतो मि-  
थ्यात्वादात्मनः पूर्णत्वाच्चेत्यर्थः।

अतिवर्णाश्रमी सूतसंहितायां मुक्तिखण्डे  
पञ्चमाध्याये परमेश्वरेण वर्णितः।

अर्थ—जिस में सब भूत आत्मा ही हैं, ऐसे ज्ञानी पुरुष को और एकताका अनुभव करने वाले योगी को शोक या मोह कैसे हो ? अर्थात् नहीं होते।

जन वाले स्थान में राजा की या अन्य के विषय में बात होने से, वह स्थान, आनन्द स्वरूप आत्मा के प्रतीतिरहित शू-

न्यसा चित्त को क्लेश पहुंचाता है, क्योंकि जगत् मिथ्या है, और आत्मा पूर्ण है।

अतिवर्णाश्रमी, इस संज्ञा से जीवन्मुक्त पुरुष का वर्णन सूत संहिता के मुक्ति खण्ड के वें अध्याय में किया गया है—

“ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।

अतिवर्णाश्रमी तेऽपि क्रमाच्छ्रेष्ठा विचक्षणाः” ॥

अर्थ—ब्रह्मचारी से गृहस्थ, गृहस्थ से वानप्रस्थ, वानप्रस्थ से संन्यासी ( विविदिपासंन्यासी ) और संन्यासी से अतिवर्णाश्रमी ( जिस ने ज्ञानद्वारा वर्णाश्रम धर्मों का त्याग कर दिया ) इस प्रकार उत्तरोत्तर एक दूसरे से श्रेष्ठ है और सब से अतिवर्णाश्रमी श्रेष्ठ है।

अतिवर्णाश्रमी प्रोक्तो गुरुः सर्वाधिकारिणाम्।

न कस्यापि भवेच्छिष्यो यथाऽहं पुरुषोत्तम ? ॥

अर्थ—हे पुरुषोत्तम—शिष्यो ? अतिवर्णाश्रमी, सब अधिकारी पुरुषों का गुरु है, जैसा मैं ( सदाशिव ) किसी का शिष्य नहीं, इसी प्रकार वह भी किसी का शिष्य नहीं।

“अतिवर्णाश्रमी साक्षाद् गुरुणां गुरुरुच्यते।

तत्समो नाधिकश्चास्मिँल्लोकेऽस्त्येव न संशयः ॥

अर्थ—अतिवर्णाश्रमी साक्षात् गुरुओं का गुरु कहा जाता है, इस लोक में, उस के तुल्य या उस से अधिक है नहीं, इस में संशय नहीं।

“यः शरीरोन्द्रियादिभ्यो विभिन्नं सर्वसाक्षिणम्।

पारमार्थिकविज्ञानं सुखात्मानं स्वयम्प्रभम् ॥

परं तत्त्वं विजानाति सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत्” ॥

अर्थ—शरीर इन्द्रियों से भिन्न, सब का साक्षी, नित्यज्ञान-



रूप, सुखस्वरूप और स्वयम्प्रकाश इस परम तत्त्व को जो जानता वह अतिवर्णाश्रमी कहलाता है।

“यो वेदान्तमहावाक्यश्रवणेनैव केशव ?।

आत्मानमीश्वरं वेद सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥

योऽवस्थाश्रयनिर्मुक्तमवस्थासाक्षिणं सदा।

महादेवं विजानाति सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत्” ॥

अर्थ—हे केशव ! जो पुरुष वेदान्त के महावाक्य के श्रवणद्वारा ही अपने आत्मा को ईश्वर से अभिन्न अनुभव करता वह अति वर्णाश्रमी कहाता है। जो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं से रहित और सदा इन तीनों अवस्थाओं का साक्षी महादेव को जानता है, वह अतिवर्णाश्रमी होता है।

“वर्णाश्रमादयो देहे मायया परिकल्पिताः।

नाऽऽत्मनो बोधरूपस्य मम ते सन्ति सर्वदा ॥

इति यो वेदवेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत्” ॥

अर्थ—वर्णाश्रमादिक देह का विषय है, आत्मा में देह-रूप उपाधि के सम्बन्ध के कारण आविद्याद्वारा कल्पित है। मैं जो बोध स्वरूप हूँ, उस का किसी काल में भी वर्णाश्रमादि धर्म नहीं, ऐसा जो वेदान्त वाक्य द्वारा जानता है, अतिवर्णाश्रमी होता है।

“आदित्यसन्निधौ लोकश्चेष्टते स्वयमेव तु।

तथा मत्सन्निधावेव समस्तं चेष्टते जगत् ॥

इति यो वेद वेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥”

अर्थ—जैसे प्रातः काल में सूर्य भगवान् के उदय होते ही, उस समय सूर्य की सन्निधि में लोग अपने आप तिज २ कामों में लग जाते हैं, व्यापार करना इस प्रकार जो वेदान्त के

वाक्य द्वारा जानता वह अतिवर्णाश्रमी होता है।

“सुवर्णहारकेयूरकटकस्वस्तिकादयः।

कल्पिता मायया तद्वज्जगन्मय्येव सर्वदा ॥

इति यो वेद वेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत्” ॥

अर्थ—जैसे सुवर्ण में हार, वाज्रवन्द, कडा, और स्वस्तिकादि आकृति कल्पित हैं, उसी प्रकार सारा जगत् मुझ में ही कल्पित है इस प्रकार जो वेदान्तवाक्य द्वारा जानता है वह अति वर्णाश्रमी होता है।

“शुक्तिकायां यथा तारं कल्पितं मायया तथा।

महदादि जगन्मायामयं मय्येव कल्पितम् ॥

इति यो वेद वेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत्” ॥

अर्थ—जैसे शीप में रूपा आविद्या करके कल्पित है, उसी प्रकार यह महत्तत्त्व आदि मायामय सारा जगत् मुझ में कल्पित है, ऐसा जो वेदान्त वाक्यद्वारा जानता है, वह अतिवर्णाश्रमी होता है।

“चण्डालदेहे पश्वादिशरीरे ब्रह्मविग्रहे।

अन्येषु तारतम्येन स्थितेषु पुरुषोत्तम ? ॥

व्योमवत्सर्वदा व्याप्तः सर्वसम्बन्धवर्जितः।

एकरूपो महादेवः स्थितः सोऽहं परामृतः ॥

इति यो वेद वेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत्” ॥

अर्थ—हे पुरुषोत्तम ! चाण्डाल के देह में, पशु आदि के शरीर में, और ब्राह्मणशरीर में, उसी तरह परस्पर विलक्षणता से स्थित अन्य पदार्थों में, आकाश के समान सदा व्याप्त, एकरूप, जो महान् परमात्मा देव स्थित है, वह मरणधर्म रहित मैं हूँ। इस प्रकार जो वेदान्तवाक्यद्वारा जानता है, वह अतिवर्णाश्रमी होता है।



“यथा स्वप्ने प्रपञ्चोऽयं मयि मायाविजृम्भितः ।  
तथा जाग्रत् प्रपञ्चोऽपि मयि मायाविजृम्भितः ॥  
इति यो वेद वेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत्” ॥

अर्थः—जिस पुरुष को दिङ्मोह (दिशा की भ्रान्ति) हो जाती उसे सूर्यादि की गति अवलोकन से उस मोह के छूट जाने परभी संस्काररूप होने से जैसे प्रतीत होता है, उसी प्रकार, यह विश्वज्ञान करके नाश होने पर भी मुझ को केवल मायाम रूप में भासता है, वस्तुतः जगत कुल नहीं है। इस प्रकार जो वेदान्त वाच्य कर के जानता है, वह अतिवर्णाश्रमी होता है।

“यथा स्वप्ने प्रपञ्चोऽयं मयि मायाविजृम्भितः ।  
तथा जाग्रत् प्रपञ्चोऽपि मयि मायाविजृम्भितः ॥  
इति यो वेद वेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत्” ॥

अर्थः—जैसे यह स्वप्न प्रपञ्च मुझ में माया कल्पित है। उसी प्रकार यह जाग्रत् प्रपञ्च भी मुझ में माया कल्पित है, इस प्रकार जो वेदान्तवाक्य द्वारा जानता है, वह अतिवर्णाश्रमी होता है।

“यस्य वर्णाश्रमाचारो गलितः स्वात्मदर्शनात् ।  
स वर्णाश्रमान् सर्वानतीत्य स्वात्मानि स्थितः ॥  
इति यो वेद वेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत्” ॥

अर्थः—आत्म साक्षात्कार होने के पश्चात् जिसका वर्ण और आश्रम का आचार निवृत्त होगया है। वह पुरुष सब वर्ण तथा आश्रम को अतिक्रम कर अपने आत्मा में स्थित है।

आत्मा का साक्षात्कार द्वारा देहादि अभिमान निवृत्त होने से देह के साथ उस का वर्णाश्रमादि धर्मों का भी उस मुक्त पुरुष को अतिक्रमण हो जाने से वह अतिवर्णाश्रमी होता है। परन्तु उस स्थिति की प्राप्ति के बिना प्रसाद, आलस्यादि दोष

वश वर्तने वाला, जिस पुरुष ने वर्णाश्रमाचार का त्याग किया है, वह पतित है।

“यस्त्यक्त्वा स्वाश्रमान् वर्णानात्मन्येव स्थितः पुमान् ।  
सोऽतिवर्णाश्रमी प्रोक्तः सर्ववेदार्थवेदिभिः” ॥

अर्थः—जो अपने वर्णाश्रम के अभिमान को छोड़ कर केवल स्वरूप में ही स्थित है, उस को सब वेदान्तवेत्ता पुरुष अतिवर्णाश्रमी कहते हैं।

“न देहो नेन्द्रियं प्राणो न मनो बुद्ध्यहंकृती ।  
न चित्तं नैव माया च न च व्योमादिकं जगत् ॥  
न कर्त्ता नैव भोक्ता च न च भोजयिता तथा ।  
केवलं चित् सदानन्दो ब्रह्मैवाऽऽत्मा यथार्थतः ॥  
जलस्य चलनादेव चञ्चलत्वं यथा रवेः ।

तथाऽहङ्कारसंसारदेव संसार आत्मनः ॥  
तस्मादन्यगता वर्णा आश्रमा अपि केशव ? ।  
आत्मन्यारोपिता एव भ्रान्त्या ते नात्मवेदिनः” ॥

अर्थः—आत्मा देह नहीं, इन्द्रिय नहीं, प्राण नहीं, मन नहीं, बुद्धि नहीं, अहङ्कार नहीं, चित्त नहीं, माया नहीं, आकाशादि जगत नहीं, कर्त्ता नहीं, भोक्ता नहीं, भोगवानेवाला नहीं, वह तो यथार्थ दृष्टि से केवल सत् चित् आनन्द ब्रह्मरूप है। जैसे जल के डोलने से प्रतिबिम्बरूप जल में स्थित सूर्य में चञ्चलता प्रतीत होती, उसी प्रकार सारा जगत् अहङ्कार में होके उस के तादात्म्याध्यास से आत्मा में मिथ्या प्रतीत होता। अत एव हे केशव ? वर्ण और आश्रम जो अन्य का [ अहङ्कार का ] धर्म है, वह केवल अज्ञजन को भ्रान्ति करके आत्मा में आरोपित है; अतएव आत्मज्ञ पुरुषको नहीं।



नान्यथा न विवेकश्च न वर्ज्यावर्ज्यकल्पना ।  
 ज्ञानविज्ञानिनामस्ति तथा नान्यजनार्दन ! ॥  
 आत्माविज्ञानिनां निष्ठामहं वेदाम्बुजेक्षण ! ।  
 माया मोहता मर्त्या नैव जानन्ति सर्वदा ॥  
 न मांसमधुवा निष्ठा ब्रह्मविज्ञानिनामियम् ।  
 त्वं शक्या स्वतः सिद्धा विदुषां सैव केशव ? ॥  
 यत्र सुखा जना नित्यं प्रयुज्यस्तत्र संयमी ।  
 प्रयुजा यत्र ते । वदन् सुपुत्रस्तत्र केशव ! ॥  
 एवमात्मानमहम् निर्विकारं निरञ्जनम् ।  
 नित्यशुभं निराभासं चिन्मात्रं परमावृतम् ॥  
 यो विजानाति वेदान्तैः स्वानुभूत्या च निश्चितम् ।  
 सोऽतिवर्णाश्रमी प्रोक्तः स एव गुरुत्तमः" इति ।  
 तदेवं "विमुक्तश्च विमुच्यते" इत्यादि श्रुतयो  
 जीवन्मुक्तस्थितप्रज्ञभगवद्भक्तगुणातीतब्रा-  
 ह्मणातिवर्णाश्रमिप्रतिपादकस्मृतिवाक्यानि  
 च जीवन्मुक्तिसद्भावे प्रमाणानीतिस्थितम् ।  
 इति श्रीमद्विद्यारण्यप्रणीते जीवन्मुक्ति-  
 विवेके प्रथमं जीवन्मुक्तिप्रमाण-  
 प्रकरणम् ॥ १ ॥

अर्थः—आत्मज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुष को विधि नहीं, निषे-  
 ध नहीं, वर्ज्य, अवर्ज्य की कल्पना नहीं, उसी प्रकार हे जनार्द-  
 न ! अन्य लौकिक व्यवहार भी नहीं, हे कमल समाननेत्रवाले  
 विष्णो ! आत्मज्ञानी की निष्ठा को मैं जानता हूँ, माया के मो-  
 हनशतः जीव किसी काल में भी नहीं जान सकता । ब्रह्मवि-

पुरुष की यह निष्ठा केवल मांसमय नेत्र करके देखी नहीं जा  
 सकती । हे केशव ! विद्वान् पुरुष की यह स्वतः सिद्ध निष्ठा है ।  
 जिस समय मनुष्य सोता है, उस समय विद्वान् जागता है, और  
 जिस समय विद्वान् सोता है, उस समय मनुष्य जागता है । इस  
 भांति अद्वितीय, निर्विकार, निरावरण, निसंशुद्ध, आभासरहित,  
 चैतन्यस्वरूप, और सदा मरणधर्मरहित ऐसे आत्मा को जो  
 पुरुष वेदान्तवाक्यद्वारा और अपने अनुभव से साक्षात् अनुभव  
 करता है, वहीं निश्चय अतिवर्णाश्रमी कहलाता है और वहीं  
 उत्तम गुरु है ।

इस रीति से 'विमुक्तश्च विमुच्यते' इत्यादि पूर्वोक्त श्रुतिवच-  
 न का तथा जीवन्मुक्त, गुणातीत, ब्राह्मण, और अतिवर्णाश्रमी  
 के स्वरूप का प्रतिपादन करनेवाले स्मृतिवाक्य जीवन्मुक्ति के  
 सद्भाव में प्रमाणरूप से हैं ।

इस भांति जीवन्मुक्तिप्रमाण प्रकरण समाप्त हुआ ।



॥ श्रीः ॥

अथ द्वितीयं वासनाक्षयप्रकरणम् ।

अथ जीवन्मुक्तिसाधनं निरूपयामः । तत्त्व-  
ज्ञानमनोनाशवासनाक्षयास्तत्साधनम् । अतः  
एष वासिष्ठरामायण उपशमप्रकरणस्याव-  
साने “जीवन्मुक्तशरीराणाम्” इत्यास्मिन्प्र-  
स्तावे वसिष्ठ आह—

“वासनाक्षयविज्ञानमनोनाशा महामते ? ।

समकालं चिराभ्यस्ता भवन्ति फलदायिनः” इति॥  
अन्वयमुक्त्वा व्यतिरेकमाह—

अर्थः—अब जीवन्मुक्ति के साधन का निरूपण करते हैं ।  
तत्त्वज्ञान वासनाक्षय और मनका नाश ये तीनों मिलकर जीव-  
न्मुक्ति के साधन हैं । इसी लिये योगवासिष्ठ के उपशम प्रकरण  
के अन्त में जीवन्मुक्ति का वर्णन है—

हे महामति रामचन्द्र ! वासनाक्षय, तत्त्वज्ञान, और मनोना-  
श को दीर्घकालपर्यन्त साथ २ सेवने से ये फल देने वाले  
होते हैं ।

वासनाक्षयादि तीन साधनों का अन्वय ( इन तीन के अ-  
भ्यास से जीवन्मुक्तिरूप फल होता है ) बताया, अब इन का  
व्यतिरेक ( इन तीनों का साथ २ अभ्यास न करने से पूर्वोक्त  
फल नहीं होता ) कहते हैं—

“त्रयमेते समं यावन्न स्वभ्यस्ता मुहुर्मुहुः ।

तावन्न पदसंप्राप्तिर्भवत्यपि समाशतैः” इति ॥

समकालाभ्यासाभावे बाधकमाह—

अर्थः—जबतक इन तीनों का वार २ भली भांति एक  
साथ अभ्यास न किया जावे, तब तक सैकड़ों वर्ष में भी पर-  
मात्मपद की प्राप्ति नहीं होती ।

तीनों का एक साथ अभ्यास न किये जाने पर उस में  
बाध (रूकावट) बतलाते हैं—

“एकैकशो निषेव्यन्ते यद्येते चिरमप्यलम् ।

तन्न सिद्धिं प्रयच्छन्ति मन्त्राः सङ्कलिता इव” इति॥

यथा सन्ध्यावन्दने मार्जनेन सह विनियुक्ता-  
नां “आपो हिष्ठा” इत्यादीनां तिसृणामृचां  
मध्ये प्रतिदिनमेकैकस्या ऋच पाठे शास्त्रीया-  
नुष्ठानं न सिध्यति । यथा वा षडङ्गमन्त्रा-  
णामेकैकमन्त्रेण न सिद्धिः । यथावा लोके  
शाकसूपौदनादीनामेकैकेन न भोजनसिद्धि-  
स्तद्वत् । चिराभ्यासस्य प्रयोजनमाह—

अर्थः—यदि इन में से एक २ का अलग २ बहुत दिनों  
तक भली भांति सेवन किया जाय तौ भी वे, एक कर्म में सह  
विनियुक्त मन्त्रों के समान फल देते नहीं ।

जैसे सन्ध्यावन्दन में मार्जन के लिये एक साथ विनियोग  
कियी हुई तीन ऋचायें हैं, उन में से प्रतिदिन एक २ ऋचा को  
पढ़ने से यथा शास्त्र मार्जन कर्म सिद्ध नहीं होता । तथा जैसे  
श्रीसदाशिव के ऊपर अभिषेक करने में विनियुक्त षडङ्ग मन्त्रों  
में से प्रतिदिन एक २ मन्त्र करके अभिषेक करने से अभिषेक  
रूप शास्त्रीय कर्म की यथार्थ सिद्धि नहीं होती । और जैसे ज-  
गत् में शाक, दाल, भात, आदि को में से केवल एक ही पदार्थ



अर्थः—व्यर्थ भोजन की सिद्धि नहीं होती है। उषी-  
कार वासना तत्त्वज्ञान, और मन के नाश में से एक न  
अलग २ भोजन करने में जीवन्मुक्तिकर अर्थः किन्तु  
सिद्धि नहीं होती है।

विरकात् तत्त्वज्ञान करने का प्रयोजन कहते हैं—

विमिमेक्षितान्तरैर्दृष्ट्यग्रन्थयो हृदाः ।

निःशङ्कमेव ब्रुवन्ति विसच्छेदाद्गुणा इव” इति  
नन्दैव व्यतिरेकमाह—

अर्थः—तत्त्वज्ञान आदि पूर्वोक्त तीनों के चिरकाल तक  
अभ्यास करने से हृदय की दृढ़ गाँठें, जैसे कमल दण्ड को के-  
दने में इनके दृढ़ दृढ़ जाने, उसीप्रकार दृढ़ जाती इस में कोई  
सन्देह नहीं।

उसी पूर्वोक्त अर्थ को व्यतिरेक के द्वारा बतलाते हैं—

“जन्मान्तरशतान्वस्ता राम ? संसारसंस्थितिः ।

मा चिन्तयन्त्यासयोगेन विना न क्षीयते कश्चित्” इति

न केवलमेकैकाभ्यासे फलाभावः किन्तु नन्व-  
त्पमपि न सिध्यतीत्याह—

अर्थः—हे राम ! अनेक जन्मों से परिचित जो संसार की  
स्थिति है वह तत्त्वज्ञान आदि तीनों के दीर्घकाल तक अभ्यास  
विना कभी नहीं तप को प्राप्त हो सकती है।

तत्त्वज्ञान, मनोनाश, और वासनाक्षय में से केवल एक  
का अभ्यास २ अभ्यास करने में कोई फल नहीं होता, इतना ही  
नहीं बल्कि उस प्रत्येक स्वयं की भी सिद्धि नहीं होती  
इस बात को कहते हैं।

“तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय एव च ।

नियः कारणतां गत्वा दुःसाध्यानि स्थितानि  
हि” इति ॥

अपानामेनेपां मध्ये द्वयोर्द्वयोर्मेन्दनेन त्रीणि  
इत्यादि भवन्ति । तत्र मनोनाशवासनाक्षय-

इत्यान्योन्यकारणत्वं व्यतिरेकसुखेनाऽऽह—

अर्थः—तत्त्वज्ञान, मनोनाश, और वासनाक्षय, ये तीनों  
परस्पर कारणता को पाकर, वे प्रत्येक असाध्य हैं।

इन तीनों में से दो-दो का योग करने में तीन युग्म (जोड़ा)  
होते हैं। उन में मनोनाश वासनाक्षय नाम के जोड़े का पर-  
स्पर कारणता को व्यतिरेक \* द्वारा बतलाते हैं।

“यावद्विलीनं न मनो न तावद्वासनाक्षयः ।

न क्षीणा वासना यावच्चित्तं तावन्न शान्त्यनि” ॥

प्रदीपज्वालासन्तानवद्भृत्तिसन्तानरूपेण प-

रिणतमानमन्तःकरणद्रव्यं मननात्मकत्वान्म-

न इत्युच्यते । तस्य नाशो नाम दृष्टिरूप-

परिणामं परिच्यज्य निरुद्धत्वाकारेण परि-

णामः । तथाच पतञ्जलियोंगशास्त्रे सूत्रवा-

मास—

“व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावा

निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः” इति ।

व्युत्थानसंस्कारा अभिभूयन्ते । निरोधसं-

स्कारा प्रादुर्भवन्ति । निरोधयुक्तः क्षणश्चि-

त्तेनान्वीयते । सोऽयं मनोनाश इत्यवगन्तव्य-

\* तत्त्वज्ञान के लक्ष्माय को ‘अन्वय’ और परस्पर के अभाव के  
परस्पर के अभावको ‘व्यतिरेक’ कहते हैं।



म । पूर्वापरपरामर्शमन्तरेण सहसोत्पद्यमान-  
त्य क्रोधादिवृत्तिविशेषस्य हेतुश्चित्तगतः सं-  
स्कारो वासना । पूर्वपूर्वाभ्यासेन चित्ते वा-  
समानत्वात् । तस्याश्च वासनायाः क्षयां नाम  
विवेकजन्यायां शान्तिदान्तिशुद्धवासनायां  
दृढायां सत्यपि बाह्यनिमित्ते क्रोधाद्यनुत्प-  
त्तिः न च मनोनाशभावे वृत्तिपूत्पद्यमानासु  
कदाचिद्बाह्यनिमित्तेन क्रोधाद्युत्पत्तेर्नास्ति  
वासनाक्षयः । अक्षीणायां च वासनायां  
तथैव वृत्त्युत्पादनाच्चास्ति मनोनाशः । तत्त्व-  
ज्ञानमनोनाशयोः परस्परकारणत्वं व्यतिरे-  
कमुखेनाऽऽह—

अर्थः—जब तक मन का विलय नहीं होता, तब तक वा-  
सनाओं का क्षय नहीं होता, उसी प्रकार जब तक वासनायें  
क्षीण नहीं होती, तब तक चित्त भी शान्त नहीं होता है ।

दीप के टेम के समान वृत्तिनामक टेम या सन्तानरूप में  
परिणाम को प्राप्त हो अन्तःकरण नामक द्रव्य मनरूप होने से  
मन कहलाता है । इस का नाश अर्थात् वृत्तिरूप परिणाम नि-  
वृत्त होने से उस का निरुद्धाकार परिणाम हो जाता है ।

यह बात भगवान् पतञ्जलि ने सूत्र में कही है—

जब चित्तगत व्युत्थानसंस्कार (स्फुरण होना संस्कार) शान्त  
हो जाता, और निरोध संस्कार प्रकट होता है, तब चित्त निरो-  
धयुक्त के अनुकूल होता है, यह चित्त का निरोधपरिणाम क-  
हाता है ।

इस प्रकार के चित्त के निरोध परिणाम को ही मनोनाश

मनश्च । पूर्वापर विचार किये बिना अकस्मात् अन्तःकरणमें से  
उठी हुई क्रोधादिवृत्तियों का हेतुरूप जो चित्तगत संस्कार है उस  
की वासना यह संज्ञा है । पूर्व पूर्व के अभ्यास द्वारा संस्कार  
चित्त में स्थित होता है, अतएव संस्कार वासना कहाती है ।  
उस वासना का क्षय अर्थात् विवेकजन्य शम दम आदि शुद्ध  
वासनाओं के दृढ होने से बाह्य उद्बोधक निमित्त समीप होने  
पर भी क्रोधादि की अनुत्पत्ति होती है । अब जो मनोनाश के  
अभाव से वृत्तियां उत्पन्न होती हों तो कदाचित् बाह्य निमित्त क-  
रके क्रोधादि की उत्पत्ति से वासना का क्षय नहीं होता । उसी  
प्रकार वासना का क्षय न हो तो वासना वशतः वृत्तियों का  
स्फुरण होने से मन का नाश नहीं होता है । इस लिये दोनों  
का एकसाथ अभ्यास करना आवश्यक है ।

तत्त्वज्ञान और मनोनाश की परस्पर कारणता व्यतिरेक  
द्वारा बतलाते हैं—

यावन्न तत्त्वविज्ञानं तावच्चित्तशमः कुतः ।

यावन्न चित्तोपशमो न तावत्तत्त्ववेदनं” इति ॥

इदं सर्वमात्मैव प्रतीयमानं रूपरसादिकं ज-  
गन्मायामयं न त्वेतद्वस्तुतोऽस्तीति निश्चय-  
स्तत्त्वज्ञानम् । तस्याऽनुत्पत्तौ रूपरसादिवि-  
पयाणां सद्भावे सति तद्गोचराश्चित्तवृत्तयो  
न निवारयितुं शक्यन्ते । यथा प्रक्षिप्यमाणे-  
ष्विन्धनादिषु वन्निहज्वाला न वार्यन्ते तद्वत् ।  
असति च चित्तोपशमे वृत्तिभिर्गुल्यमाणेषु  
रूपादिषु सत्सु “नेहनानाऽस्ति किञ्चन”  
इति श्रुते “र्यजमानः प्रस्तर” इत्यादेरिव प्र-



वासनाक्षयप्रकरणम् ।  
तत्त्वज्ञाननिश्चयो नोदिषात् ।

वासनाक्षयतत्त्वज्ञानयोः परस्परकारणत्वं व्य-

क्तम् ।

अर्थः—जब तक तत्त्वज्ञान नहीं होता तब तक चित्त की शान्ति कहां से ? और जब तक चित्त की शान्ति नहीं तब तक तत्त्वज्ञान भी नहीं होता है ।

‘यह सब जो कुछ प्रतीत होता है, वह आत्मा ही है, रूपरसगन्धस्पर्श वस्तु आत्मक जगत्, मायामय है, वस्तुतः वह ही नहीं, उस प्रकार जो निश्चय उस का नाम ‘तत्त्वज्ञान’ है । जब तक तत्त्वज्ञान उत्पन्न नहीं होता तब तक रूपरसादि विषयों का सद्भाव ज्यों का त्यों बना रहने से, उस २ विषय का नाश हो नहीं सकता । जैसे अग्नि में इन्धन जब तक डालने जाते तब तक उस की ज्वाला की शान्ति नहीं होती उसी प्रकार “यजमानः प्रस्तरः” ( दर्भमुष्टि यजमान है ) इस वाक्य के सुनने द्वारा पुरुष को दर्भमुष्टि को अचेतन का और यजमान को चेतन का अनुभव होने से, उसको जैसे ‘यजमानः प्रस्तरः’ इस वाक्य के अर्थ में प्रत्यक्ष विरोध प्रतीत होता है, उसी प्रकार जब तक जिस पुरुष के मन का नाश नहीं होता है, तब तक उस पुरुष को प्रवृत्ति द्वारा विषयों को साक्षात् अनुभव होने से ‘नेह नानास्ति किञ्चन’ ( यहां कुछ भी नाना वस्तु नहीं है ) इस श्रुति में प्रत्यक्ष विरोध की शङ्का के उत्पन्न होने के कारण पूर्वोक्त श्रुति वाक्य में “अद्वितीय ब्रह्म है, उस से भिन्न अन्य किसी पदार्थ की सत्ता है ही नहीं ” इस प्रकार का तत्त्व निश्चय नहीं होता अब एव मन का नाश एवं तत्त्वज्ञान की पर-

कारणता व्यतिरेक द्वारा कथन किथी है ।

“यावन्न वासनानाशस्तावत्तत्त्वागमः कुतः ।

यावन्न तत्त्वसम्प्राप्तिर्न तावद्वासनाक्षयः ” इति॥

क्रोधादिव्वासनास्वनष्टास्तु शमादिसाधना-  
भावान्न तत्त्वज्ञानमुदेति । अज्ञाते चाद्वितीय-  
ब्रह्मतत्त्वे क्रोधादिनिमित्तस्य सत्यत्वभ्रमान-  
पायान्न वासना हीयते । तथोक्तानां त्रयाणां  
द्वन्द्वानामन्योन्यकारणत्वमन्वयमुखेन व्यमु-  
दाहरामः । मनसि नष्टे सति संस्कारोद्धोष-  
कस्य बाह्यनिमित्तस्याप्रतीतो वासना क्षीय-  
ते, चीणायां च वासनायां हेत्वभावेन क्रो-  
धादिवृत्त्यनुदयान्मनो नश्यति । तदिदं मनो-  
नाशवासनाक्षयद्वन्द्वम् । “ दृश्यते त्वग्न्यया  
बुद्ध्या ” इति श्रुतेरात्मैक्याभिमुखवृत्तेर्दर्श-  
नहेतुत्वादितरकृत्स्नवृत्तिनाशस्य तत्त्वज्ञान-  
हेतुत्वमवगम्यते । सति च तत्त्वज्ञाने मिथ्या-  
भूते जगति नरविषाणादाविव धीवृत्त्यनु-  
दयादात्मनश्च दृष्टत्वेन पुनर्वृत्त्यनुपयोगान्नि-  
रिन्धनाग्निरन्मनो नश्यति । तदिदं मनोनाश-  
तत्त्वज्ञानयोर्द्वन्द्वम् । तत्त्वज्ञानस्य क्रोधादि-  
वासनाक्षयहेतुतां वार्तिककार आह—

अर्थः—जब तक वासना का क्षय नहीं होता, तब तक त-  
त्त्वज्ञान की प्राप्ति कहां से हो सकती ? नहीं होती ? उसी प्रकार  
जब तक तत्त्वज्ञान नहीं होता तब तक वासना का भी क्षय नहीं  
होता है ।



जब तक क्रोधादिवासना का नाश नहीं होता तब तक ज्ञान का क्षय इत्यादि भावनों के अभाव होने से तत्त्वज्ञान का उदय होता ही नहीं। उसी प्रकार जब तक अद्वितीय ब्रह्मनस्त्व का साक्षात् अनुभव नहीं होता तब तक क्रोधादि वृत्तियों के निमित्त में से सत्यता की आग्नि निवृत्त न होने से वासना का भी क्षय नहीं होता है। मनोनाश और वासनाक्षय का युग्म, तत्त्वज्ञान और मनोनाश का युग्म, और वासनाक्षय तथा तत्त्वज्ञान का युग्म इन तीन द्वन्द्वों की परस्पर कारणता को व्यतिरेक द्वारा सप्रमाण बतलाया है। अब इन तीनों की परस्पर कारणता को व्यतिरेक द्वारा बतलाते हैं।

जब मन का नाश हो जाता, तब संस्कारों का उद्बोधक वाह्य निमित्तों की प्रतीति न होने से वासना का नाश होता है। उसी प्रकार वासना के क्षय होने से क्रोधादिवृत्तियों को प्रकट करने वाले हेतुओं (वासनाओं) का नाश होने से वह २ वृत्तियाँ उदित नहीं होती अतएव मन भी नाश को प्राप्त होता है। यह मनोनाश और वासना क्षय के नाम के युग्म की परस्पर कारणता बतलायी गयी। 'दृश्यतेत्व०' 'एकाग्र हुई बुद्धिद्वारा आत्मसाक्षात्कार होता है' इस श्रुति से अद्वितीय आत्मा को अभिमुख होनेवाली वृत्ति आत्मसाक्षात्कार में कारणरूप होने से इतर सब वृत्तियों का नाश इस तत्त्वज्ञान का कारण है ऐसा प्रतीत होता है। तत्त्वज्ञान होने के अनन्तर नरविषाण की नाई मिथ्या जगत् में बुद्धिवृत्तिका उदय नहीं होता और आत्मा का तो साक्षात्कार हो ही चुका है अतएव उस को पुनः वृत्ति का उपयोग नहीं। अतएव जैसे इन्धन के अभाव से अग्नि अपने आप शान्त हो जाता इसी प्रकार वृत्ति को भी किसी भी विषय में जाने का प्रयोजन न होने से स्वयं मन शान्त हो

जाता है इस प्रकार तत्त्वज्ञान और मनोनाश के युग्म में भी परस्पर कारणता बतलायी गयी।

तत्त्वज्ञान इस क्रोधादिवासना के क्षयका कारण है, ऐसा वार्त्तिककार ने कहा है—

“रिपौ बन्धौ स्वदेहे च समैकात्म्यं प्रपश्यतः ।

विवेकिनः कुतः कोपः स्वदेहाववयेष्विव” इति॥

क्रोधादिवासनाक्षयरूपस्य शमादेर्ज्ञानहेतु-  
त्वं प्रसिद्धम् । वसिष्ठोऽपि—

अर्थः—प्रत्येक अवयवों का भिन्न २ अभिमानी नहीं है।

परन्तु अवयव समुदायरूप सम्पूर्ण शरीर का अभिमानी मैं एक हूँ, इस प्रकार जो समझना है, वह पुरुष, एक अङ्गद्वारा अन्य अङ्ग को मारने आदि पर, इस मारने वाले अवयव पर जैसे क्रोध नहीं करता उसी प्रकार विवेकी पुरुष, वह जो शत्रु में, बन्धु में, और अपने शरीर में एक ही आत्मा का अनुभव करता है, उसे शत्रु आदिक पर क्रोध कहां से हो ? नहीं होता है।

क्रोधादिवासना का क्षय रूप शमादिगुण ज्ञान का साधक है, यह बात तो प्रसिद्ध है। भगवान् वसिष्ठ मुनि भी कहते हैं कि—

“गुणाः शमादयो ज्ञानाच्छमादिभ्यस्तथा ज्ञता ।

परस्परं विवर्धते द्वे पद्मसरसी इव ” इति ॥

तदिदं वासनाक्षयतत्त्वज्ञानयोर्द्वन्द्वम् । तत्त्व-

ज्ञानादीनां त्रयाणां सन्पादने साधनमाह—

अर्थः—ज्ञान से शमादिगुणों की प्राप्ति होती है, और शमादि गुणों से ज्ञानीपन प्राप्त होता है। इस प्रकार से कमल और सरोवर के जल की भांति दोनों एक दूसरे के आश्रय से बढ़ता है।



स्तु तद्वैपरीत्यम् । अतः सहाभ्यास उभय-  
भाष्यविरुद्धः । नच तत्त्वज्ञानोत्पत्तिमात्रेण  
कृतार्थस्य किमुत्तरकालीनेनाभ्यासप्रयासेने-  
ति शङ्कनीयम् । जीवन्मुक्तिप्रयोजननिरूपणे-  
न परिहारिण्यमाणत्वात् । ननु विद्वत्संन्या-  
सिनो वेदनसाधनश्रवणाद्यनुष्ठानवैफल्याद्वे-  
दनस्य च स्वरूपेण कर्तुमन्वया कर्तुमश-  
क्यस्याननुष्ठेयत्वादुपसर्जनेनाप्युत्तरकालीनो-  
ऽभ्यासः कीदृश इति चेत्, केनापि द्वारेण  
पुनः पुनस्तत्त्वानुस्मरणमिति ब्रूमः । तादृश-  
आभ्यासो लीलोपाख्याने दर्शितः ।

अर्थः—इस लिये हे राघव ! विवेकी पुरुष पुरुषप्रयत्न द्वारा  
अपनी भोग की सारी इच्छाओं को सर्वथा त्याग कर तत्त्वज्ञान,  
मनोनाश और वासनाक्षय का भली भाँति आश्रय करे ।

‘किंभी भी प्रकार में अवश्य इष्ट फल को सम्पादन कर्ह-  
ना’ इस प्रकार उत्साहरूप जो निश्चय वह ‘पुरुष प्रयत्न’ कहा-  
या है । विवेचन पूर्वक जो निश्चय उस का नाम ‘विवेक’ है । त-  
त्त्वज्ञान का, श्रवण, मनन, और निदिध्यासन साधन है । मनो-  
नाशका साधन योग है । और वासनाक्षय का उपाय विरो-  
धी वासना का उपजाना है । “घृणद्वारा जैसे बुझा हुआ अग्नि  
पुनः जलने लगता उसी प्रकार तृष्णा पुनः बड़ जाती है” । इस  
न्याय में थोड़े भोग की इच्छा स्वीकार करने पर वह इतनी  
बड़ी को प्राप्त हो जाती है, कि उस का निवारण कठिन वा  
असम्भव हो पड़ता है, अतएव उसका निःशेषतया त्याग करे ऐसा  
कहा है ।

... वासनाक्षय प्रकरणम् ...  
... तत्त्वज्ञान ...  
... भोग ...

... पौरुषेण विवेकिना ।  
... प्रयत्नेन ...

... सम्पाद-  
... निर्वन्धः । वि-  
... योगः ।  
... मिति ।

... अभ्युपगमे—  
“हविषाकृष्णवर्त्मैव भूय एवाभिवर्द्धते”

इति न्यायेनातिप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात् दूरत  
इत्युक्तम् ननु पूर्वत्र विविदिषासंन्यासस्य त-  
त्त्वज्ञानं फलं, विद्वत्संन्यासस्य जीवन्मुक्तिव्य-  
वस्था वर्णिता, तथा च सति प्रथमतस्तत्त्वज्ञा-  
नं सम्पाद्य पश्चाद्विद्वत्संन्यासं कृत्वा जीवतः  
स्वल्प बन्धरूपयोर्वासनामनोउत्पयोर्विनाशः  
सम्पादनीय इति प्रतिभाति, अत्र तु तत्त्व-  
ज्ञानादीनां सहैवाभ्यासो नियम्यतेऽतः पूर्वोक्त-  
राविरोध इति चेत् । नायं दोषः । प्रधानोप-  
सर्जनभावेन व्यवस्थोपपत्तेः । विविदिषासं-  
न्यासिनस्तत्त्वज्ञानं प्रधानम् । मनोनाशवास-  
नाद्यनुपसर्जनीभूतौ । विद्वत्संन्यासिन-



शङ्का—विविदिषा संन्यास का 'तत्त्वज्ञान' फल है, और विद्वत्संन्यास का 'जीवन्मुक्ति' फल है, ऐसी व्यवस्था पूर्व कर आये हैं, इस पूर्वोक्त कथन से यह प्रतीत होता है कि तत्त्वज्ञान सम्पादन कर जीवितपर्यन्त बन्धनरूप वासना और मनोनाश शक्तियों का नाश करे और यहां तो तत्त्वज्ञान आदि तीनों का एक साथ अभ्यास करे ऐसा नियम करते हैं। अतएव पूर्वापर विरोध आता है।

उत्तर:—विविदिषा संन्यासी को तत्त्वज्ञान का अभ्यास प्रधानता से करना चाहिये, और वासनाक्षय, मनोनाश का अभ्यास गौणभाव से करना योग्य है, और विद्वत्संन्यासी को इस से उलटा है। अर्थात् उस को तत्त्वज्ञान का अभ्यास गौणभाव से और वासनाक्षय, एवं मनोनाश के निमित्त प्रधानता से अभ्यास करना कर्त्तव्य है, अतएव विद्वत्संन्यासी को गौणप्रधान भाव से तीनों को एकसाथ अभ्यास करने में किसी प्रकार विरोध नहीं आता।

शङ्का:—तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति मात्र से ही कृतकृत्यता को प्राप्त हुए पुरुष को फिर मनोनाश और वासनाक्षय के लिये परिश्रम किस लिये करना चाहिये?

उत्तर:—इस प्रश्न का समाधान जीवन्मुक्ति के प्रयोजन के निरूपण समय आगे करेंगे।

शङ्का:—विद्वत्संन्यासी को पूर्वकाल में ही ज्ञान प्राप्त हुआ है, अतएव उस को श्रवणादिसाधनों का अनुष्ठान व्यर्थ है और तत्त्वज्ञान स्वतः या श्रवणादि व्यतिरिक्त साधनों द्वारा होता नहीं, अतएव तत्त्वज्ञान का गौणभाव से अभ्यास भी कैसा होता है?

उत्तर:—किसी प्रकार बार २ तत्त्व का स्मरण करना यहां अभ्यास समझो।

यह अभ्यास योगवासिष्ठ रामायण के लीला नामक उपाख्यान में कहा गया है—

“तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम् ।

एतदेकपरत्वं च ज्ञानाभ्यासं विदुर्बुधाः ॥

सर्गादावेव नोत्पन्नं दृश्यं नास्त्येव तत्सदा ।

इदं जगदहं चेति बोधाभ्यासं विदुः परम्” इति ॥

मनोनाशवासनाक्षयाभ्यासावपि तत्रैव दर्शितौ—

अर्थ:—उसी का चिन्तन, उसी का कथन, परस्पर उसी का बोधन, और उसी के विषय में परायण रहना, उसे विद्वान् लोग ब्रह्म का अभ्यास जानते हैं। यह दृश्य जगत् और मैं सृष्टि के आदि काल में ही उत्पन्न न हुआ और तीनों काल में हैं नहीं, इस प्रकार के विचार का नाम श्रेष्ठ ब्रह्माभ्यास कहते हैं।

मनोनाश और वासनाक्षय का अभ्यास भी लीला आख्यान में ही देखलाया है—

“अनन्ताभावसम्पत्तौ ज्ञातुर्ज्ञेयस्य वस्तुनः ।

मुक्त्या शास्त्रैर्वतन्ते ये ते तत्राभ्यासिनः स्थिताः”

इति ॥

ज्ञातृज्ञेययोर्मिथ्यात्वधीरभावसम्पत्तिः । स्व-

रूपेणाप्यप्रतीतिरत्यन्ताभावसम्पत्तिः । यु-

क्तियोगः । सोऽयं मनोनाशाभ्यासः ।

अर्थ:—‘जो पुरुष, ज्ञाता और ज्ञेय वस्तु का असन्त अभाव की प्रतीति होने के निमित्त, शास्त्र तथा मुक्ति द्वारा प्रयत्न करता है, उस का नाम अभ्यासी है।



और ज्ञेय के विषय में मिथ्यात्वबुद्धि यह उस के  
अर्थ है। और उस के स्वरूप की भी अपनी  
अवस्था और ज्ञेय की अव्यवस्था की प्रतीति की गणना में  
युक्ति अर्थात् योग साधन समझना । योगाभ्यास और सत्  
साधनों के अभ्यास में जो ज्ञान और ज्ञेयादि सारे संसार की  
प्रतीति होने का मूल करता है, उसी का नाम ब्रह्माभ्यास  
है । तो इसप्रकार का अभ्यास, मनोनाश का अभ्यास है ।

“दृश्यासम्भवबोधेन रागद्वेषादितानवे ।

रतिर्नवोदिता याऽसौ ब्रह्माभ्यासः स उच्यते”

इति ॥

सोऽयं वासनाक्षयाभ्यासः । तेष्वेतेषु त्रि-  
ष्वभ्यासेषु साम्येन प्रतीयमानेषु प्रधानोपस-  
र्जनभावेन न विवेक्तुं शक्यत इति चेत् ।  
नैवम् । प्रयोजनानुसारेण विवेक्तुं शक्य-  
त्वात् । मुमुक्षोः पुरुषस्य जीवन्मुक्तिर्विदेह-  
मुक्तिश्चेति प्रयोजनद्वयम् । अतएव दैवसम्प-  
दा मोक्षः, आसुरसम्पदा बन्धः । एतच्च षो-  
डशाध्याये भगवताऽभिहितम् ।

अर्थः—दृश्य के असम्भव का ज्ञान होने से रागद्वेषादि  
क्षीण हुए विषय में रति का उदय नहीं हो पाता, इस का नाम  
ब्रह्माभ्यास है । इस को वासनाक्षय का अभ्यास भी कहते हैं ।

शङ्काः—ये तीनों प्रकार के अभ्यास एक से जान पड़ें  
अतएव इस का अभ्यास प्रधान और इस का अभ्यास गौण  
है, इस का विवेक किस तरह हो सकता ?

समाधानः—प्रयोजन वशतः उन का विवेक हो सकता है।

इति भांति कि—

मुमुक्षु पुरुष को जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति दो प्रयोजन  
हैं । इनी लिये “विमुक्तश्च विमुच्यते” ऐसा श्रुति भी कहती है ।  
अतएव दैवी सम्पत्ति द्वारा मोक्ष होता एवं आसुरी सम्पत्ति से  
बन्धन होता है, यह बात भगवद्गीता के १६ वें अध्याय में  
श्रीकृष्णभगवान् ने कथन किया है—

“दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायाऽऽसुरी मता”

इति ॥

ते च सम्पदौ तत्रैवाभिहिते—

अर्थः—दैवी सम्पत्ति मोक्ष के लिये और आसुरी सम्पत्ति  
बन्धन के लिये मानली है ।

इन दो प्रकार की सम्पत्तियों का वर्णन गीताके १६ वें  
अध्याय में किया गया है—

“अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।

दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।

दया भूतेषुष्वलोलुप्त्यं मार्दवं हीरचापलम् ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।

भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।

अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ ? सम्पद मासुरीम्”

इति ॥

पुनरप्याध्यायपरिसमाप्तेरासुरसम्पत्प्रपञ्चिता ।

तत्राशास्त्रीयायाः स्वभावसिद्ध्या आसु-

रसम्पदो दुर्वासनायाः शास्त्रीयया पुरुषप्र-



तसाध्यया दैवसम्पदा सदासनया क्षये सति  
जीवन्मुक्तिर्भवति । वासनाक्षयवन्मनोनाश-  
स्यापि जीवन्मुक्तिहेतुत्वं श्रूयते ।

अर्थः—श्रीभगवान् बोले—अभय, चित्त की शुद्धि, ज्ञान  
प्राप्ति का उद्योग, दान, इन्द्रियों का संयम, यज्ञ, वेदाध्ययन,  
तप, आर्जव ( सीधापन ) अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, ( उदा-  
रता ) शान्ति, चुगली न करनी, प्राणियों पर दया, विषयों से  
लोहप न होना, मृदुता, लज्जा, चपलता का त्याग, मौनता,  
क्षमा, धीरता, शौच [ बाहर भीतर से शुद्धि ] अद्रोह, और  
अनतिमानिता [ आपे में पूज्यता की भावना का अभाव अ-  
र्थात् मैं अधिक आदरणीय हूं ] इस प्रकार की दुर्भावना से रहित  
होना ] ये सब हे भारत ! दैवी सम्पत्ति भोगने के निमित्त जन्म  
धरने वालों को प्राप्त होते हैं । हे पार्थ ! दम्भ, गर्व, मान, क्रोध,  
कटोरपन, और अज्ञान, ये सब आसुरी सम्पत्ति भोगने के लिये  
जन्मने वाले पुरुषों को प्राप्त होते हैं ।

इस आसुरी सम्पत्ति का वर्णन भगवद्गीता अ० १६ की  
समाप्ति तक किया गया है । शास्त्रीय पुरुषार्थ से साध्य शुभ वा-  
सनारूप दैवीसम्पत्ति द्वारा जब अशास्त्रीय स्वाभाविक दुर्वाचनारूप  
आसुरी सम्पत्ति का क्षय हो जाता है, तब जीवन्मुक्ति की  
प्राप्ति होती है ।

वासनाक्षय के समान मनोनाश भी जीवन्मुक्ति का कारण  
है, यह वार्त्ता श्रुति में कही गयी है—

“मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।  
बन्धाय विषयासक्तं मुक्तये निर्विषयं स्मृतम् ॥  
यतो निर्विषयस्यास्य मनसो मुक्तिरिष्यते ।

अतो निर्विषयं नित्यं मनः कार्यं मुमुक्षणा ॥  
निरस्ताविषयासक्तं सन्निरुद्धं मनो हृदि ।

यदा यात्युन्मनीभावं तदा तत्परमं पदम् ॥  
तावदेव निरोद्धव्यं यावद्बुद्धिगतं क्षयम् ।  
एतज्ज्ञानं च ध्यानं च शेषो न्यायस्य विस्तरः”  
इति ॥

बन्धो द्विविधः तीव्रः मृदुश्च । तत्राऽऽसुरस-  
म्पत्साक्षादेव क्लेशहेतुत्वात्तीव्रबन्धः । द्वैतमा-  
त्रप्रतीतिस्तु स्वयमक्लेशरूपत्वादासुरसम्पदु-  
त्पादकत्वाच्च मृदुबन्धः तत्र वासनाक्षयेण ती-  
व्रबन्ध एव निवर्त्यते मनोनाशेन तृभयम् ।  
तर्हि मनोनाशेनैवालं वासनाक्षयस्तु निर-  
र्थक इति चेन्न । भोगहेतुना प्रवलेन प्रारब्धेन  
व्युत्थापिते मनसि वासनाक्षयस्य तीव्रबन्ध-  
निवारणार्थत्वात् । भोगस्य मृदुबन्धेनाप्यु-  
पपत्तेः । तामसवृत्तयस्तीव्रबन्धः । सात्त्विकरा-  
जसवृत्तिद्वयं मृदुबन्धः । एतच्च—

अर्थः—मनुष्य को बन्ध और मोक्ष का कारण मन ही है,  
विषय में आसक्त मन बन्धन का कारण है, और निर्विषय होने  
से मन मुक्ति का हेतु है, जिस कारण इस निर्विषय मन की  
मुक्ति मान ली है, इसी लिये मुमुक्षु पुरुष को निश्च अपने मन  
को विषय से अलग रखना चाहिये विषय संमर्गरहित हृदय में  
निरोध करने पर मन जब उन्मनी अवस्था को प्राप्त होता है,  
उस समय, वह परम पद ब्रह्म रूप हो जाता है । जब तक उस  
का क्षय हो तब तक उसका हृदय देश में निरोध करे । ‘मन



का निरोध 'यही ज्ञान और ध्यान है, उस के सिवाय और सब तो युक्तियों का विस्तार है।

जीवन्मुक्ति और मृदुबन्ध इस भांति दो प्रकारका बन्ध है। इनमें से आसुरी सम्पत्ति साक्षात् केश का हेतु होने से तीव्र बन्ध की गिनती में है और दैवमात्र की अप्रतीति स्वतः केश रूप नहीं, तो भी आसुरी सम्पत्ति को उपजानेवाली है। इस लिये वह मृदुबन्ध माना जाता। इनमें वासना के क्षय से तीव्र बन्ध निवृत्त होता और मनोनाश से दोनों प्रकार के बन्धनों की निवृत्ति होती है।

शङ्का:—यदि ऐसा है, तो मन के नाश ही से वम है, वासनाक्षय का कोई प्रयोजन नहीं।

समाधान:—भोग देने वाले प्रबल प्रारब्ध द्वारा जब मन को व्युत्थान होता, उस समय तीव्र बन्ध के निवारण के लिये वासनाक्षय की अपेक्षा होती है। क्योंकि भोग की सिद्धि तो विषय की प्रतीतिरूप मृदुबन्ध से भी हो सकती है। तामसी वृत्तियां तीव्रबन्ध है। सात्त्विक और राजस वृत्तियां मृदुबन्ध है। यह वार्त्ता—

“दुःखेष्विनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः”।

इत्यत्र स्पष्टीकृतम्। एवञ्च सति मृदुबन्ध-स्याभ्युपेयत्वात् तीव्रबन्धस्य वासनाक्षयेणैव निवृत्तेरनर्थको मनोनाश इति चेन्न। दुर्बल प्रारब्धापादितानामवश्यम्भाविभोगानां प्रतीकारार्थत्वात्। तादृग्भोगस्य प्रतीकारनिर्वर्त्यत्वमभिप्रेत्येदमाहुः।

अर्थ:—इस श्लोक के व्याख्यान करते समय स्पष्ट किया है।

शङ्का:—इस उपरले वचन से ऐसा प्रतीत होता है कि मृदुबन्ध हो तो भी कोई हानि नहीं। केवल हानिकारक तीव्र बन्ध है। अतएव उस की निवृत्ति तो वासना क्षय ही से होती है, उस से मनोनाश का कोई प्रयोजन नहीं दीखता।

समाधान:—दुर्बल प्रारब्ध से प्राप्त हो हुए अवश्य भावि भोग के प्रतीकार के लिये मनोनाश की आवश्यकता है।

अवश्य भाविभोग की मनोनाश के सिवाय अन्य उपाय द्वारा निवृत्ति नहीं होती है, इस अभिप्राय का सृष्टिवाक्य है—

“अवश्यं भाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि।

तदा दुःखैर्न लिप्येरन्नलरामयुधिष्ठिराः” इति॥

तदेवं जीवन्मुक्तिं प्रति वासनाक्षयमनोनाश-योः साक्षात् साधनत्वात् प्राधान्यम्। तत्त्वज्ञानं तु तयोरुत्पादनेन व्यवहितत्वात् उपसर्जनम्। तत्त्वज्ञानस्य वासनाक्षयहेतुत्वं बहुशः श्रुतौ श्रूयते।

अर्थ:—अवश्यं भावि भोग का जो अन्य उपाय होता तो नल, राम और युधिष्ठिर सरीखे पुरुष को दुःख होता ही नहीं।

इस प्रकार वासनाक्षय और मनोनाश जीवन्मुक्ति का साक्षात् साधन होने से विद्वत्संन्यासियों को उन का अभ्यास प्रधानता से करना उचित है, और तत्त्वज्ञान तो इन दोनों की उत्पत्ति से व्यवहित कारणरूप होने से उस का गौणभाव से अभ्यास कर्त्तव्य है।

तत्त्वज्ञान वासनाक्षय का कारण है, यह बात अनेक श्रुतियों में कथनं कियी है—

“ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः



क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ।

अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं

मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति" ॥

"तरति शोकमात्मवित्" "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" । "ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः" इति ।

मनोनाशहेतुत्वं च तत्त्वज्ञानस्य श्रुतिसिद्धम् ।  
विद्यादशमभिप्रेत्येदं श्रूयते—

"यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्केन कं जिघ्रेत्" इत्यादि ।

गौडपादाचार्याश्चाऽऽहुः—

अर्थः—“परमात्मा देव के ज्ञान से सब बन्धनों की निवृत्ति हो जाती है, क्लेशों के क्षय से जन्ममरण की हानि होती । अध्यात्मज्ञान की प्राप्ति से परमात्म देव का साक्षात्कार करने पर धीर पुरुष हर्षशोक का त्याग करता है” । आत्मवित् पुरुष शोक को पार कर जाता है । सर्वत्र अद्वितीय आत्मवस्तु को साक्षात् अनुभव करने पर शोक मोह कहां से हो ? नहीं होते । परमात्म देव को जानने पर सब बन्धनों से छूट जाता है ।

तत्त्वज्ञान मनोनाश का भी कारण है, यह बात भी श्रुति द्वारा ही सिद्ध है । विद्यादशा को अङ्गीकार कर यह श्रुति है—  
“जो विद्यादशा में इस अधिकारी पुरुष को सब आत्मा ही हो जाता उस अवस्था में वह किस कारण किस पदार्थ को देखे ? और किस कारण किस पदार्थ को सुंघे ।

गौडपादाचार्य ने भी कहा है—

“आत्मतत्त्वानुबोधेन न सङ्कल्पयते यदा ।

अमनस्तां तदा याति ग्राह्याभावे तदग्रहः” इति ॥

जीवन्मुक्तेर्वासनाक्षयमनोनाशाविद्य विदेह-  
मुक्तेः साक्षात्साधनत्वाज्ज्ञानं प्रधानम् ।

अर्थः—आत्मस्वरूप के साक्षात्कार से जब संकल्प रहित होता है, उस समय अधिकारी पुरुष अमनस्कभाव को प्राप्त होता है, तत्त्वज्ञानद्वारा ग्राह्य वस्तुओं का अभाव होने से वह वृत्ति द्वारा किसी भी विषय को ग्रहण नहीं करता ।

जैसे जीवन्मुक्ति का साक्षात्साधन वासनाक्षय और मनोनाश है, उसी प्रकार विदेहमुक्ति का साक्षात् साधन तत्त्वज्ञान है । अत एव विदेहमुक्ति के लिये ज्ञानाभ्यास प्रधानता से सेवने योग्य है ।

“ज्ञानादेव तु कैवल्यं प्राप्यते येन मुच्यते”  
इति स्मृतेः ॥

केवलस्याऽऽत्मनो भावः कैवल्यं देहादिरहित-  
तत्त्वम् । तच्च ज्ञानादेव प्राप्यते सदेहत्वस्या-  
ज्ञानकल्पितत्वेन ज्ञानैकनिवर्त्यत्वात् । ज्ञाना-  
देवेत्येवकारेण कर्मव्यावृत्तिः । “न कर्मणा न प्रजया” इति श्रुतेः । यस्तु ज्ञानशास्त्रमनभ्य-  
स्य यथासम्भवं वासनाक्षयमनोनाशावभ्य-  
स्य सगुणं ब्रह्मोपास्ते न तस्य कैवल्यमस्ति ।  
लिङ्गदेहस्यानपायात् । अत एवकारेण ताव-  
पि व्यावर्त्यते । “येन मुच्यते” इत्यस्यायमर्थः  
येन ज्ञानप्रापितकेवलत्वेन कृत्स्नसम्बन्धादि-  
मुच्यते इति । बन्धश्चानेकविधः अविद्याग्रन्थिः,  
अब्रह्मत्वम्, हृदयग्रन्थिः, संशयः, कर्माणि,



संज्ञितं च, अतः पुनर्जन्मं सादिज-  
नम व्यवहारात् । अज्ञानत एते बन्धाः सर्वे  
ज्ञाननिवर्त्याः । तथाच श्रुतयः—

“ एतन्मां वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्धि  
विकिरतीह सौम्य ” “ ब्रह्म वेद ब्रह्मैव  
भवति ” ।

अर्थः—ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, जिस कैवल्य से  
इस संसार से मुक्त होता है। ऐसा स्मृति वचन है। कैवल्य अर्थात्  
देहादि रहितभाव वह केवल ज्ञान से ही प्राप्त होता है। सशरीर  
होना वह ज्ञान में है जो किने केवल ज्ञान ही से निवृत्ति उभरती हो-  
नेवाली है। इस स्मृतिवाक्य में ‘एव’ (‘ही’) पद कर्म की निवृत्ति के  
लिये है। कर्म, प्रजा, और पुनर्जन्म से मुक्ति नहीं प्राप्त होती है। इस  
प्रकार श्रुति भी कहती है। जो पुरुष ज्ञान शास्त्र का अभ्यास  
किये बिना केवल मनोनाश और वासनाक्षय का ही अभ्यास  
कर मनुष्य जन्म की उत्पत्ति करता है, उस को निवृत्ति शरीर के  
नाश न होने से वह कैवल्य को प्राप्त नहीं होता है। अतएव वा-  
सनाक्षय और मनोनाश द्वारा भी कैवल्य प्राप्त नहीं होता यह  
भी ‘एव’ पद से झलकता है। उपरले स्मृति वाक्य में ‘येन मु-  
च्यते’ का इस भांति अर्थ है—ज्ञान प्राप्त होने पर जिस कैवल्य  
से सारे बन्धनों से मुक्त होता है। अविद्या ग्रन्थि, अवयव,  
हृदय ग्रन्थि, संशय, कर्म, सर्वकाम्य, पुनर्जन्म आदि बन्ध-  
नवर्तों में निवृत्ति २ स्वयं में बन्धन का निवृत्त्यर्थ किया है। कर्म  
अनेक प्रकार का है। ये सब बन्धन अज्ञान से हुए हैं जो कि  
उन की निवृत्ति ज्ञान से होती है, । निम्नान्वयित श्रुतियों का  
विषय में प्रमाणभूत है । ( एतन्मां इत्यादि ) “ हे सौम्य !

मुक्ति-गुहा में स्थित इस आत्मस्वरूप को जो जानता है, वह  
वही अविद्या ग्रन्थि को काट पाता है” “जो ब्रह्म को जानता  
वह ब्रह्म ही होता है” ।

“ भिद्यते हृदयग्रन्थिश्चिच्छन्ते सर्वसंशयाः ।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे पराचर ” ॥

“ यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् ।

सोऽश्नुते सर्वान्कामान्तसह ” “ तमेव वि-  
दित्वाऽति मृत्युमेति ” ।

अर्थः—“उस परमात्मा के साक्षात्कार होने से इस अधिकारी  
पुरुष के हृदय की गांठें खुल जाती है । सब संशय छिन्न भिन्न  
हो जाने और सब कर्म क्षय हो जाने में ” । “ जो ब्रह्माकाश-  
रूप गुहा में स्थित ब्रह्म को जानता है, वह सब कामनाओं  
के साथ पाता है” “उस ब्रह्म को ही जान कर अधिकारी  
पुरुष मोक्ष को प्राप्त होता है ।

“ यस्तु विज्ञानवान् भवति असंयतः सदा शुचिः ।

स तु तत्परमाशौचं यत्नान्मृत्योर्न जायते ” ॥

“य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भव-  
ति” इत्यादीन्यसर्वज्ञत्वादिवन्धनिवृत्तिपरा-  
णि वाक्यान्मंत्रोवाहार्थाणि । सर्वं विदे-  
हमुक्तिर्ज्ञानोत्पत्तिस्मरणादीनां ज्ञेया । ब्रह्म-  
ण्यविद्यारोपितानामेतेषां बन्धानां विनाशो  
विनाशो सति पुनर्जन्मसमश्ननाद्वन्धनमुक्तता-  
य । तदेतद्विद्यावन्धनकार्त्तव्यं साध्यतारः  
समन्वयसूत्रं प्रपञ्चयामास ।

“तदधिगम उत्तरपूर्वाध्यायोरश्लेषविनाशौ त-



दूष्यपदेशात्” इति । ननु वर्तमानदेहपाता-  
नन्तरभाविनी विदेहमुक्तिरिति बहवो वर्ण-  
यन्ति तथाच श्रुतिः—

“तस्य नावदेव चिरं यावत्त विमोक्षेऽथ स-  
म्पत्स्ये” इति ।

वाक्यवृत्तावप्युक्तम् ।

अर्थः—जो अपनस्कभावसे प्राप्त हो के सदा शुचि पुरुष  
विज्ञानयुक्त होता है, वह परमात्म पद को प्राप्त होता है, जिस में  
फिर संसार में जन्म धारण नहीं करता है । ‘मैं ब्रह्म हूँ’ इस  
प्रकार जो जानता है—साक्षात् अनुभव करता है, वह यह सर्व-  
रूप होता है ।

ये सब वाक्य, अमर्षज्ञत्व आदि बन्ध निवृत्ति में प्रमाणरूप  
में समझना । वही यह विदेहमुक्ति, ज्ञान की उत्पत्ति समय ही प्राप्त  
होती है, ऐसा जानना । क्योंकि, ब्रह्म में आरोपित पूर्वोक्त सब  
बन्धनों के नाश होने पर वह फिर विद्या प्राप्ति के समय ही  
बन्धन की निवृत्ति होती है, यह बात भगवान् भाष्यकार श्री  
शङ्कराचार्यजी ने समन्वय सूत्र में विस्तार पूर्वक कथन किया है ।

उस ब्रह्म के साक्षात्कार से उत्तर और पूर्व अर्थात् पुण्यपाप के  
क्रम में अमर्ष और विनाश होता है, श्रुति में उस का कथन है ।

शङ्का: “वर्तमान शरीर के पतन होने पर विदेहमुक्ति प्राप्त  
होती है, ऐसा बहुत लोग कहते हैं” और उस ज्ञानवान् पुरुष  
को तब तक विदेहमुक्ति में विलम्ब है कि जब तक वर्तमान देह  
से मुक्त नहीं होता है । वैसा होने पर ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त होता  
है उसी प्रकार श्रुति भी है—वाक्यवृत्ति में भी कहा है:—

“प्रारब्धकर्मवेगेन जीवन्मुक्तो यदा भवेत् ।

कश्चित् कालमथाऽऽरब्धकर्मबन्धस्य संचये ॥

निरस्तातिशयानन्दं वैष्णवं परमं पदम् ।

पुनरावृत्तिरहितं कैवल्यं प्रतिपद्यते” इति ॥

सूत्रकारोऽप्याह—

“भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते” इति ।

इतरे—प्रारब्धपुण्यपापे ।

वसिष्ठोऽप्याह—

अर्थः—अधिकारी पुरुष जब जीवन्मुक्त होता है, तब प्रा-  
रब्ध कर्म के योग में अमुक काल अनुभव कर, प्रारब्ध कर्म के  
क्षय होने के अनन्तर, पुनरावृत्तिरहित निरातिशय आनन्दस्वरूप  
सर्वोत्कृष्ट परमात्मा के कैवल्यपद को प्राप्त होता है । सूत्रकार  
ने भी कहा है—

“भोग करके प्रारब्धस्वरूप पुण्य पाप का क्षय करने पर  
परमात्मा के स्वरूप में अभेद को प्राप्त होता है ।

वसिष्ठजी ने भी कहा है—

“जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते ।

विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव” इति ॥

अर्थः—जैसे गतिमान् वायु निस्पन्द ( स्थिर ) अवस्था  
को प्राप्त होता है, तैसे जीवन्मुक्त पुरुष, अपने शरीर के काल  
के वश होने अनन्तर ( मरनेपर ) जीवन्मुक्तदशा का त्यागकर  
विदेहमुक्त पद में प्रवेश करता है ।

नायं दोषः, विषक्षाविशेषेण मतद्वयस्यावि-  
रोधात् । विदेहमुक्तिरित्यत्रत्येन देहशब्देन  
कृत्स्नं देहजातं विवक्षित्वा बहुभिर्वर्णितम् ।  
अस्माभिस्तु भाविदेहमात्रविवक्षयोच्यते ।



तदनारम्भायैव ज्ञानसम्पादनात् । अयं देहः  
पूर्वमेवाऽऽरब्धः, अतो ज्ञानेनापि नास्याऽऽर-  
म्भो वारणितुं शक्यते । क्षये तन्नित्यत्तिरपि  
न ज्ञानफलम् । अज्ञानिनामप्यारब्धकर्मक्षये  
तन्नित्यत्तेः ।

अर्थः—समाधान—अभिप्राय के भेद को लेकर मतभेद भा-  
सता है । वस्तुतः मतभेद नहीं । जो मरने पीछे विदेहमुक्ति मा-  
नते हो उस विदेहमुक्ति पद में देह शब्द से सम्पूर्ण देह मानते  
हैं । सकल देह की नित्यत्ति तो मरने के बाद ही होती है, अत एव  
उस के अभिप्रायानुसार मरने बाद विदेहमुक्ति में प्रवेश होना  
वास्तविक है । हम तो भाविदेह की नित्यत्ति को ही विदेहमुक्ति  
कहते हैं । क्यों कि भाविदेह का आरम्भ न होने के लिये ज्ञान-  
सम्पादन किया जाता । वर्तमान देह का तो ज्ञान होने के प-  
हिले आरम्भ हो चुका है । अत एव ज्ञानसे भी वर्तमान शरीर  
का निवारण हो सकता, ऐसा नहीं है । वर्तमान शरीर की  
नित्यत्ति भी कोई ज्ञान का फल नहीं है । क्यों कि प्रारब्ध कर्म  
का क्षय होता अज्ञानी लोगों का भी वर्तमान देह नित्यत्त होता है ।

तर्हि वर्तमानलिङ्गदेहानित्यत्तिर्ज्ञानफलमस्तु  
ज्ञानमन्तरेण तदनिवृत्तेरिति चेन्न ।

सत्यपि ज्ञाने जीवन्मुक्तेस्तन्नित्यत्त्यभावात् ।

अर्थः—शङ्का—जो वर्तमान स्थूलशरीर की नित्यत्ति ज्ञान  
का फल न हो तो, वर्तमान लिङ्गशरीर का नाश ज्ञान का फल  
मानना चाहिये, क्यों कि ज्ञान हुए बिना लिङ्गदेह का नाश  
नहीं होता है ।

समाधान—यह बात ठीक है, परन्तु जीवन्मुक्त पुरुष को ज्ञान

प्राप्त होने पर भी उस के लिङ्गशरीर का नाश नहीं होता है ।  
अत एव ज्ञान का फल लिङ्गकी नित्यत्ति भी मानी नहीं जा सकती ।  
ननु ज्ञानस्य किञ्चित्कालं प्रारब्धेन कर्मणा प्र-  
तिबद्धत्वेनानिवर्तकत्वेऽपि प्रतिबन्धक्षये लि-  
ङ्गदेहनिवर्तकत्वं भविष्यतीति चेन्न ।

अर्थः—शङ्का—यद्यपि प्रारब्धकर्म अपने स्थितिपर्यन्त ज्ञान  
का प्रतिबन्धक होने से जब तक शेष प्रारब्ध होता है, तब तक  
लिङ्गदेह की नित्यत्ति नहीं होती है, तथापि प्रारब्ध रूप रुकावट  
के क्षय होने पर ज्ञानद्वारा लिङ्गदेह की नित्यत्ति होगी, अत एव  
ज्ञान का फल लिङ्गकी नित्यत्ति है, ऐसे कहने में कोई बाधा  
नहीं मालूम होती है ।

पञ्चपादिकाचार्येण

“यतो ज्ञानमज्ञानस्यैव निवर्तकं”

इत्युपपादितत्वात् ।

अर्थः—समाधानः—तेज और तम के तुल्य ज्ञान ही अ-  
ज्ञान का विरोधी है । लिङ्गदेह तो अज्ञान का कार्य होने से  
उस का तो अज्ञान के साथ विरोध होता ही नहीं । अत एव  
ज्ञानद्वारा ही अज्ञान की नित्यत्ति होती है, ऐसा श्रीपञ्चपादिका-  
चार्य ने प्रतिपादन किया है ।

तर्हि लिङ्गदेहानित्यत्तेः किं साधनं इति चेत् ।

सामग्री नित्यत्तिरिति ब्रूमः । द्विविधं हि का-

र्यनिवर्तकम् । विरोधि सदृशः सामग्री

नित्यत्तिश्चेति । तदभावा विरोधिना वायुना,

तैलवर्तिसामग्रीनित्यत्त्या वा दीपा निवर्तते ।

लिङ्गदेहस्य साक्षाद्विरोधिना न पश्यामः ।



सामग्री हि द्विविधा प्रारब्धमनारब्धयेति ।  
ताभ्यामुभाभ्यामज्ञानिनां लिङ्गदेह इहामुत्र  
चावतिष्ठते । ज्ञानिनां त्वनारब्धस्य ज्ञानेन  
निवृत्त्या प्रारब्धस्य भोगेन लिङ्गदेहो निवर्त्तते ।  
अतो न तन्निवृत्तिर्ज्ञानफलम् ।

अर्थः—प्रश्न—उम समय लिङ्गदेह की निवृत्ति का क्या  
साधन है ? समाधान—जिस सामग्री में लिङ्गदेह उत्पन्न हो-  
ता है उस सामग्री की निवृत्ति में लिङ्गदेह की निवृत्ति होता  
है । विरोधी के सङ्भाव में और सामग्री की निवृत्ति में इस  
भाति दो प्रकार से कार्य की निवृत्ति होती है । जैसे तेल बर्तन  
आदि दीप की सामग्री होने पर भी विरोधी वायु में शान्त हो  
जाता है, उसी प्रकार लिङ्गदेह का साक्षान् विरोधी तो कोई  
पदार्थ देखने में नहीं आता इस लिये उस की सामग्री निवृत्ति  
में निवृत्ति होती है । प्रारब्धकर्म और सञ्चिन्त आदि अनारब्ध  
कर्म यों दो प्रकार की लिङ्गदेह की सामग्री हैं । अज्ञानी का  
लिङ्गदेह इन दो सामग्रियों करके इस लोक परलोक में स्थिर रहता  
है । ज्ञानी पुरुषों का अनारब्धकर्म, ज्ञान द्वारा निवृत्त होता है,  
और प्रारब्ध कर्म की भोग में निवृत्ति होती है । अतएव तेल,  
बर्तन रूप सामग्री के नाश में जैसे दीप नाश को प्राप्त होता है,  
उसी प्रकार उस का लिङ्गदेह उक्त दो प्रकार के कर्मरूप साम-  
ग्री की निवृत्ति से निवृत्त होता है ।

नन्वेनेन न्यायेन भाविदेहानारम्भोऽपि ज्ञान-  
फलम् । तथाहि—किमनारम्भ एव हि फ-  
लम्, किंवा, तत्प्रतिपालनम् । नायः । तस्य प्रा-  
गभावस्वरूपत्वेनानादिसिद्धत्वात् । न द्वितीयः,

अनारब्धकर्मरूपसामग्रीनिवृत्त्यैव भाविदेहा-  
रम्भप्रागभावप्रतिपालनसिद्धेः । नच तन्निवृ-  
त्तिः फलं, अविद्यानिवृत्तेऽपि विद्याफलत्वात् ।  
अर्थः—शङ्का—यह उपरले वाक्य से तो भावि देह का  
अनारम्भ ( आरम्भ न हुआ ) भी ज्ञान फल है, ऐसा जान  
पड़ता है, परन्तु वह सम्भव नहीं, क्योंकि, क्या भाविदेह का  
अनारम्भ ही ज्ञान का फल है ? या भाविदेहके अनारम्भ  
का पालन अर्थात् अनारम्भ सदाकाल से यह भी उस का  
फल है ? इन में से प्रथम पक्ष—भाविदेह का अनारम्भ यह  
ज्ञान का फल है, यह बात सम्भव नहीं, क्योंकि भाविदेह का  
अनारम्भ इस भावि देह का प्रागभावरूप होने से अनादि सिद्ध  
है, अतएव, यह ज्ञान से उत्पन्न होता नहीं । उसी प्रकार भा-  
विदेह के अनारम्भ का पालन यह ज्ञानफल है, यह दूसरा पक्ष  
भी सम्भव नहीं, क्योंकि भाविदेह के आरम्भ के प्रागभाव का  
पालन अर्थात् सर्वकाल भाविदेह का अभाव ही रहना यह  
तो सञ्चिन्त कर्मरूप सामग्री की निवृत्ति से ही होता है । अनार-  
ब्धकर्म [ सञ्चिन्तकर्म ] रूप सामग्री की निवृत्ति ही ज्ञान का  
फल नहीं । केवल अविद्या की निवृत्ति ही विद्या का फल है ।

नैव दोषः । भाविजन्तानारम्भवादीनां विद्याक-  
लत्वस्य प्रामाणिकत्वात् । “यस्माद्भूयो न  
जायते” इत्याद्युदाहृताः श्रुतयस्तत्र प्रमाणम् ।  
नच ज्ञानमज्ञानस्यैव निवर्त्तकमिति न्यायेन  
विरोधः । अज्ञानसहभावनिवृत्तानामत्रत्य-  
न्यादीनामज्ञानशब्देन पक्षपादकानामभि-  
पक्षितत्वात् । अन्यथाऽनुभवविरोधः । अ-



पुनरने ज्ञाननिवृत्तिरद्वयमन्त्रादिनिवृत्तिः  
यः । यस्मात्तद्विदेहसुखलक्षणं विदेह-  
मुक्तिर्ज्ञानसमकालीना । तथाच याज्ञवल्क्य-  
उक्तं भगवते—“अभयं नै जनकं प्राप्तोऽग्निः,”  
इति, “एतावदरे खल्वमृतत्वम्” इति च ।

अर्थः—उत्तर—तुम ने जो दोष बतलाया, वह प्राप्त नहीं होता, क्योंकि भावि में जन्म की प्राप्ति होती नहीं इसादि विद्या के फलत्व की प्रमाणसिद्ध बात है । ( यस्मात्भू० ) ‘जिस तत्त्वज्ञान के होने से फिर जन्म पाना नहीं’ इत्यादिपूर्वोक्तश्रुतियां इस विषय में प्रमाणभूत हैं । सदा अज्ञानी के साथ रहनेवाला-अज्ञान की सद्भावसे ही सद्भाववाला-पूर्वोक्त ‘अब्रह्मत्व ( भ्रम ब्रह्म नहीं’ ऐसा मिथ्या निश्चय ) इसादि बन्धन को श्री पञ्चपादिकाचार्य ने अज्ञान ही गिना है । पुनर्जन्म, अब्रह्मत्व आदि बन्धन की निवृत्ति जो ज्ञान का फल न हो, तो अनुभव में विरोध प्राप्त होता है । ज्ञान करके जैसे अज्ञान की निवृत्ति होती है, उसी प्रकार उभ के साथ पूर्वोक्त ‘अब्रह्मत्व’ आदि बन्धन की भी निवृत्ति होती है, यह बात अनुभवसिद्ध है । इसलिये भाविदेह की अप्राप्तिरूप जीवन्मुक्ति ज्ञान समकाल ही है । बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य मुनि ने भी कहा है कि—‘हे जनक ! तुम अभय को प्राप्त होगये हो’ । ‘इतना ही यथार्थ अमृतत्व है’ ।

श्रुत्यन्तरेऽपि “तमेवं विद्वानमृत इह भवति”  
इति । यद्युत्पत्तेऽपि तत्त्वज्ञानं तत्फलभूता  
विदेहमुक्तिस्तदानीं न भवेत् कालान्तरे च  
नयेत् । तदा ज्योतिषोन्मादादिविषय ज्ञानजन्यम

पूर्व किञ्चित्कल्पयेत् । तथा च कर्मशास्त्र एव  
ज्ञानमन्तर्भवत् । अथोच्यते । मन्त्रादिप्रति-  
बद्धाग्निवत् प्रारब्धप्रतिबद्धं ज्ञानं कालान्तरे  
विदेहमुक्तिं दास्यतीति । यैवम् । अविरोधा-  
त् । न ह्यस्मदभिप्रेता भाविदेहात्यन्ताभाव-  
लक्षणा विदेहमुक्तिर्वर्तमानदेहमात्रस्थापकेन  
प्रारब्धेन विरुध्यते, येन प्रतिबध्येत । किञ्च  
क्षणिकत्वेन कालान्तरे स्वयमविद्यमानं ज्ञानं  
कथं मुक्तिं दद्यात् । ज्ञानान्तरं चरमसाक्षा-  
त्कारलक्षणमुत्पत्स्यत इति चेन्न । साधनाभा-  
वात् । प्रतिबन्धकप्रारब्धनिवृत्त्यैव सह गु-  
रुशास्त्रदेहेन्द्रियाद्यशेषजगत्प्रतिभासनिवृत्तेः  
किं ते साधनं स्यात् ।

अर्थः—अन्य श्रुति भी कहती है—इस प्रकार आत्मा का ज्ञान जिस को होता है, ऐसा पुरुष वर्तमान शरीर ही में मरण रहित हो जाता है ।

जो तत्त्वज्ञान होने परभी उस की फलरूप विदेहमुक्ति उस समय न हो और कालान्तर में हो तो ज्योतिषोन्मादिकर्म समाप्ति के अनन्तर, तत्काल स्वर्गादिफल न मिलने से जैसे अपूर्ण नागके संस्कार विशेष को कर्मविषय में कल्पना कियी जाती है, उसी प्रकार ज्ञान को भी अपूर्व की कल्पना करनी पड़ेगी और जो वैसा हो तो कर्मशास्त्र में ही ज्ञानशास्त्र का अन्तर्भाव हो जावे कदाचित् इस स्थल में वादी ऐसा कहे कि मणिमन्त्रादि द्वारा जिस की दाहकशक्ति का प्रतिबन्ध हो गया है ऐसा अग्निप्रतिबन्ध छूट जाने पर जिस प्रकार अपना दाह कर्म कर सकता है



इसी बात प्रारब्ध के प्रतिबन्ध को प्राप्त होने पर ज्ञान प्रारब्ध के अन्तर्मे विदेह मुक्तिरूप फल को देगा, परन्तु यह काला नष्ट नहीं, क्योंकि, हमारे अभि प्रेय भाविदेह का अन्यत्र अमान रूप विदेह मुक्ति को केवल वर्तमान शरीर को ही स्थापन करनेवाले प्रारब्धकर्म के साथ कोई विरोध नहीं। जिस में प्रारब्धकर्म विदेहमुक्तिरूप ज्ञान के फल का प्रतिबन्धक हो नहीं सकता वह ज्ञान क्षणिक है इस लिये कालान्तर में स्वयं न होने से विदेहमुक्ति को कैसे दे सकता? कदाचित् ऐसा कहा कि मरणसमय में चरमसाक्षात्कार रूप अन्यज्ञान उत्पन्न होगा और वह विदेहमुक्ति देगा तो यह बात भी सम्भव नहीं क्योंकि उस समय पुनः अन्यज्ञान का उत्पादक कोई अन्य साधन होता नहीं। प्रतिबन्धकरूप प्रारब्धकर्म की निवृत्ति से ही गुरु, शास्त्र, देह, और, इन्द्रिय आदिक सारे संसार की प्रतीति की निवृत्ति हो जाती है इसलिये उस समय किस साधन से ज्ञान होता है ? होता ही नहीं।

तर्हि “भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः” इत्यस्याः श्रुतेः कोऽर्थ इति चेत् । आरब्धान्ते निमित्ताभावाद्देहेन्द्रियाद्यशेषनैमित्तिकनिवृत्तिरित्येवार्थः । ततो भवदभिमतता वर्तमानदेहराहित्यलक्षणा विदेहमुक्तिः पश्चादस्तु देहपातानन्तरम् । अस्मदभिमतता तु ज्ञानसमकालीनैव । एतदेवाभिप्रेत्य भगवान् शेष आह—

अर्थः—शङ्का—उस समय ‘प्रारब्ध के क्षय होने पर फिर सारी माया की निवृत्ति होती है, इस श्रुति का क्या

अर्थ तुमने समझा ?

समाधानः—इस श्रुति का अर्थ यही है कि प्रारब्ध के अन्त में देहादि का स्थापक निमित्त न होने से देह इन्द्रियादि सब की निवृत्ति होती है । इस लिये अन्य मत के अनुसार वर्तमान देह का अभावरूप विदेहमुक्ति देहपात के बाद हो, परन्तु भाविदेह की अभावरूप को हम मानते हैं यह विदेह मुक्ति तो ज्ञानसमय में ही प्राप्त होती है ॥

इसी अभिप्राय से भगवान् शेष भी कहते हैं—

“तीर्थेऽवपचम्ये वा नष्टस्मृतिरपि परित्यजन्देहम् । ज्ञानसमकालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः” इति ॥

अर्थः—मरणसमय में जिस को स्वरूपका विस्मरण हो गया है ऐसा पुरुष कदाचित् तीर्थ में या चाण्डाल के घर में जावे तो भी ज्ञानकाल में ही मुक्त होकर शोक रहित वह पुरुष मुक्ति को ही प्राप्त होता है ॥

तस्माद्विदेहमुक्तौ साक्षात्साधनस्य तत्त्वज्ञानस्य प्रधानत्वमुपपन्नम् । वासनाक्षयमनोनाशयोर्ज्ञानसाधनत्वेन व्यवहितत्वादुपसर्जनत्वम् । आसुरवासनाक्षयकारिण्या दैववासनाया ज्ञानसाधनत्वं श्रुतिस्मृत्योरुपलभ्यते—

“शान्तो दान्त उपरतस्तिष्ठु समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्येत्” इति श्रुतिः । स्मृतिरपि—

अर्थः—विदेहमुक्ति में साक्षात् साधन तत्त्वज्ञान की ही, प्रधानता है यह बात इस से सिद्ध हुई, वासनाक्षय और मनोनाश तत्त्वज्ञानद्वारा विदेहमुक्ति का साधन है । इस लिये विदेहमुक्ति



के उस का मोचन है ।, आसुरी वामनाओंकी क्षय करनेवाली  
होनामाना ज्ञान का साधन है, यह बात श्रुति और स्मृति  
में प्रमाण प्रतीत होती है । “शान्तोदान्त इत्यादि” “शम दम उ-  
पनि विविता, और ममाधान आदि” दैवी परमात्मा युक्त होकर  
अपने आत्मा में अभिन्न परमात्मा का अनुभव करे यह श्रुति  
में प्रमाण रूप से है । और स्मृति में कहा है कि—

“अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा शान्तिराजिवस ।  
आचार्योपासनं ज्ञानं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः” ॥

अर्थः—अमानित्व, निरभिमानपना, अदम्भित्व (निष्कप-  
टता) अहिंसा, शान्ति, अजिव (सूयापन) गुरुकी सेवा,  
पवित्रता, स्थिरता, और अपने शरीरका संयम ।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यजनहङ्कार एव च ।

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥

अर्थः—इन्द्रियों के विषय जो शब्दादिक हैं उन में विर-  
क्ति, निरहङ्कार, और जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, व्याधि और दुःख  
में दोष देखना ।

असक्तिरनभिप्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।

नित्यं च समचिन्तनमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥

अर्थः—पुत्र, स्त्री, गृह, आदिकों में विरक्ति और उन के  
सुखदुःखों में अन्यन्त दृष्टि न देनी । इष्ट और अनिष्ट में मत  
एकसां रहना ।

सवि चानन्ययोगेन अक्षिरव्यभिचारिणी ।

विचिन्तेद्देशसेविन्यसर्गनिजेनमंसादि ॥

अर्थः—मेरे विषय में अनन्यमान से अन्वयविचारिणी भक्ति  
चित्त को प्रयत्न करनेवाले देश में निवास, संसारी पुरुषों की

मभा में अप्रीति ॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥

अर्थः—अध्यात्मज्ञान ( आत्मादि विषयक जो विचार )  
अर्थात् जीव माया ईश्वरादिकों का विवेक । इसका नित्यचिन्तन  
और तत्त्वज्ञान का प्रयोजन जो मोक्ष है उस का अवलोकन यह  
सर्व ज्ञान कहलाता है इस से अन्य अज्ञान है ।

अन्यस्मिन्नहंबुद्धिरभिप्वङ्गः । ज्ञायतेऽनेनेति-

व्युत्पत्त्या ज्ञानसाधनानिन्यर्थः । मनोनाश-

स्यापि ज्ञानसाधनत्वं श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धम् ।

“ततस्तु न पश्यति निष्कलं व्यावसानः” इति

“अध्यात्मध्यायोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो

हर्षशोकौ जहाति” इति च । प्रत्यगात्मस-

माधिप्राप्त्या देवं ज्ञात्वेत्यर्थः ।

अर्थः—यह पदार्थ मैं ही हूँ इस प्रकार की अवेदभावना-  
में जो उन पदार्थों में अधिक प्रीति करती अर्थात् उन पदार्थों-  
के सुखी दुःखी रूप में ही सुखी दुःखी होता है इस प्रकार  
जो असन्त अभिनिवेश है उस को अभिप्वङ्ग कहते हैं ॥

“इसके द्वारा जाना जाना है ऐसी व्युत्पत्ति से ज्ञानसाधन”  
होता है । मनोनाश भी ज्ञान का साधन है यह श्रुति में प्र-  
सिद्ध है, तहां श्रुति का प्रमाण (—ततस्तुतं ० ) ध्यान करने-  
वाला पुरुष उस निरवयव आत्मा का साक्षात् दर्शन करता है”

( अध्यात्म० ) प्रत्यक् आत्मा में समाधि के लाभ से परमा-  
त्मदेव को जान कर धीर पुरुष हर्ष शोक को छोड़ता है” ।

और श्रुति का प्रमाण—



“यं विनिद्राजितश्वासाः सन्तुष्टाः संयतेन्द्रियाः  
ज्योतिः पश्यन्ति बुभुक्षन्त्यस्यै निष्कामं वनः”

अर्थः—निद्रा श्वास और इन्द्रियों को जीतने वाले योगीजन जिस ज्योति को योग द्वारा देखते हैं उस योगात्मक परमात्मा को नमस्कार हैं ॥

तदेवं तत्त्वज्ञानादिनां त्रयाणां विदेहमुक्ति-  
जीवन्मुक्तिवशाद्गुणप्रधानभावव्यवस्था  
सिद्धा ।

अर्थ—इस प्रकार विदेहमुक्ति और वासनाक्षय की यथा-  
योग्य गौणत्व की एवं प्रधानता की व्यवस्था सिद्ध है ॥

ननु विविदिषासंन्यासिना सम्पादितानामे-  
तेषां किं विद्वत्संन्यासादूर्ध्वननुवृत्तिमात्रं,  
किं वा पुनरपि सम्पादनप्रयत्नोऽपेक्षितः ।  
नायः । तत्त्वज्ञानस्यैवान्ययोरप्ययत्नसिद्धत्वे  
प्राधान्यप्रयुक्ताद्वैतभावप्रसङ्गात् । न त्रिती-  
यः । इतरयोरिव ज्ञानस्यापि यत्नसापेक्षत्वे  
सत्युपसर्जनत्वप्रयुक्तौदासीन्याभावप्रसङ्गात् ।

अर्थः—शङ्का—विविदिषासंन्यासी द्वारा प्राप्त किये तत्त्व-  
आदि तीन साधनों की विद्वत्संन्यास धारण करने के बाद अनु-  
वृत्तिमात्र समझे ? या उस के सम्पादन के लिये फिर प्रयत्न क-  
रने की आवश्यकता है ? जो उस की अनुवृत्तिमात्र करोगे तो  
तत्त्वज्ञान के समान वासनाक्षय और मनोनाश भी बिना यत्न के  
मिद्ध होने से उस को प्रधानता दे कर विशेष आदर करने की  
आवश्यकता नहीं रहती और जो प्रयत्न की आवश्यकता है  
ऐसा कहोगे तो जैसे मनोनाश और वासनाक्षय के निमित्त क-

ही अपेक्षा है उसी प्रकार तत्त्वज्ञान के लिये भी यत्न की अपे-  
क्षा होने से उस के गौणपन के कारण उस में उदासीनता  
तुल्य योग्य है सो नहीं बनता है ।

नायं दोषः । ज्ञानस्यानुवृत्तिमात्रमितरयोर्ध-  
त्तसाध्यत्वमित्यङ्गीकारात् ।

अर्थः—समाधान—यह दोष नहीं है जीवन्मुक्त-अवस्था  
में ज्ञान की केवल अनुवृत्ति तथा वासनाक्षय और मनोनाश प्र-  
यत्नमाध्य है ऐसा हमने स्वीकार किया है—

तथाहि—विद्याधिकारी द्विविधः, कृतोपास्ति-  
रकृतोपास्तिश्चेति । तत्रोपास्यसाक्षात्कारप-  
र्यन्तामुपास्तिं कृत्वा यदि ज्ञाने प्रवर्तते, तदा  
वासनाक्षयमनोनाशयोर्द्वन्द्वनरत्वेन ज्ञानादूर्ध्वं  
विद्वत्संन्यासजीवन्मुक्ती स्वत एव सि-  
द्ध्यतः । तादृश एव शास्त्राभिमतो मुख्यो  
विद्याधिकारी । ततस्तं प्रति शान्त्रेषु सहोप-  
न्यासात् स्वरूपेण विविक्तावपि विद्वत्सं-  
न्यासौ सङ्कीर्णाविव प्रतिभासन्ते । इदानीं-  
तनास्तु प्रायेणाकृतोपास्तय एवौत्सुक्यमा-  
त्रात्सहसा विद्यायां प्रवर्तन्ते । वासनाक्षय-  
मनोनाशौ च तात्कालिकौ सम्पादयन्ति ।  
तावता श्रवणमनननिदिध्यासनानि निष्प-  
द्यन्ते । तैश्च दृढाभ्यस्तैरज्ञान-संशय-विपर्ययि-  
रासात् तत्त्वज्ञानं सम्यगुदेति । उदितस्य ज्ञान-  
स्य बाधकप्रमाणाभावाच्चिदृच्छाया अविद्या-  
याः पुनरुत्पत्तिकारणाभावाच्च नास्ति तस्य



शौचित्यम् । वासनाक्षयमनोनाशौ तु दृढा-  
भ्यासाभावाद्भोगप्रदेन प्रारब्धेन तदा तदा-  
बाध्यमानत्वाच्च सवातप्रदेशदीपवत्सहसा  
निवर्तते । तथाच वसिष्ठः—

अर्थः—कृतोपासन ( जिस ने उपासना सिद्ध कर ली है ) और अकृतोपासन ( जिस ने उपासना नहीं सिद्ध की है )  
इस प्रकार विद्याधिकारी के दो भेद हैं । इनमें से जो अप-  
ने उपास्य 'देव' के साक्षात्कार करने तक उपासना कर ज्ञान में  
प्रवृत्त हो ते हैं उस अधिकारी के मनोनाश, एवं वासनाक्ष-  
य असम्भूत दृढ होने से ज्ञान होने के अनन्तर निद्वत्संन्यास और  
जीवन्मुक्ति उस को स्वतः सिद्ध होती है । शास्त्र में तो ऐसे  
पुरुष को ही अध्यात्मविद्या का मुख्य अधिकारी गिना है इस-  
लिये ऐसे अधिकारी के लिये ही शास्त्र में तीन साधनों के सा-  
थ कथन किया है इस से निद्वत्संन्यास और विविदिपासंन्यास  
स्वरूप करके भिन्न होने पर भी वे मिले हुए के समान भासते हैं  
साम्प्रत काल में तो प्रायः अकृतोपासन ही अधिकारी होते हैं ।  
इस से वह केवल उत्सुकता से सत्त्वर ब्रह्मविद्या में प्रवृत्ति करता  
है, उतने समय तक ही वासनाक्षय और मनोनाश को सम्पाद-  
न करता है, उतने से उस को श्रवण, मनन और निदिध्यासन  
सिद्ध होता है । इस प्रकार के दृढ अभ्यास से अज्ञान, संशय,  
और विपर्यय निवृत्त होने के कारण तत्त्वज्ञान का भली भाँति  
उदय होता है उदय को प्राप्त होने पर तत्त्वज्ञान को बाध  
करने वाला कोई भी प्रमाण न होने से और निवृत्त हो कर अवि-  
द्या को फिर उत्पन्न करने वाला कोई कारण न होने से उस का  
तत्त्वज्ञान शिथिल नहीं होता । परन्तु वासनाक्षय और मनो-

नाश के दृढ अभ्यास न होने से और भोग देनेवाले प्रबल प्रा-  
स्थ से उस का उस २ समय में बाध होनेसे वायुवाले प्रदेश-  
में स्थित दीपक के समान उसी समय वासनाक्षय और मनो-  
नाश निवृत्ति को प्राप्त होते हैं ।

वसिष्ठजी भी कहते हैं—

“पूर्वभ्यस्तु प्रयत्नेभ्यो विषमोऽयं हि सम्मतः ।

दुःसाध्यो वासनात्यागः सुमेरुर्मूलनादपि” इति॥  
अर्जुनोऽपि—

अर्थः—पूर्वोक्त प्रयत्नों के अभ्यास करने की अपेक्षा यह  
वासनात्यागरूप प्रयत्न सुमेरुपर्वत को जड़ से उखाड़ने से भी  
विषम और अधिक कष्ट से सिद्ध होने योग्य है, ऐसा माना है ।

अर्जुन ने भी गीताके अ० ६. श्लो० ३४ में कहा है—

“चञ्चलं हि मनः कृष्ण ? प्रमाथि बलवद्दृढम् ।

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्” इति॥

अर्थः—हे कृष्ण इन्द्रियों को धुब्ध करनेवाला विचार  
से भी जीतने योग्य नहीं, दृढ अर्थात् विषयवासनाओं से दुर्भेद्य  
मन अत्यन्त ही चपल है । वायु के समान इसका रोकना मैं  
दुष्कर मानता हूँ ॥

तस्मादिदानीन्तनानां विद्वत्संन्यासिनां ज्ञान-  
स्यानुवृत्तिमात्रम् । वासनाक्षयमनोनाशौ तु  
प्रयत्नसम्पाद्याविति स्थितम् । ननु केयं वा-  
सना ? यस्याः क्षयाय प्रयतितव्यमिति चेत्त-  
त्स्वरूपमाह वसिष्ठः—

अर्थः—ऐसा है इस लिये इस समय के विद्वत्संन्यासियों  
को ज्ञान की केवल अनुवृत्ति और वासनाक्षय, और मनोनाश



पराज करने माध्य है यह बात सिद्ध हुई। जिस के क्षय के लिये  
यत्न करने को आवश्यकता है यह बात ना क्या वस्तु है ? ऐसी  
शुद्धा पर महामुनि वसिष्ठ जी उस का स्वरूप कहते हैं:—

“दृढभावनया त्यक्तपूर्वापरविचारणम् ।

यदादानं पदार्थस्य वासना सा प्रकीर्तिता ॥

भावितं तीव्रसंवेगादात्मना यत्तदेव सः ।

भवत्याशु महाबाहो ? विगतेतरसंस्मृतिः ॥

तादृगरूपो हि पुरुषो वासनाविवशीकृतः ।

संपश्येति यदेवैतत् सद्रास्त्विति विमुह्यति ॥

वासनावेगवैवश्यात्स्वरूपं प्रजहाति तत् ।

भ्रान्तं पश्यति दुर्दृष्टिः सर्वं मोहवशादिव” इति ॥

अर्थ:—पूर्वापर विचारको न करके दृढ भावना से पदार्थ  
का जो ग्रहण है उसे वासना कहते हैं। हे महाबाहो ? तीव्र संवेग  
से जो स्वयं भावना करता (जैसा कि मैं शरीररूप हूँ, ) व-  
ह रूप वह पुरुष तत्काल हो जाता है, और इतर स्मृति उस की  
जाती रहती है। वासना के वश में करने से पुरुष स्वयं जिस वास-  
नानुसार निश्चय कर लिया हो वही रूप होता है, और स्वयं  
निश्चय किया हुआ वही ठीक वस्तु है। ऐसा मोह को प्राप्त  
होता है। वासना के वेग में विवश होने से अपने रूप को भूल  
जाता है। जैसे मदिरा पीए हुए पुरुष नशे के वश में हो यथार्थ  
नहीं देखता उसी प्रकार वासना से दूषित हुई दृष्टि वाला पुरुष  
सब पदार्थों को भ्रान्ति युक्त देखता है। वास्तविक रूप को  
नहीं देख सकता है।

अत्र च स्वस्वदेशाचारकुलधर्मभाषाभेदतद्-  
गतापशब्दसुशब्दादिषु प्राणिनामभिनिवे-

शः सामान्यत उदाहरणम् । विशेषस्तु भे-  
दानुकृत्वा पश्चादुदाहरामः । यथोक्तां वासना-  
मभिप्रेत्य बृहदारण्यके श्रूयते—

“स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतु-  
र्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभि-  
सम्पद्यते” इति ।

वासनाभेदो वाल्मीकिना दर्शितः—

अर्थ:—अपने देश, आचार कुल, धर्म, भाषा, और भाषा-  
में के अपशब्द, साधु शब्द आदि में जो प्राणियोंका आग्रह दे-  
खने में आता उसे वासना का सामान्य उदाहरण समझना। उस  
का विशेष उदाहरण वासना के भेदों को कह कर पीछे देंगे।  
इस प्रकार की वासना को स्वीकार कर बृहदारण्यक उपनिषद्  
में कहा है कि—

“वह जैसी वासना वाला होता वैसा सङ्कल्प करता जैसा  
सङ्कल्प करता वैसी क्रिया करता और जैसी क्रिया करता वै-  
सा उसे फल मिलता है।

वासना का भेद वाल्मीकी जी ने योगवासिष्ठ में बतलाया है।

“वासना द्विविधा प्रोक्ता शुद्धा च मलिना तथा ।

मलिना जन्महेतुः स्याच्छुद्धा जन्मविनाशिनी ।

अज्ञानसुघनाकारा घनाहङ्कारशालिनी ।

पुनर्जन्मकरी प्रोक्ता मलिना वासना बुधैः

पुनर्जन्माङ्कुरं त्यक्त्वा स्थिता सम्भृष्टबीजवत् ।

देहार्थं ध्रियते ज्ञातज्ञेयां शुद्धेति चोच्यते” इति ॥

अर्थ:—शुद्धवासना तथा मलिनवासना इस भांति दो प्रका-  
र की वासना है। इन में से मलिनवासना जन्म का कारण है।



और शुद्धवामना जन्म को नष्ट करने वाली है । अज्ञान से अनिश्चय घन आकाश वाली और घन अहंकार वाली मलिनवासना को विद्वान् पुरुषों ने पुनर्जन्म देनेहारी कहा है । भूने पुरुषों के समान पुनर्जन्मरूप अक्षुर को छोड़ कर स्थित तथा जिस के द्वारा ज्ञेय वस्तु का ज्ञान होता है वह शुद्धवामना देहके निर्वाहार्थ धारण कियी जाती ऐसी विवेकी पुरुष कहते हैं ।

देहादीनां पञ्चकोशानां तत्सार्चिणश्चिदात्मनश्च भेदावरकमज्ञानं तेन सुष्ठु घनीभूत आकारो यस्याः सेवमज्ञानसुधनाकारा । यथा चीरं तक्रमेलनेन घनीभवति । यथा वा विलीनं घृतमत्यन्तशीतलप्रदेशे चिरमवस्थापितं सुघनीभवति तथा वासना द्रष्टव्या । घनीभावश्चात्र भ्रान्तिपरम्परा । तां चाऽऽसुरसम्पद्विवरणे भगवानाह —

अर्थः—अन्नमयादि ( अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय ) तथा इन का साक्षी आत्मा के भेद को ढाकने वाला अज्ञान है । उस अज्ञान से उस का आकार अतिघनीभूत हो गया है । इस लिये मलिनवासना को “अज्ञानसुधनाकारा” ऐसा विशेषण दिया है । जैसे तक्र मिलाने से दूध गाढ़ा हो जाता । जैसे असन्त शीतल स्थान में रखवा हुआ पतला घृत जम कर गाढ़ा हो जाता उसी प्रकार वासना के सम्बन्ध में भी जानना चाहिये अर्थात् भ्रान्ति की परम्परा से वासना भी घनीभाव को पहुँच जाती है । इस भ्रान्ति की परम्परा रूप वासना के घनीभाव का निरूपण, भगवद्गीता के १६ अ० श्लोक ७ १२ तक में आसुरी सम्पत्ति के विचार के

प्रमाण में किया है ।

“प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।  
न शौचं नापि चाऽऽचारो न सत्यं तेषु चिन्तते ॥  
अमत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाक्षुरनीश्वरम् ।  
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहेतुकम् ॥  
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।  
प्रभवन्त्युग्रकर्माणिः क्षयाय जगतांऽहिताः ॥  
काममार्श्रत्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।  
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचित्रताः ॥  
चिन्तामपरिमेयां च प्रलघ्नान्तामुपाश्रिताः ।  
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥  
आशापाशशतैर्वन्धाः कामक्रोधपरायणाः ।  
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्” इति ॥

अहङ्कारश्च तत्रैवोदाहृतः ।

अर्थः—आसुर स्वभाववाले लोग प्रवृत्ति और निवृत्ति किस भाँति की होती हैं, सो नहीं जानते । और उनमें शौच, आचार, सत्य, ये कोई नहीं होते । वे इस जगत् को अमत्य (नहीं है सख वेदादिकों का प्रमाण जिस में ) अप्रतिष्ठ [ नहीं है धर्मधर्मरूप व्यवस्था जिस में ] और अनीश्वर (नहीं हैं ईश्वर कर्त्ता जिस का ) कहते हैं । और यह कहते हैं कि परस्पर काम से प्रेरित स्त्रीपुरुषों के संयोग से जगत् उत्पन्न हुआ है और कोई कारण नहीं है । मलिनचित्त, अल्पबुद्धि क्रूरकर्म करनेहारे, शत्रु के भाँति जगत् के क्षय करने के लिये उत्पन्न होते हैं । दुःख से पूर्ण होने के योग्य अभिलाष को अज्ञीकार कर दम्भ, मान, और मद से युक्त अशुचि ( अपवित्र ) व्रत के



करने लगे वे अशुभ विचार को स्वीकार करके सर्वत्र प्रवृत्त होने लगे । वे मरणकाल तक चिन्ता से व्याप्त कामोपभोग ही एक परम पुण्यार्थ है हमरा कोई नहीं ऐसा मानते हैं । अनेक आशा-रूप पाशों [ पाशों ] से बन्ने, कामक्रोध में तत्पर, वे कामोप-भोग के लिये अन्याय से धनोपार्जन की इच्छा करते हैं । अहङ्कार का उदाहरण भी वही (गी० अ० १६ श्लो० १३-१६) कहा है ।

“इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।  
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥  
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।  
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥  
आत्पोऽभिजनवानास्मि कांऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।  
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥  
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।  
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ” इति ॥  
एतेन पुनर्जन्मकारणत्वमुदाहृतं भवति, तच्च  
पुनः प्रपञ्चितम् ।

अर्थ:—यह मैंने आज पाया, इस मनोरथ ( अभिलषित ) को पाऊंगा । यह वस्तु मेरे पास है, और, यह भी धन फिर मुझ को मिलेगा । इस शत्रुको मैंने मारा, औरों को भी मारूंगा । मैं ईश्वर [ समर्थ ] हूं मैं भोगी ( भोग्य वस्तु को उपभोग करनेवाला ) हूं, सिद्ध [ कृतकृत्य ] हूं, बलवान हूं, और सुखी हूं, धनी हूं, और उत्तम कुल में उत्पन्न हवा हूं मेरे तुल्य इस संसार में कौन है । मैं यज्ञ करता हूं दान देता हूं और प्रसन्न रहता हूं इस प्रकार अज्ञान से असन्त मोहित अनेक भांति के चित्त विकारों कर के भ्रान्त, मोह (‘अज्ञान’) रूप जाल से फँसे हुए विषय

जंगमों में असन्त अनुरक्त वे, अपवित्र नरक में पड़ते हैं । इसादि ताता प्रकार की पुनर्जन्म में कारणता देखलायी है और फिर से भी उसी का विस्तार सेवर्णन ( श्लो० १७-२० ) करते हैं—

“आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।  
यजन्ते नाम यज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥  
अहं कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।  
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विपन्तोऽभ्यसूयकाः ॥  
तानहं द्विपतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।  
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीप्सव्योनिषु ।  
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।  
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधर्मां गतिम्” इति ॥  
शुद्धवासना तु ज्ञातज्ञेया । ज्ञेयस्वरूपं त्रयो-  
दशाध्याये भगवानाह—

अर्थ:—अपने आप अपनी स्तुति ( तारीफ ) करनेवाले, स्तब्ध पूज्यों का सत्कार न करनेवाले, धन से उत्पन्न हुए मान-मर्दों करके युक्त, वे पाखण्डपने से विधिपूर्वक यज्ञ नहीं करते हैं । अहङ्कार, बल, गर्व, काम, एवं क्रोध को भली भांति प्राप्त हुए वे अपने और दूसरों के शरीर में स्थित जो मैं तिस ( मेरे ) साथ द्वेष करते हुए निन्दामे प्रवृत्त होते हैं । सन्मार्ग के शत्रु क्रूर, अशुभ कर्म करने वाले, उन नीच मनुष्यों को मैं सदा इस संसार में आसुरी योनि के बीच जन्म देता हूं । हे कौन्तेय ( अर्जुन ) वे मूढ़ प्रति जन्म में असुर योनि को प्राप्त होते हैं यज्ञ को न पाकर अधर्मा गति को जाते हैं । ज्ञेय की ज्ञान करानेवाली शुद्धवासना है ।

ज्ञेयवस्तु का स्वरूप भगवानने गीता के १३ अंशों में कथन किया है



“ज्ञेयं वत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।  
 अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तत्तासदुच्यते ।  
 सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।  
 सर्वतः श्रुतिमहोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥  
 सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविचर्जितम् ।  
 असक्तं सर्वभूतैव निर्गुणं गुणभोजकं च ॥  
 बहिरन्तश्च भूतानामन्तरं चरमेव च ।  
 सूक्ष्मत्वात्तद्विशेषं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥  
 अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्मृतम् ।  
 भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं प्रसिष्यु प्रभविष्यु च ॥

उपोतिचामपि तज्ज्योतिस्तमसः पारलुच्यते” इति ।

अर्थः—जिन को जान कर मोक्ष प्राप्त होता उस ज्ञेय (जान करने योग्य वस्तु) को कहना है वह अनादिपरब्रह्म सत् (विद्यमान) असत् (अविद्यमान) से विच्छेद कदा जाता है । उसमें चारों ओर हाथ, पैर, आँख, शिर, मुँह, और कान, हैं । वह लोक में सब को व्याप्त करके टिका है । वह सारे इन्द्रियों के गुणों का आभास अर्थात् प्रकाश स्थान होकर भी सब इन्द्रियों से हीन है । मद्र रहित होकर भी सारे ब्रह्मण्ड को धारण करने वाला है, और सत्त्व रज तम गुणों से अलग भी सत्त्वादिगुणों का भोक्ता है । वह सारे भूतों के बाहर, और भीतर, चर और अचर है, सूक्ष्म होनेसे जानने के योग्य नहीं है, दूर है और निकट भी है । वह भूतों के विषय में अविभक्त (अलग पड़ा हुआ नहीं भी पड़ाया) स्थित है और सारे भूतों का पोषण गन्धार और उर्वाच करनेवाला है वह सूर्य चन्द्र आदिक ज्योतियों का भी ज्योति (प्रकाशक) है, तमसः पर कहिये अज्ञान से परे कहा जाता है ।

अत्र तदस्थलक्षणस्वरूपलक्षणाभ्यामवगन्तुं  
 सौपाधिकनिरुपाधिकस्वरूपद्वयशून्यमुपन्य-  
 स्तम् । कदाचित्सम्बन्धि सचलक्षयति तत्तदस्थ-  
 लक्षणम् । यथा देवत्तदलक्ष्यम् । तथा काल-  
 त्रयसम्बन्धि सचलक्षयति तत्स्वरूपलक्षणम् ।  
 यथा प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इति ।

अर्थः—उपरोक्त श्लोकों में ज्ञेय वस्तु को तदस्थ और स्व-  
 रूपलक्षण द्वारा जानने के लिये उपाधि रहित और उपाधिरहित  
 इस दो प्रकार के ज्ञेय स्वरूप का कथन किया है । जो लक्ष्य के  
 साथ अमुक समय में सम्बन्ध वाला होकर लक्ष्य वस्तु का बोधन  
 करे उस का नाम तदस्थ लक्षण है जैसे पटनेवाले देवदत्त का घर  
 है ? इस वाक्य में पटना देवदत्त के घर के साथ अमुक समय  
 में ही सम्बन्धवाला हो कर उक्त घर से भजन हो देवदत्त के गृह-  
 रूप लक्ष्य को बतलाता है अतएव वह तदस्थलक्षण कहलाता है ।  
 महा लक्ष्य के साथ ही सब का लक्ष्य को अन्य पदार्थों से भजन  
 कर बतलाने वाला वह स्वरूप लक्षण है जैसे किसी ने किसी वाक्य  
 से पूछा कि इस आकाश में विद्यमान ज्योतिर्गणों में चन्द्रमा कौ-  
 न है ? इस के उत्तर में स्मृतिविवार में उक्त ने कहा कि जिन  
 का सब में अविभक्त प्रकाश है वह चन्द्रमा है इस वाक्य में वाक्य-  
 क को वागवण से बतलाया हुआ चन्द्रमा का बोध कराता है, और  
 प्रकृष्ट प्रकाश सदा चन्द्रमा के साथ ही रहता है, यह स्वरूप  
 लक्षण है ।

ननु तदस्थलक्षणमिति चेत् तदस्थलक्षणम् । ज्ञेयज्ञानं च विचारजन्यमतो न शुद्धा-  
 यां तल्लक्षणमस्ति । मैवम् ।



प्रतिपक्ष विचारगति स्फुरण का हेतुस्वरूप संस्कार को तुम वासना कहते हो और ज्ञेय ज्ञान तो विचारजन्य है, अतः एव उसमें शुभवासना का लक्षण सम्भव नहीं होता है।

लक्षणे दृढभावनयेत्युक्तत्वात् । यथा बहुषु जन्मसु दृढभावितात्वेनास्मिन्जन्मनि विनैव परोपदेशमहङ्कारममकारकामक्रोधादयो मालिनवासना उत्पद्यन्ते, तथा प्राथमिकस्य बोधस्य विचारजन्यत्वेऽपि दीर्घकालनैरन्तर्यसंस्कारभावितात्वे पश्चाद्वाक्ययुक्तिपरामर्शमन्तरेणैव पुरोवर्त्तिघटादिवत्सहसा तत्त्वं परिस्फुरति तादृश्या बोधानुवृत्त्या सहित इन्द्रियव्यवहारः शुद्धवासना । सा च देहजीवनमात्रायोपयुज्यते । नतु दम्भदर्पाद्यास्तुरसम्पदुत्पादनाय, नापि जन्मान्तरहेतुधर्मधर्मोत्पादनाय । यथा भृष्टानि व्रीह्यादिवीजानि कुतूहलपूरणमात्रायोपयुक्तानि न रुचिरान्नाय, नापि सस्यनिष्पत्तये, तद्वत् ।

अर्थः—समाधान—वासनालक्षण में “दृढभावनया” (दृढ अभ्यास द्वारा) ऐसा पद दिया है, इस लिये जैसे अनेक जन्मों में दृढ अभ्यास किया हुआ होने से इस जन्म में अन्य के उपदेश विना ही, अहङ्कार, ममकार, काम, क्रोध, आदि मालिन वासनाएँ उत्पन्न होती हैं। उसी प्रकार प्रथम ज्ञान विचारद्वारा उत्पन्न होने पर भी उस का चिर काल अविच्छिन्नता से (निरन्तर) आदर्श पूर्वक चेतन करने से परमवत्त्व की भावना दृढ होने के अनन्तर

महावाक्य और युक्तियों का स्मरण किये बिना भी सम्मुख रखते हुए घड़े के समान आत्मतत्त्व फुरता है। इस प्रकार के बोध की अनुवृत्ति सहित जो इन्द्रियव्यवहार, वह शुद्धवासनारूप है, वह शरीर के जीवन के लिये ही उपयोगी है । वह दम्भ, दर्प आदिक किसी आसुरी सम्पत्ति को नहीं पैदा करती, उसी प्रकार जन्मान्तर के कारणरूप धर्म, अधर्म को भी उत्पन्न करती नहीं । जैसे भूना हुआ व्रीहि आदि बीज केवल कोठी भरने ही के काम में आता किन्तु उस का रुचिकर अन्न नहीं होता उसी प्रकार उस में से बीज अन्न भी नहीं उपजता, उसी तरह शुभवासना भी भृष्टबीज की तरह अर्थात् वह शरीर निर्वाह के सिवाय आसुरी सम्पत्ति की उत्पत्ति या पुनर्जन्म का कारण नहीं हो सकती ।

मलिना च वासना त्रिविधा । लोकवासना शास्त्रवासना देहवासना चेति । सर्वे जना यथा मां न निन्दन्ति यथा वा स्तुवन्ति तथैव सर्वदा चरिष्यामीत्यभिनिवेशो लोकवासना । तस्याः सम्पादयितुमशक्यत्वान्मलिनत्वम्— तथाहि—

“कोन्वस्मिन्साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्” इत्यादिना बहुधा बाल्मीकिः प्रपच्छ ।

“इक्ष्वाकुवंश प्रभावो रामो नाम जनैः श्रुतः”

इत्यादिना प्रत्युत्तरं नारदो ददौ । तादृशस्यापि रामस्य पतिव्रताशिरोमणिभूताया जगन्मातुः सीतायाश्च श्रोतुमशक्यो जना-



पवादः सम्प्रवृत्तः । किमु यत्कथमन्येषाम् ।

अर्थः—यदि हमें वासनाक्षयम करना और देवतायना हम वा-  
नाक्षयम करना ही ही प्रकार की है। तब हम लोग में ही  
कोई भी में निन्दा न कर ऐसा में आचरण करेगा हम  
प्रकार के अनिष्टों को लोकसायना करने हैं ऐसी वासना का  
सम्पादन करना कठिन होने में हम का नाम पण्डितवासना है  
क्योंकि श्रीगुरुजी ने नारद जी से पूछा कि इस संसार में  
अन्यत्र गुणवान और कीर्तिमान कौन है? इस के उत्तर में ना-  
रद ने कहा कि, ऐसा तो इन्द्राकुल में अनील श्रीगुरुजी है,  
ऐसे श्रीगुरुजी की ही पतिव्रताओं में मुकुट रूपा जगन्माता  
श्रीसीता देवीके उपर भी ऐसा अपवाद लगा जिसे लोग सुन  
न सकें। जब कि ऐसी की यह दया हुई फिर दूसरों की क्या  
कहना ?

तथा देशविशेषण परस्परं निन्दावाहुल्यमु-  
पलभ्यते । दाक्षिणात्यैर्विप्रैरौत्तरीया वैदविदां  
विप्रा मांसभक्षिणो निन्द्यन्ते । औत्तरेयैश्च  
मानुसुनां द्राहिनां यात्रासु मृदूभाण्डवाहि-  
नां दाक्षिणात्या निन्द्यन्ते । बहुवृत्त्या आश्व-  
लायनशाखां कण्वशाखायाः प्रशस्तां म-  
न्यन्ते । वाजसनेयिनस्तु वैपरीत्येन । एवं  
स्वस्वकुलगोत्रवन्धुद्वन्द्वेनानादिप्रशंसया पर-  
स्परानिन्दा च, वाक्पिच्छद्वन्द्वनायोपालं सर्वत्र  
प्रसिद्धा । एतदेवाभिप्रेत्योक्तम् ।

अर्थः—उसी तरह देशभेद के कारण परस्पर निन्दा प्रायः  
देमने में जाती है—दाक्षिणदेशस्थ ब्राह्मण उत्तर देशस्थ वेद

जैसे ब्राह्मणों को मांस खानेवाले हैं कहकर निन्दा करते हैं  
और वही उत्तरदेशस्थ ब्राह्मण दाक्षिणात्य ब्राह्मणों को “वे मातुल  
(मापी) की लड़की से व्याहर्णवाले हैं तथा गुप्ताफर्गमें माटीके  
सर्वों को साथ लेकर जाते हैं” यो कहकर निन्दा करते हैं। क-  
से ब्राह्मण आश्वलायन शाखाको कण्वशाखा से श्रेष्ठ मानते  
हैं तो वाजसनेयी शाखा के पढ़ने वाले यजुर्वेदी द्विज इस के  
दुष्टा मानते हैं अर्थात् आश्वलायन शाखा से कण्व को श्रेष्ठ  
मानते हैं इस भाँति अपने-२ कुल, गोत्र, वन्धु वर्ग को दुष्ट देव  
की प्रशंसा तथा अन्य कुल गोत्र की निन्दा, विद्वान में लेकर  
अन्यत्र पापर गोआलेकी जाति तक सर्वत्र यह लोकप्रसिद्ध बात है।

इसी अभिप्राय से कहा है कि—

“शुचिः पिशाचो विचल्लो विच्यक्ष्णः क्षमा-  
प्यशक्तो घलवांश्च दुष्टः ।

निश्चितचोरः शुभगोत्रपि कार्मा कां लोक-  
माराधयितुं समर्थः ” इति ।

अर्थः—पवित्र और पिशाच के समान, चपल और विच-  
क्षण शक्तिमान तथा अशक्त, बलवान तथा दुष्ट, चित के ठिका-  
ना बिना चोर, सुन्दर, और कामी ऐसा कौन पुण्य लोक को  
प्रसन्न करने में समर्थ है ? कोई भी नहीं ।

“विद्यते न म्वन्दु कश्चिदुपायः सर्वलोकपरि-  
तोषकरो यः ।

सर्वथा स्वहितसाधरणीयं किं कारिष्यति जनो  
बहुजल्प ” इति च ।

अर्थः—जिसमें सब लोग प्रसन्न हो रहें कोई भी अप्रसन्न न  
हो ऐसा कोई भी उपाय नहीं इस लिये सब प्रकार से जिस में



अपनी भलाई हो वैसे काम को करे । बहुत बोलने वाला मनुष्य क्या कर सकता तैसा है ?

अतो लोकवासनाया मलिनत्वमभिप्रेत्य योगीश्वरस्य तुल्यनिन्दास्तुतित्वं मोक्षशास्त्रेषु वर्णितम् । शास्त्रवासना त्रिविधा । पाठव्यसनं शास्त्रव्यसनमनुष्ठानव्यसनं चेति । पाठव्यसनं भरद्वाजेऽवगम्यते । स हि पुरुषायुपत्रयेण बहून् वेदानधीत्येन्द्रेण चतुर्थायुपि प्रलोभितस्तत्रापि परिशिष्टवेदाध्ययनायोद्यमं चकार । तस्यापि पाठस्याशक्यत्वान्मलिनवासनात्वम् । तां चाशक्तिमिन्द्रः प्रतिबोध्य पाठान्निवर्त्य ततोऽप्यधिकाय पुरुषार्थाय सगुणब्रह्मविद्यामुपदिदेश । तदेतत्सर्वं तैत्तिरीयब्राह्मणे द्रष्टव्यम् । तथैवाऽऽत्यन्तिकपुरुषार्थाभावाद्बहुशास्त्रव्यसनस्य मालिन्यं कावपेयगतायामुपलभ्यते ।

“कश्चिन्मुनिर्दुर्वासा बहुविधशास्त्रपुस्तकभारैः सह महादेवं नमस्कर्तुमागतस्तत्सभायां नारदेन मुनिना भारवाहिगर्दभसाम्यमापादितः कोपात्पुस्तकानि लवणैर्वै परित्यज्य महादेवेनाऽऽत्मविद्यायां प्रवर्तितः” इति । आत्मविद्या चानभिमुखस्य गुरुकारुण्यरहितस्य न वेदशास्त्रमात्रेणोत्पद्यते । तथा च श्रुतिः—  
“नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन” इति ।

### अन्यत्राप्युक्तम् ।

अर्थः—इम प्रकार लोकवासना को मटित करके मोक्ष शास्त्र में योगीश्वर की निन्दा और स्तुति में लगाना कथन किधी है । शास्त्र वासना भी तीनप्रकार की है १ पाठव्यसन २ शास्त्रव्यसन और ३ अनुष्ठानव्यसन । इनमें से पाठव्यसन भरद्वाजमुनि में देखने में आता है । इन भरद्वाज मुनि ने अपनी ३०० वर्ष की पूरी आयु पर्यन्त बहुत वेदों को पढ़ा, तब इन्द्रने आकर १०० वर्ष की आयु देने का लालच बतलाया, ऐसे जादु से भी रोष रहे वेदों के अध्ययन के लिये प्रयत्न करने का निश्चय किया । उस के बाद इन्द्र ने उस को मर्णा कर सब कामों से रोक उन्हें अधिक गुणधर्मी बनने के लिये पाठव्यसन का उपदेश किया । यह सब वातांतिगीय जगत् में बहुत है । बहुत शास्त्रों का व्यसन भी मोक्षरूप आलम्बिक पुरुषार्थ का हेतु न होने से उस की भी मलिनता कावपेय गीता में पायी जाती है, वह इस रीति से—कोई दुर्वासा नाम के मुनि अनेक प्रकार के पुस्तकों का भार साथ लेकर महादेव जी को नमस्कार करने आये, तब नारदमुनि जो महादेवजी की सभामें पहिले से बैठे थे । उन्होंने ने दुर्वासा मुनि को भार ढोने वाले मरहे की भांति सभा के बीच ठहराया । इस से दुर्वासा मुनिने क्रोध के वश सब पुस्तकें खारसमुद्र में फेंक दीयी और महादेवजीकी सभामें आगमन, किया तब महादेवजी ने उन्हें अध्यात्मविद्या में प्रवृत्ति कराई । यह आत्मविद्या, जिसकी अन्तर्मुख वृत्तियां हुई नहीं, तथा जित ने सद्गुरु की कृपा प्राप्त नहीं किसी ऐसे पुरुषको किसी काल में भी केवल वेदशास्त्र के अभ्यास से प्राप्त नहीं होती । यह आत्मा शास्त्रद्वारा, ग्रन्थ के अर्थ को भारण कराने वाली शक्ति



द्वारा, या बहुत मुनने से प्राप्त नहीं होती ऐसी श्रुति है । अन्यत्र भी कहा है—

“ बहुशास्त्रकथाकन्धारोमन्थेन वृथैव किम् ।

अन्वेष्टव्यं प्रयत्नेन तत्त्वज्ञैर्ज्योतिरान्तरम् ” इति ॥

अर्थ—अनेक शास्त्रों की कथारूप कन्धा के बार २ चर्वण से क्या फल है ? तत्त्वज्ञ पुरुष तो प्रयत्न द्वारा आन्तर ज्योति का अन्वेषण करें ( आन्तरज्योति को खोजें ) ।

“अधीत्य चतुरो वेदान् धर्मशास्त्राप्यनेकशः ।

ब्रह्मतत्त्वं न जानाति दर्वी पाकरसं यथा ” इति च ॥

अर्थ:—चारों वेदों और अनेकशास्त्रों के पढ़नेपर भी, जैसे अनेक पाक में फिरती हुई करछी ( दर्वी ) अन्नके रस को जानती नहीं, वैसे ही, अन्तर्मुख वृत्ति रहित और गुरु कृपाशून्य पुरुष ब्रह्मतत्त्व को नहीं जानता ।

नारदश्चतुः पष्टिविद्याकुशलोऽप्यनात्म-

वित्त्वेनानुतप्तः सनत्कुमारमुपसत्ताद इति

छन्दोगा अधीयते । अनुष्ठानव्यसनं विष्णु-

पुराणे निदाघस्यापलभ्यते । वासिष्ठरामायणे

दाशूरस्य । निदाघोहि कस्युणा पुनः पुनर्वा-

ध्यमानोऽपि कर्मश्रद्धाजालं चिरं न जहौ ।

दाशूरश्चात्यन्तश्रद्धाजालेनानुष्ठानाय शुद्ध-

प्रदेशं भूमौ न काप्युपलभे । अस्याश्च कर्म-

वासनायाः पुनर्जन्महेतुत्वान्मलिनत्वम् ।

तथाचाऽऽथवर्णिका अधीयते—

अर्थ:—नारदमुनि ६४ कला विद्याओं में कुशल थे । तभी ब्रह्मविद्, न होने से व्याकुल हो सनत्कुमार मुनिकी शरण में

गये यह बात छान्दोग्य उपनिषद् में है । अनुष्ठान व्यसन निदाघोंजी का विष्णुपुराणमें वर्णित है । दाशूरके पुत्र निदाघको कसु के बार २ बोध कराने पर भी चिरकाल तक उठाने कर्म में जडश्रद्धा को नहीं साग दिया । दाशूरको असन्त श्रद्धा की जड़ता के कारण यज्ञ करने योग्य भूमि पृथिवी पर कहीं नहीं मिली । यह वास्तव योगवासिष्ठ रामायण में है । यह कर्मवासना पुनर्जन्मकी हेतुरूप होने से मलिन है । अथर्ववेदीय मुण्डक उपनिषद् में भी कहा है कि—

“ ह्यवाह्यंते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तम-  
वरं येषु कर्म । एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा  
जरा मृत्युं ते पुनरेवापियन्ति ॥ अविद्याया-  
मन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः परिहृतस्मन्य-  
मानाः । जङ्घन्यमानाः परिघन्ति मूढा अ-  
न्धेनेव नीयमाना यथाऽन्धाः ॥ अविद्यायां ब-  
हुधा वर्त्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति  
बालाः । यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेना-  
ऽऽतुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥ इष्टापूर्ते मन्य-  
मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्र-  
मूढाः । नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेनानुभूत्वेमं  
लोकं हीनतरं वा विशन्ति ” ॥

भगवताप्युक्तम् ।

अर्थ:—जिन यज्ञोंमें अठारह प्रकारके (१६ कृत्विक् १ यज-  
मान और यजमानकी स्त्री) नीच कर्म कहे हैं । सो ये यज्ञरूप  
नौकायें अदृढ हैं अर्थात् इन से संसारसागर को पार नहीं पा  
सकते । जो मूढ लोग इस उक्त कर्म को परमकल्याण मार्ग या



[illegible]

श्री कृष्णजी ने भी भागवतपुरीज के अं. २ । श्लो. ४०  
४० में कहा है कि—

‘नामिनां पुत्रिणां वाचं प्रवृत्तमविवर्धितम् ।

वेदव्याख्याः सर्वाणि ? आचार्यविरचितानि आचार्यविरचितः ॥

संस्कृत-भाषायां शब्दाणां अर्थान्तराणां विवरणम् ।

निर्वाणनिर्वाणानां निर्वाणनिर्वाणानां ॥

संविधानसभा के अध्यक्ष पद पर निर्वाचित हुए।

व्यवसायान्विता बुद्धिः कदाचैव निर्विघ्नये ॥

त्रैलोक्यविपत्ता वेदा विप्रोक्तुं यो जनाकुलः ।

निष्ठेन्द्रो नित्यजसहस्रो निर्वीजकोमल आनन्दवान् ।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

तावान्मन्त्रेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विज्ञानतः" इति ॥

अर्थ:—हे अश्रुत? नेदों में अनेकमान्ति में दिव्याये हुए जो  
 स्वर्ग आदिक फल हैं उन में अभिलाषा करनेवाले, कर्मकाण्ड में  
 अन्य दूसरी कोई वस्तु नहीं है ऐसा भाषण करनेहारे विविध-  
 कल्पनाओं करके कर्म में प्रवृत्त, स्वर्गवास ही को परम पुण्यार्थ  
 माननेवाले ऐसे जो अज्ञानी लोग वे केवल ऐश्वर्यों के भोग  
 ही में दृष्टि देकर नाना क्रियाओं के आडस्वर्गों में बड़ी हुई  
 कर्म केद्वारा कर्मियों को देनेवाली जागी को पल्लवित (व-  
 हासर) कहते हैं। परन्तु भोग और ऐश्वर्य में फले हुए तथा-  
 कर्मकाण्डों करके लीची है चिरायुचित जितनी पैसों के अन्तः क-  
 रण में दृढमृदाजवाली बुद्धि नहीं होती है ॥ वेद सत्त्वगुण रजो-  
 गुण और तमोगुणका जो संगठन के विषय गुण उन को प्रकाश  
 करने वाले हैं। हे अश्रुत ! तू तो निष्काम हो और परस्परभिरोधी  
 दुःखदुःसाहिबद्वार्यों से मुक्त हो, जिसपैस को भाग्यकार, यह-  
 पदार्थ कैसे मिलेगा वह कैसे रोमा डाल बिना को छोड़ और  
 मानवान् अर्थात् मनुष्य में शक्ति हो। छोटे २ जगत्त्यों में  
 होनेवाले जो काम होने से जागें और वे पड़े हुए बड़े भारी  
 तमसजय में जैसे गहज से होते हैं उन्हीं प्रकाश तत्त्वपूर्ण नेदों में होने  
 वाले जो प्रयोजन को जगा जाननेवाले को सतज में हो जाते हैं।

"इषंतेतुरवाचउतामवापमाना यत्किञ्चनम् ।

उत्पन्नं तु तदुक्तं मे तेन तावदेव यथा हि नेहानधीत्याह-

येन विपुलाणि पुराणानि सन्निभानि नान्येभ्यः कृतानि:

पट्टाध्याने पटुजित् । तथा बालातिः कासि चि-

दुपान्नान्नमन्नमस्य ह्यस्य उपनिषदादिषु मन्त्रेषु देवे-

पु. शिक्षाविभागमेव कक्षासु विधानसभासु कार्य-



मज्झिमसुत्तं ब्रह्मविच्छिरोमणिमनुशासितुं  
धाप्यं चकारेति कौपीयकिनो वाजसनेपि-  
नश्चाधीयते. देहवासनाऽऽप्यात्मन्वगुणाधान-  
दोषापनयनभ्रान्तिभित्तिविधा । तत्राऽऽत्म-  
त्वं भाष्यकार उदाजहार—

“देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति प्राकृता  
लौकयितिकाश्च प्रतिपन्नाः” इति ॥

अर्थः—शास्त्रवाचना गर्व का कारण होनेसे मलिन है.  
श्वेतकेतु ने बोडे समय में सब देशों का अभ्यास कर गर्व में  
अपने दिवा के समीप भी अविवेक किया. यह बातें उन्नीस  
उपनिषद् में हैं । वाल्मीकि ने कई एक उपासनाओं को जान-  
नेसे गर्विष्ठ होके, उमीनर आदि अनेक देशों में दिगुविचर  
द्राग बहुत से ब्राह्मणों का अपमान कर अन्न में काशी में ब्रह्म  
शिरोमणि अज्ञानशत्रु नामक राजा को भी उपदेश देनेके लिये  
अपनी हिडई ( धुत्ता ) पकड़ किया, यह बात बृहदारण्यक  
एवं कौपीयकी उपनिषद् में मिली है । देहवासना भी देह-  
भाव, गुणाधान, और दोषापनयन भ्रान्तिद्वारा तीन प्रकार की  
है । — “चैतन्य विशिष्ट देह ही आत्मा है, इस प्रकार वायु  
लोग और लौकयितिक—चार्वाक के अनुयायी मानते हैं । इस  
प्रकार देह में आत्मापनका उदाहरण भगवान् शङ्कराचार्य ने  
मार्गीय भाष्य में दिया है ।

“सवा एव पुरुषोऽन्नेरसमयः” इत्यादिभ्यः त-  
स्मादन्ने तदुच्यते” इत्यन्तेन ग्रन्थेन नामैव प्रा-  
कृतप्रतिपत्तिं तैत्तिरीयाः स्पष्टीकुर्वन्ति ।  
विरोचनः प्रज्ञापतिनाऽनुशिष्टोऽपि स्वानि-

दोषेण देहात्मबुद्धिं दृढीकृत्यासुरान् सर्वाननु-  
शशास इति छन्दोगा अष्टमाध्याये समाम-  
नन्ति । गुणाधानं द्विविधम् । लौकिकं शान्त्री-  
यं चेति । सर्माधानाद्यादिसम्पादनं लौकि-  
कम् । कोमलध्वनिना गातुमध्येतुं वा तैलपा-  
नमरीचनक्षणादिषु लोकाः प्रयतन्ते । मृदुस्पर्-  
शीय लोकाः पुष्टिकरावौषधाहारादुपयुज्य-  
न्ते । लावण्यायाम्यङ्गोदनेन दुग्धालङ्कारानुप-  
सेवन्ते । सौगन्ध्याय स्वगालेपने धारयन्ति ।  
शान्त्रीयं गुणसाधनं गङ्गास्नानशान्तिग्राम-  
तीर्थादिकं सम्पादयन्ति ।

अर्थः—सो यह पुरुष अन्न रसका विकाररूप है । यहां से  
अन्न कर “इस लिये उसे अन्न कहते हैं” यहां तक तैत्तिरी-  
यै उपनिषद् में भी उसी प्राकृत लोगों का सब दिखलाया है । विरो-  
चन को ब्रह्मा ने उपदेश दिया उस पर भी अपने अपने अन्नः  
रस के दोष से देहात्म बुद्धि को दृढ कर उनको असुरों को  
उपदेश दिया. यह कथा छान्दोग्य उपनिषद् के अ० ८ में मिल  
है । गुणाधान । आप में जो गुण न हो उन को प्राप्त करना ।  
शान्तीय और लौकिक इन भांति दो प्रकारका है । कष्ट में  
दुन्दर स्वर का सम्पादन आदिक लौकिक गुणाधान है । को-  
मल स्वर से गान वा अध्ययन के लिये तैलपान, मरीच का से-  
वन, आदि उपायों को बहुत लोग प्रयत्न पूर्वक सेवते हुए देख  
पड़ते हैं । बहुत से तो अपने शरीर को मुखायय करने के लिये  
पुष्टिकारक औषध और आहार का सेवन करते हैं । सुन्दर स्वर  
पानेके लिये अम्यंग और उदर को सेवते हैं । इसी प्रकार सुन्द-



स्वस्त्र और अलंकारों को धारण करते हैं। शरीर को सुगन्धवान् करने के लिये चन्दन और पुष्पमालाओं को धारण करते हैं। शरीर को शौच आचमनाभ्यां से धोती है। शास्त्रीय गुण को धारण करने के लिये शास्त्रीय और शास्त्रीयान्तरे-शास्त्रीय को सेवन करते हैं।

दोषापनयनं च चिकित्सकोक्तैरोपवैर्दुर्गन्ध-  
प्रक्षालनेन च लौकिकं, शौचाचमनाभ्यां च  
दिकमित्युभयविधम् । अस्याश्च देहवास-  
नाया मालिन्यं वक्ष्यते । देहस्याऽऽत्मत्वं त-  
दप्रामाणिकत्वादशेषदुःस्वहेतुत्वाच्च मालिन-  
त्वम् । अस्मिन्नर्थे पूर्वाचार्यैः सर्वैरपि परा-  
कान्तम् । गुणाधानं च प्रायेण न पश्यमानः ।  
प्रसिद्धा एव गायका अध्यापकाश्च प्रयत्नमाना  
अपि वहवो ध्वनिसौष्टवं न लभन्ते । सु-  
स्वरास्तेऽप्युत्तिष्ठन्ति न विवर्णाः । तान्मन्त्र-  
न्यां यानि दुःस्वरास्तेऽपि निष्ठे न तु देहनिष्ठे ।  
अतएव विष्णुपुराणेऽभिहितम् ।

अर्थः—दोषापनयन ( शरीर में के दोषों को दूर करना )  
भी लौकिक और शास्त्रीय रूप में विभक्त हो सकता है । शास्त्रीय  
वैद्यक में कहे अनुसार औषधों के सेवन तथा मुखप्रक्षालनादि से  
दोषापनयन को लौकिक दोषापनयन कहते हैं, और शौच आ-  
चमन द्वारा शास्त्रीय दोषापनयन कहलाता है । इस देहवासना  
की मालिनता को कहेंगे । देह को आत्मा जानना यह प्रमाण-  
शून्य और सब दुःखों का कारणरूप होनेसे मालिन है । देह को  
आत्मा जानने का सुष्ठुन सब ही पूर्वाचार्यों ने यही प्रयत्न

किया है । गायक और अध्यापक सुन्दरध्वनि होने के लिये  
प्रयत्न करते हुए भी प्रायः निष्फल होते जाते हैं । शरीर का मृदु  
मुलायम होना और पुष्टि होना यह भी औषधादिक सेवन से  
ही होजाता ऐसा कोई नियम नहीं । लावण्य और सुगन्धपन  
भी वस्त्र अलंकार, पुष्पमाला आदिमें स्थित है, देखें नहीं,  
अत एव विष्णुपुराण में कहा है—

“मांसासृक्पृथविष्णुसूत्रस्नायुमज्जास्थिसंहतौ ।  
देहे चेत्प्रीतिमान् मूढो भवति नरकेऽपि सः ।  
स्वदेहाशुचिगन्धेन न विरज्येत यः पुमान् ।  
विरागकारणं तस्य किमन्यदुपदिश्यते” इति ॥

अर्थ—मांस, रुधिर, पीव, विष्टा, मूत्र, रग, मज्जा और  
हड्डियों के संघातरूप शरीर में जो मूढ पुरुष प्रीतिमान् होता  
है तो नरक जो वैसेही पदार्थों से भरा रहता है, उसमें भी उस-  
को प्रीतिमान् होना चाहिये । अपने शरीर में स्थित अशुचि  
दुर्गन्ध करके जिस पुरुष को शरीर में विराग उत्पन्न नहीं होता,  
उस पुरुष को दूमरा वैराग्यजनक कारण का क्या उपदेश  
किया जावेगा ।

“शास्त्रीयं च गुणाधानं प्रबलेन शास्त्रान्तरे-  
णापोह्यते “ नहिंस्यात्सर्वभूतानि ” इत्यस्य  
“अग्नीषोमीयं पशुमालभेत” इत्यनेनापवाद-  
स्तद्वत्प्रबलशास्त्रमेतत् ॥

अर्थः—शौच आचमनादिगुणाधान, उनके निधान करने-  
वाले शास्त्र की अपेक्षा अधिक बलवान् शास्त्रमें बाधको प्राप्त  
होता है, जैसे “किसी प्राणी की हिंसा न करे” इस वेदवचन  
का—“अग्निष्टोम यज्ञ में पशु का आलम्भन करे”— यह



साधन साधन है । तबे शारीर गुणाधान का अपवाद रूप  
निम्नलिखित शास्त्र वचन है—

“यस्याऽऽत्मबुद्धिः कृणोते विधानं कं स्वर्गः  
कलत्रादिषु भौम इज्यघीः ।  
यातायैवः सलिले न कार्द्विचलनेष्वभिज्ञेषु  
स एव गोचरः” ॥

अर्थः—जिस को वात, पित्त, और कफ, इन धातुओं का  
बना हुआ शरीर ( देह ) में आत्मबुद्धि है, जो, पुत्रादि में जिस  
को आत्मबुद्धि है, पृथिवी का विकार रूप प्रतिमा आदि में  
जिस को पुण्य बुद्धि है, तीर्थबुद्धि जिस को जल में है, परन्तु  
प्रेमी बुद्धि जिस को ज्ञानवान् पुरुष में नहीं है, वही पुरुष भार-  
वाही बैल या गदहा है ।

“अत्यन्तमलिनो देहो देही चात्यन्तनिर्मलः ।  
उभयोरन्तरं ज्ञात्वा कस्य शौचं विधीयते”  
इत्यादि ।

अर्थः—देह असन्त मलिन है, अर्थात् किसी प्रकार वह  
शुद्ध हो ऐसा नहीं । और देहस्थ आत्मा अत्यन्त निर्मल है, उस  
को शुद्धि की अपेक्षा नहीं, ऐसा इन दोनों के भेद का समझ  
कर किस को शुद्ध करें ? किसीको नहीं ।

यद्यप्यनेन ज्ञात्रेण दोषापनयनं प्रतिषिध्यते  
नतु गुणाधानं, तथाऽपि सानि विरोधाधिनि प्रव-  
लदोषे गुण आधातुमशक्य इत्यभिगुणुणाधा-  
नस्य प्रतिषेधः । अत्यन्तमालिन्यं चात्र मैत्रा-  
यणीयशाखायां श्रूयते ॥

अर्थः—यद्यपि यह वाक्य दोषापनयनका निषेध करता है,

गुणाधान का निषेध करता नहीं तथापि जब तक प्रबल दोष  
विद्यमान रहते तब तक गुणाधान बन नहीं सकता । इस लिये  
गुणाधान का निषेध भी इस वाक्य से समझ लेना । देह की अ-  
त्यन्त मलिनता मैत्रायणी शाखा में दिव्यज्यायी है—

“ भगवत्सहिष्यधीम्नाभुस जामांसशुक्रजोणि-  
तइलेप्साश्रुदृषिकादृषिते विषमूत्रधानापित्त-  
संघाते दुर्गन्धे निःसारेऽस्मिन्शरीरे किं का-  
मोपभोगः ” इति ।

अर्थः—हे भगवन् ! इस शरीर को जो हड्डी, चर्म, नस,  
गुजा, मांस, शुक्र ( बीज ) कश्मिर, कफ, आंसु, दांपका ( आंसु  
का घेठ ) आदि से दूषित है और विष्टा, मूत्र, वात, पित्त आ-  
दिकों का समुदायरूप और दुर्गन्धि वाला है, उस में विषय  
भोग का क्या प्रयोजन है ? कोई भी नहीं ।

शरीरमिदं मैथुनादेवाद्भुतं संविद्व्यपेनं  
निरय इव सूत्रद्वारेण निष्क्रान्तमस्तिर्माश्रि-  
तं मांसेनानुलिप्तं चर्मणाऽवयवं विषमूत्र  
कफपित्तमज्जामेदोचर्माभिरन्यैश्चाऽऽमयैर्वहु-  
भिः परिपूर्णं कोश इव वसुनेति च चिकि-  
त्संघा च रोगशान्तिर्न नियता । शान्तोऽपि  
रोगः कदाचित् पुनरुदेति । नचाच्छिद्रैर्निरन्तरं  
स्रवत्सु मलेषु रोमकूपैरसकृपातैः स्विजे गात्रे  
को नाम स्वदेहमुपायेन प्रक्षालयितुं शक्नु-  
यात् । तदुक्तं पूर्वाचार्यैः ।

अर्थः—यह नरक तुल्य शरीर, मैथुन से उत्पन्न हुआ है ।  
वैतन्यरहित, मूत्र द्वारसे निकला, छद्दियों से व्याप्त, मांस से



लिपटा, बाप से बन्धा, तथा जैसे द्रव्यों से भरा खजाना होने के लिये जिस रुख रुख जिस पत्तल में दूना और अन्य चीजें रख रखीं वे पूर्ण हैं । इस से रोगों की निवृत्ति हो ही जाये ऐसा नियम नहीं । और कदाचित् रोग छूट भी जाये तो फिर उस से ज्ञान है । नौ निम्न ( मन्त्राग मार्ग, पेशाव करने का मार्ग, श्वास, नाक से हो कर, आँख के दो, ना और कान के दो ) में से निरन्तर मल निकलता रहता है । और शरीर में प्रसिद्ध होता है । उस लक्षण भी अमरत्वान्न रोमकूर में से मल निकलता है । ऐसे शरीर को मलान्न आदि उपायों से कौन छुड़ कर सकता ! कोई नहीं ।

पूर्वाचार्यों ने भी कहा है—

“नवच्छिद्रकृता देहाः स्ववन्नि घटिका इव ।  
बाष्पशौचैर्न शुष्यन्ति तान्तः शौचं तु विद्यते” ॥  
अतोदेहवासना मलिना । तदेतन्नालिन्यम-  
भिप्रेत्य वसिष्ठ आह—

अर्थ:—जैसे नौ छेदवाले बड़े में से जल बाहर गिरता है, उसी प्रकार नौ छेदवाले शरीर में से मल बाहर होता । वह शरीर बाष्प शौच ( बाष्पी सकृ ई ) से शुष्क नहीं हो सकता । उसी प्रकार उन की भीतरी छुड़ तो है नहीं । इस लिये देहवासना मलिना है ।

देहवासना को मलिन समझ कर वसिष्ठ ने भी कहा है:—

“आपादमस्तकमहं मानाविज्ञाविनिर्मितः ।  
इत्येको निश्चयोराम ! बन्धायासाञ्जिलोकनात् ॥  
सा कालवृद्धवद्वी सा जहार्थाचिवागुरा ।  
साऽस्तिपत्रवनश्रेणी वा देहोऽहमितिनिश्चयिनिः ॥

सा त्याज्या सर्वयत्नेन सर्वनाशोऽप्युपस्थिते ।  
स्पृष्ट्या सा न भव्येन सश्वमांसव पुल्कसी” ॥  
इति ।

अर्थ:—पैर से शिर तक मुझ को मारना पिता ने ही रचा है । त्यागित होने से उत्पन्न इस शरीर के मित्राय, अन्य मेरा स्वरूप नहीं । हे राम ! इसे प्रकार का एक निश्चय अवधार्य दृष्टि कर लेने से बन्धन देने वाला है । ‘मैं देह हूँ’ ऐसा जो निश्चय है, वह कालवृद्ध नामक तरक का मार्ग है । वह ‘अवीचि’ नामक लक में फामने वाला बड़ा जाल है, वह ‘अमिपत्रवन’ इन नामों के तरक की पंक्ति है । सर्व पदार्थों के नाश को नश्य आने पर भी ‘मैं देह हूँ’ ऐसी भावना सब प्रयत्नों से भी त्याग करती । भविष्यत् में कल्याण चाहने वाला पुरुष कुत्ते का मांस लेकर जाने हुए चण्डाली के लगान पूर्वोक्त अहम्भाव का स्पर्श भी नहीं करे ।

“तदेतल्लोकशास्त्रदेहवासनाजयसविवेकिना-  
मुपादेयत्वेन प्रतिभासमानमपि विविदिषो-  
र्वेदोत्पत्तिविराधिन्याञ्छिद्रयो ज्ञानप्रतिष्ठा-  
विरोधित्वाच्च विवेकिभिर्हेयम् । अतएव तन्म-  
र्यते” ।

अर्थ:—लोकमानना, देहवासना, और शास्त्रवासना ये तीन-  
वासनाये अविवेकी पुरुषको ग्रहण करने योग्य प्रतीत भी हों  
ले भी वह जिज्ञासु के लिये ज्ञान उत्पत्ति में विरोधी होनेसे  
और ज्ञानी को स्थिरता की विरोधी होनेसे विवेकी पुरुष इनका  
स्पर्श त्याग करे ।

उसी लिये योग्यावासिष्ठ में कहाँ कि—



"लोकवासनया जन्तोः शास्त्रवासनयाऽपि च।  
देहवासनया ज्ञानं यथावन्नैव जायते" इति ॥

अर्थ:—लोकवासना, शास्त्रवासना, और देहवासना इन तीनों का यथार्थ ( ठीक ) ज्ञान नहीं प्राप्त होता ।

या तु दम्भदर्पायासुरसम्पद्रूपा मानस-  
वासना तस्या नरकहेतुत्वान्मालिन्धमतिप्र-  
सिद्धम् । अतः केनाप्युपायेन वासनाचतुष्ट-  
यस्य क्षयः सन्पादनीयः । यथा वासनाभ्रयः  
सम्पादनीयस्तथा मनसोऽपि । नच तार्किक-  
वस्तित्वद्रव्यमणुपरिमाणं मनो वैदिका अ-  
नुपगच्छन्ति । येन मनोनाशो दुःसम्पादनी-  
यः स्यात् । किं नहि सावयवमनित्वं सर्वदा  
जनुबुवर्णादिवद्बहुविधपरिणामार्हं द्रव्यं  
मनः । तस्य लक्षणं प्रमाणं च वाजसनेयिनः  
समामनन्ति ।

अर्थ:—दम्भ दर्प आदि आसुरी सम्पत्तिरूप जो मानस वासना है । वह नरक का हेतु होने से उस की मलिनता ने अन्धत्व प्रसिद्ध ही है, अतएव किसी उपाय से लोक, शास्त्र, देह और मानस इन चार प्रकार की वासनाओं का क्षय करे, जैसे वासनाओं का क्षय कर्त्तव्य है उसी प्रकार मनोनाश भी कर्त्तव्य है ।

वर्कनाम्नी लोग मन को नित्य, और अणुरूप मानते हैं । उन लिये उन के मत में मन का नाश यद्यपि अशक्य है । तथापि वैदिक पुरुष वैसा मानते नहीं । वे तो अवयव बड़े अतिव और छोड़े सुवर्ण आदिक के समान बहुत तरह के परि-

काश पाने योग्य जो द्रव्य वह मन है ऐसा मानते हैं । मन-  
का लक्षण और प्रमाण वाजसनेयी शास्त्रावाले यों कहते हैं ।

"कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा  
धृतिरधृतिर्हीर्षीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव"  
इत्येतल्लक्षणम् ।

कामादिवृत्तयः क्रमेणोत्पद्यमानाश्चाभ्युपगम्य-  
क्षयदादिवत्साक्षिप्रत्यक्षा अतिस्पष्टं भासन्ते  
तद्वृत्त्युपादानं मन इत्यर्थः ।

अर्थ:—"काम, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, क्रुद्धा, ज्ञान, भय ये सब मन ही हैं यह उपर से जैसे बड़ा अदि पदार्थ चाक्षुष ( आंखसे ) प्रत्यक्ष से स्पष्ट भासते हैं उसी प्रकार अनुक्रम से उत्पन्न होनेवाली काम आदिक वृत्तियाँ साक्षिप्रत्यक्ष से स्पष्ट भासती हैं । उन वृत्तियों का उपादान करना वह मन ही है यह मन का लक्षण हुआ ।

"अन्यत्रमना अभुवं नादर्शमन्यत्रमना अ-  
भुवं नाश्रौषम्" इति "मनसा ह्येष पश्य-  
ति मनसा शृणोति" इत्यादि प्रमाणम् ।

अर्थ:—मेरा मन अन्यत्र था इस से मैंने नहीं देखा, मेरा मन अन्यत्र था इनसे मैंने नहीं सुना । और "यह पुरुष मन से देखता है और मन से सुनता है" यह श्रुति मन के सद्रूप में प्रमाणरूप है ।

चक्षुःसंनिकृष्टः स्वीतावलोकमध्यवर्ती यदः  
श्रोत्रसंनिकृष्ट उच्चैःपठितवेदश्च यस्यानव-  
धाने सति न प्रतीयते, अवधाने तु प्रतीयते ।  
नादृशं सर्वविषयोपलब्धिसाधारणकारणम् ।



न्यवप्यतिरेकाभ्यां प्रतीयत इत्यर्थः ।

“तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजा-  
नार्ता” त्येतदुदाहरणम् ।

अर्थः—नेत्र इन्द्रिय के समीप बहुत प्रकाश में रहने वा-  
यु और कान के पास ऊँचे स्वर से पढ़ने से वेद जिस के  
अवधान से प्रतीत होता है, उसी प्रकार जिस की अनवधान-  
से प्रतीत न हो वैसे सब विषयों के ज्ञान का जो माध्याम्य का-  
रण अन्यथ व्यतिरेक रीति से प्रतीत होता है, वह मन है  
“पीठ पर से हुए स्पर्श को मन से जानता है” यह मन का  
उदाहरण है ।

यस्माद्वृत्तणप्रमाणाभ्यां सिद्धं मनस्तस्मात्त-  
देवदत्तसमीपतः । वृत्तनागेऽन्यान्येनोपस्पृष्टो  
देवदत्तो विशेषेण जानाति इत्यन्यथार्थोऽव-  
मदुलिस्पर्शोऽयमिति । नहि तत्र चक्षुः प्रस-  
रति, त्वगिन्द्रियं तु मार्दवकाटिण्यमात्रोप-  
क्षीणम् । तस्मान्न मन एव विशेषज्ञानकारणं  
परिशिष्यते । तच्च मननान्मन इति चिन्त-  
नाच्चित्तमिति चाभिधीयते । तच्च चित्तं  
मन्त्ररजस्तमोऽनुगात्मकं प्रकाशप्रवृत्तिमोहा-  
नां मन्त्रादिकादीनां तत्र दर्शनम् । प्रका-  
शादीनां च गुणकार्त्तन्यं गुणार्त्तानन्दज्ञानेऽव-  
गम्यते ।

अर्थः—लक्षण और प्रमाण द्वारा मन सिद्ध होने के लिये  
उपस्थिति उस का उदाहरण समझना कि जैसे देवदत्त के पीठ  
की ओर होकर किसी ने उस का स्पर्श किया जिस को वह

जानता है कि ‘यह हाथ से किसी ने छुआ है और ‘यह  
पीठ से स्पर्श हुआ’—यहां पीठ की ओर नेत्र इन्द्रिय पहुंच  
की महत्ता और त्वचा इन्द्रिय केवल स्पर्शगत काँटनता या  
सुख को जल्लाकर विराम को पाता है । अतएव हाथ का  
समीप प्रवृत्ति का स्पर्श इस विशेष ज्ञान का कारण जो  
तब ही वह मनन रूप क्रिया के कारण ‘मन’ कहलाता है,  
कि चिन्तन रूप क्रिया करने से ‘चित्त’ कहलाता है । वह मन  
रज, तम, और मोहगुणयुक्त है । क्योंकि इन तीन गुणों का  
कार्य प्रकाश, प्रवृत्ति, और मोह मन में प्रतीत होते हैं ।

“प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव” ?

इत्यभिधानात् । आह्वयव्याप्तेऽपि प्रकाशप्रवृ-  
त्तिमोहा निवसार्थो इत्युक्तम् । प्रकाशो नाम  
नात्र सितभास्वरं रूपं किं तु ज्ञानम् ।

अर्थः—प्रकाश आदि तीन गुणों के कार्य हैं, यह गुणा-  
दी के लक्षण में बतलाया है ( भगवद्गीता में ) प्रकाश,  
प्रवृत्ति, मोह, निवस के लिये हैं । उर्मी प्रकाश पाण्डव का  
कहा है । प्रकाश अर्थात् यहाँ शुद्धभास्वर रूप न समझना,  
किन्तु ज्ञानरूप प्रकाश समझना । क्योंकि—

“सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।

प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च”

इत्युक्तत्वात् । ज्ञानवत्सुखमपि सत्त्वकार्य-  
म् । तदप्युक्तम् ॥

अर्थः—सत्त्वगुण से ज्ञान, रजोगुण से लोभ, और तमो-  
गुण से प्रमाद, मोह, और अज्ञान उत्पन्न होते हैं । गी० अ०  
“११” श्लो १९ में कथन किया है । ज्ञान के समान सुख भी



सत्त्वगुण का कार्य है। यह बात भी उगी भाषा में ९ में श्लो.  
में कथन कीय है।

“सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ? ।

ज्ञानमावृण्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत” इति ॥

समुद्रारङ्गवजिरन्तरं परिणममानेषु गुणेषु  
कदाचित् कश्चिदुद्भवति । इतरात्राभिभूयते ।  
तदुक्तम् ।

अर्थः—हेभारत ! सत्त्वगुण के उदय होने से सुख, और  
रजोगुण के उदय होनेसे कर्मा में प्रवृत्ति होती है, परन्तु तमो  
गुण तो अपने उदय को पाकर ज्ञान को चारों ओर से रोक  
कर देही को प्रमाद में पटकता है ।

समुद्र की लहरों की भान्ति सदा परिणाम को प्राप्त होने-  
वाले गुणों में से जिस समय जो गुण अधिक उद्भव होता है।  
उस समय इतर गुण दब जाते हैं, यह भी गी० अ० १४ श्लो०  
१० में वर्णित है—

“रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ? ।

रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा” इति ॥

“बाध्यबाधकतां यान्ति कल्लोला इव सागरे”  
इति ॥

अर्थः—हेभारत ! सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण को  
दबाकर उदय होता है । रजोगुण, सत्त्वगुण और तमोगुण, को  
दबाकर उदय होता है । और तमोगुण, सत्त्वगुण और रजोगुण  
को दबाकर उदय होता है । समुद्रमें लहरों की भांति वे सब  
गुण बाध्यबाधकता को प्राप्त होते हैं ।

तत्र तमस उदये सत्यामुरसम्पद्बुदेति । र-

जस उद्भवति सति लोकादिवासनास्तिस्रो  
भवन्ति । सत्त्वस्योद्भवे सति दैवी सम्प-  
दुपजायते । एतदभिप्रेत्योक्तम् ।

अर्थः—जहाँ तमोगुणका उद्भव होता है, तब आसुरी सम्प-  
त्ति उदय होता है, रजोगुण वृद्धि पाता है, तब लोक वासना  
आदि पूर्वोक्त तीन वासनाओं का उदय होता है, और सत्त्व-  
गुण का उदय होता है । तब दैवी सम्पत्ति उपजती है । इसी  
अभिप्राय से भगवद्गी० अ० १४ श्लो० ११ में कहा है—

“सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।

ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विद्वज्जं सत्त्वमित्युत” इति ॥

अर्थः—इस शरीर के बीच जब चारों इन्द्रियों के द्वारों में ज्ञान  
का प्रकाश उत्पन्न होता है तब सत्त्वगुण की विशेष वृद्धि जानो ।

यद्यप्यन्तःकरणं त्रिगुणात्मकं भासते तथा-

ऽपि सत्त्वमेवास्य मनसो मुख्यमुपादान-

कारणम् । उपादानसहकारिभूता अवयवा

उपष्टम्भकाः । रजस्तमसी तु तदुपष्टम्भके ।

अतएव ज्ञानिनो योगाभ्यासेन रजस्तमसो-

रपनीतयोः सत्त्वमेव स्वरूपं परिशिष्यते ।

एतदभिप्रेत्योक्तम् ।

अर्थः—यद्यपि अन्तःकरण त्रिगुणात्मक है ऐसा प्रतीत  
होता है, तथापि इस मन का मुख्य उपादान कारण तो सत्त्व-  
गुण ही है । उपादान कारण की सहायता करनेवाला अवयव  
‘उपष्टम्भक’ कहलाता है, अतएव रजोगुण और तमोगुण सत्त्व-  
गुण का उपष्टम्भक है । इसी कारण से ज्ञानवान् पुरुष का यो-  
गाभ्यास से रजस और तमस दूर होनेपर उसको केवल शुद्ध-



सत्त्व स्वरूप ही शेष रहता है। इसी अभिप्राय से किसी महात्मा ने कहा है कि—

“अस्य चित्तमचित्तं स्याज्ज्ञचित्तं सत्त्वमुच्यते” इति॥

अर्थ:—ज्ञानी का चित्त मङ्गल विकल्प रहित होने से चित्त-संज्ञा के योग्य नहीं। उस का चित्त तो केवल शुद्ध स्वरूप है।

तच्च सत्त्वं चाञ्चल्यहेतुरजोगुणशून्यत्वादेकाग्रम् । भ्रान्तिकल्पितानात्मस्वरूपस्थूलपदार्थाकारहेतुतमोगुणशून्यत्वात् सूक्ष्मम् । तत आत्मदर्शनयोग्यम् । अत एव श्रुतिः ।

अर्थ:—वह सत्त्वरूप चित्त चाञ्चलता के कारणभूत रजोगुण रहित होने से एकाग्र होता है, तथा भ्रान्तिकल्पित अनात्मस्वरूप स्थूल पदार्थ का आकार होने में कारणभूत तमोगुणशून्य होने से सूक्ष्म है। इन दोनों गुणों से युक्त होने से वह आत्मदर्शन के लिये योग्यता वाला होता है। श्रुति भी कहती है कि—

“दृश्यते त्वग्न्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः” इति ॥

अर्थ:—सूक्ष्मदर्शी पुरुष एकाग्र और सूक्ष्मबुद्धि द्वारा आत्मा का दर्शन करता है।

न खलु वायुना दोधूयमानेन प्रदीपेन मणिसुसुक्तादिलक्षणानि निर्धारयितुं शक्यन्ते । नापि स्थूलेन खनित्रेण सूच्येव सूक्ष्मपटस्यूतिः सम्भवति । तदीदृशं सत्त्वमेव योगिषु तमोगुणसहितेन रजोगुणेनोपप्लव्यं बहुविधद्वैतसङ्कल्पेन चेतयमानं चित्तं भवति । तच्चित्तं तमोगुणाधिक्ये सत्यासुरीं सम्पदमुपचिन्व-

त्पीनं भवति । तथाऽऽह वसिष्ठः ।

अर्थ:—जैसे वायु द्वारा कापते हुए दीप के प्रकाश से रत्न की परीक्षा करने वाला पुरुष रत्न के लक्षणों की परीक्षा नहीं कर सकता, उसी प्रकार-वारीक सूइ से जैसे सूक्ष्म वस्त्र मिला जाता है, उसी प्रकार स्थूल कोदारी से वस्त्र नहीं मिला जा सकता। सो यह सत्त्व ही योगियों में तमस सहित रजोगुण मिश्रित होने से नानाविध द्वैत विषयके संकल्प द्वारा अनात्म वस्तु का दर्शन करने से चित्त संज्ञा को प्राप्त होता है। वह चित्त तमोगुण की अधिकतावाला होता है, तब वह आसुरी सम्पत्ति का संग्रह करने से स्थूलता को प्राप्त होता है। यह वार्त्ता योग-वसिष्ठ में यों लिखी है कि—

“अनात्मन्यात्मभावेन देहभावनया तथा ।  
पुत्रदारैः कुटुम्बैश्च चेतो गच्छति पीनताम् ।  
अहङ्कारविकारेण ममतामललीलया ।  
इदं ममेति भावेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥  
आधिव्याधिविलासेन समाश्वासेन संसृता ।  
हेयादेयविभागेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥  
स्नेहेन धनलोभेन लाभेन मणियोपिताम् ।  
आपातरमणीयेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥  
दुराशाचीरपानेन भोगानिलबलेन च ।  
आस्थादानेन चारण चित्ताहिर्याति पीनताम्”  
इति ॥

आस्था नाम प्रपञ्चे सत्यत्वबुद्धिस्तस्या आ-  
दानमङ्गीकारः स एव चारो गमनागमन-



विनाशनीययोर्वीसनामनसोः  
स्वरूपं निरूपितम् ॥

अथ वासनाक्षयमनानाशौ क्रमेण निरूप्येते,  
तत्र वासनाक्षयप्रकारमाह वसिष्ठः ।

अर्थः—अनात्मपदार्थ में आत्मबुद्धि करने से, स्थूल शरीर में छठ अहंभाव के कारण, स्त्री, पुत्र, और कुटुम्ब द्वारा अर्थात् उस में आनक्ति से चित्त स्थूलता को प्राप्त होता है । अहंकार के विकास से अर्थात् उम की वृद्धि होने से ममत्वरूप मल के संमर्ग से, यह और मेरा ऐसे भाव के उदय होने से सत्यत्व बुद्धि से तथा यह त्यागने योग्य है और यह ग्रहण करने योग्य है ऐसे विभाग से चित्त स्थूलता को प्राप्त होता है । आपातरमणीय ऐसे स्नेह से, धन के लोभ से, और मणी मुक्ता आदिक तथा स्त्री की प्राप्ति से चित्त स्थूलता को प्राप्त होता है । दुराशास्त्र दूध पीने से, भोगरूप वायु के सेवन जन्य प्राप्त बल से, जगत् में सत्यत्व बुद्धि के स्वीकार से और विषयों के प्रति जाने आने से चित्तरूपी सर्प स्थूलता को प्राप्त होता है ।

इस भान्ति नाश करने योग्य वासना और मन के स्वरूप का निरूपण किया ।

अब वासना क्षय और मनोनाश का क्रमसे निरूपण किया जाता है । पहिले वासना क्षयका प्रकार भगवान् वसिष्ठ जी कहते हैं—

“वन्धो हि वासनावन्धो मोक्षः स्याद्वासनाक्षयः ॥  
वासनास्त्वं परित्यज्य मोक्षार्थित्वमपि त्यज ॥  
मानसीर्वासनाः पूर्वं त्यक्त्वा विषयवासनाः ।

ता अप्यन्तः परित्यज्य ताभिर्व्यवहरन्नपि ॥

अन्तः शान्ततमस्नेहो भव चिन्मात्रवासनः ॥

तामप्यन्तः परित्यज्य मनोबुद्धिसमन्विताम् ।

शेषे स्थिरसमाधानो येन त्यजसि तं त्यज” इति ॥

अर्थः—वासनारूप बन्ध सो ही बन्ध है, और वासनाओं का क्षय यही मोक्ष है । इस लिये प्रथम वासनाओं का त्याग कर मोक्ष की कामना को भी छोड़ो । प्रथम विषय वासना तथा मानसी वासनाओं का त्याग कर मैत्री मुदिता आदि की भावना नाम की निर्मल वासनाओं को तुम ग्रहण करो । उस शुभवासना के द्वारा व्यवहार करने पर भी, अन्त में उन का भी त्याग कर अन्त में जिस का स्नेह ( विषयों में प्रीति ) अत्यन्त शान्त हो गया है, ऐसे तुम केवल चिन्मात्र वासना वाला होओ, यह मन बुद्धि सहित चिन्मात्र वासनाओं का भी त्याग कर सब का अवधिभूत वस्तु में स्थिरवृत्ति स्थापन कर और जिसे इन सब को त्याग दिया है, उसको भी ( उमवृत्ति को भी ) तुम त्याग दो ।

अत्र मानसवासनाशब्देन पूर्वोक्तास्तिस्रो लोकशास्त्रदेहवासना विवक्षिताः । विषयवासनाशब्देन दम्भदर्पाद्यासुरसम्पद्विवक्षिता । मृदुतीव्रत्वे तद्विवक्षाभेदकारणे । यद्वा शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा विषयास्तेषां काम्यमानत्वदशाजन्यसंस्कारो मानसवासना । भुज्यमानत्वदशाजन्यः संस्कारो विषयवासना । अस्मिन्पक्षे पूर्वोक्तानां चतसृणामनयोरन्तर्भावः । अन्तर्भावव्यतिरेकेण वासनान्तरासम्भवात् ।



अर्थः—यहां मानस वासना शब्द से लोकवासना, शास्त्र-  
वासना, और देश वासना विवक्षित है । और विषयवासना शब्द  
से दम्भ, गर्व आदिक आसुरी सम्पत्ति विवक्षित है । लोक  
आदि वासना मृदु होने से तथा दम्भ, दर्प, आदिवासना तीव्र  
होने से वे दोनों अलग रे गिने हैं । अथवा शब्द, स्पर्श, रूप,  
रस, और गन्ध इन पांच विषयों की कामनाजन्य चित्तगत सं-  
स्कार वह मानस वासना है, और उन विषयों को भोगने से उ-  
त्पन्न हुए संस्कार हैं सो विषय वासना है ऐसा जानो । इस पक्ष  
में पूर्वोक्त ४ वासनाओं का इन दो प्रकार की वासना में समावेश  
हो जाता है, क्योंकि अन्तर वासना और बाह्य वासना मिलाव  
अन्य वासना है नहीं ।

ननु वासनापरित्यागः कथं घटते ? नहि  
तासां मूर्तिरास्ति । येन संमार्जनीसमृद्धि-  
लितृणवद्धस्तेनोद्धृत्य बहिस्त्यक्ष्यामः । मैवम् ।

अर्थः—शङ्काः—वासनाओं का त्याग ही किस प्रकार सम्भव  
है ! क्योंकि इन का तो कोई आकार नहीं । जो वैसा हो जैसा  
कि जाल ने बुझार ने पर जो कुर इकट्ठा होता उसे घर के बा-  
हर फेंक देते हैं उसी प्रकार इन वासनारूप कुरे को भी जाल  
के बाहर फेंक देंगे ।

उपवासजागरणवत्तदुपपत्तेः । स्वभावप्राप्त-  
योर्मुक्तिरित्यादिनिद्रायांरमुत्तत्वेऽपि तत्परित्या-  
गरूपे उपवासजागरणे सर्वैरप्यनुष्ठीयेते त-  
द्वदत्राप्यस्तु ।

अर्थः—समाधान—उपवास और जागरण के समान इस में  
सम्बन्ध भी है, अर्थात् जैसे स्वाभाविक पन को प्राप्त भोजन

तथा निद्रा का आकार विशेष न होने पर भी उन का  
उपवास और जागरण लोक करते हैं । उसी प्रकार  
यहां भी उस का विरोधी शुभ वासना का ग्रहण यह मलिन  
वासना का त्याग समझो ।

“अथ स्थित्वा निराहारः” इत्यादिमन्त्रेण  
सङ्कल्पं कृत्वा सावधानत्वेनावस्थानं तत्र त्या-  
ग इति चेत् ।

अर्थः—शङ्का—“अथ स्थित्वा” इत्यादि मन्त्र से सङ्क-  
ल्प का सावधानता से रहना, उस को भोजनादि का त्याग क-  
रने हैं । वासनात्याग में तो ऐसा कभी होता नहीं, इस लिये उन  
का त्याग किस रीति से होगा ?

अत्रापि न तदण्डनिवारितम् । प्रैवमात्रेण  
सङ्कल्प्याप्रयत्नत्वेनावस्थातुं शक्यत्वात् । वै-  
दिकमन्त्रानाधिकारिणां तु भाषया सङ्कल्पो-  
ऽस्तु । यदि तत्र शाकम्पौदनादिसन्निधि-  
त्यागस्तर्ह्यत्रापि सक्चन्दनवनितासंनिधिप-  
रित्यागोऽस्तु । अथ तत्र बुधुक्षानिद्रालस्या-  
दिविस्तारकैः पुराणअवणदेवपूजानृत्यगीत-  
वादित्रादिभिश्चित्तुपलालयेत् तर्ह्यत्रापि  
मैत्र्यादिभिस्तुपलालयेत् । तैत्र्यादयश्च पत-  
ञ्जलिना मृत्रिनाः ।

अर्थः—समाधान—यहां भी इस प्रकार दृष्टान्तरित  
नहीं, अर्थात् इन विषय में वैसा ही बन सकता । अर्थात् प्रैवो-  
क्तपूर्वक सङ्कल्पकर मलिन वासनाओं का उदय न होने के  
लिये सावधानी से रह सकता । जिन को वेदमन्त्रों का अधिकार



न ही उन को अपनी भाषाद्वारा मङ्गल्य करना चाहिये । यदि जो भोजन साग रूप उपवास में शाक, दाल, भात, आदि की, संनिधि का त्याग, यह विशेष है, ऐसा मानो तो वामनासाग में पुष्पमाला, चन्दन, वनिता, आदि विषयों की संनिधि भी त्याग ने योग्य है । कदाचित् ऐसा कहो कि उपवासादि में श्रुभा, निद्रा, आलस्य, आदि का विस्मरण करनेवाले पुराण का सु-नना, देवपूजा, नृत्य, गीतवादित्र आदि उपायों ने चित्त को आनन्द पाने का है, तो इन में भी मैत्री आदि की भावना में चित्त को प्रसन्न करने का है । मैत्री आदि चित्त को निर्मल करने वाला उपाय भगवान् पतञ्जलि ने सूत्र में कथन किया है—

“मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्या-  
पुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ”  
इति । चित्तं हि रागद्वेषपुण्यपापैः कलुषी-  
क्रियते । रागद्वेषौ च पतञ्जलिः सूत्रयामास ।

अर्थः—सुखी के साथ मैत्री, दुःखी पर करुणा, पुण्यवान् को देख हर्ष होना, और पापी से उदासीनता रखना, ऐसी भाव-ना में योगी का चित्त निर्मल होता है । राग द्वेष, पुण्य, और पाप में चित्त की मलिनता होती है । राग और द्वेष का लक्षण पतञ्जल ने सूत्र में लिखा है ।

“सुखानुशयी रागः । दुःखानुशयी द्वेषः”  
इति । स्नेहात् स्वेनानुभूयमानं सुखमनुशेते  
काश्चिद्धृष्टिविशेषः सुखजातं सर्वं मे भू-  
यादिति । तच्च दृष्टादृष्टसामान्यभावान्न  
सम्पादयितुं शक्यम् । अतः स रागश्चित्तं  
कलुषीकरोति यदा सुखिप्राणिष्वयं मैत्रीं

भावयेत्सर्वेऽप्येते सुखिनो मदीया इति त-  
दा तत्सुखं स्वकीयमेव सम्पन्नमिति भावय-  
तस्तत्र रागो निवर्तते यथा स्वस्य राज्याऽभा-  
वेऽपि पुत्रादिराज्यमेव स्वकीयराज्यं तद्वत् ।  
निवृत्ते च रागे वर्षास्वतीताम्बु शरत्सरिदिव  
चित्तं प्रसीदति ।

अर्थः—सर्व सुख मुझ को मिले इस प्रकार की प्रीतिपूर्वक  
स्वयं अनुभव करने योग्य सुख की तृष्णावाली वृत्तिविशेष का  
नाम सुख है । सो वह प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सामग्री के अभाव  
के कारण उस का सम्पादन हो नहीं सकता, जिससे, वह राग  
है, चित्त को मलिन करता है । “ये सब सुखी प्राणी मेरे ही  
हैं” इस भांति जब सुखी प्राणियों में मित्रता की भावना करे  
तब इस भांति भावना करनेवाले को अन्य का सुख अपना होने  
से उस सुख में से राग की निवृत्ति हो जाती है । जैसे आप को  
राज्य न होने पर भी पुत्रादिक का राज्य अपना ( राज्य ) मा-  
नने से ऐसे पुरुष में राग नहीं रहता, इसी प्रकार अन्य सुखी  
प्राणियों में स्वकीयत्व ( अपनापन ) बुद्धि होने से उस सुख में  
पुरुष को राग नहीं रहता अर्थात् ‘उस का सुख मुझ को प्राप्त  
हुआ’ ऐसी वृत्ति नहीं रहती । राग निवृत्त होने से चातुर्मास्य  
( वर्षा ऋतु ) बीतने पर जैसे शरत् ऋतु की नदियां निर्मल हो  
जाया करती उसी भांति उस पुरुष का चित्त निर्मल होता है ।

तथा दुःखमनुशेते काश्चित्प्रत्ययः ईदृशं दुःखं  
सर्वदा मे मा भूदिति । तच्च शत्रुव्याघ्रादिषु  
सत्सु न निवारयितुं शक्यम् । न च सर्वं दुःख-  
हेतवो हन्तुं शक्यन्ते । ततः स द्वेषः सदा



इति चेत् । ननु स्वभावैव पापेणां सत्त्वाणां  
प्राणिनां दुःखं न आचार्येणैव प्रकाशेण क-  
र्माणां दुःखमाचार्यो जायते न हि वैराग्येण-  
निरुत्तं चित्तं प्रसीदति । अतएव स्मर्यते ।

अर्थ—‘इस प्रकार का दुःख मुझ को कभी न हो’ ऐसे  
पुण्य विषयक अनुष्ठान को ( कर्मिणा को ) द्वेष करने है । यह  
इस अनुष्ठान आदिओं के समुदाय में नहीं हो सकता ।  
क्योंकि सारे दुःखों के कारण का नाश नहीं कर सकता, इस  
लिये यह द्वेष महा हृदय में दाह उत्पन्न करता है । ‘अपने म-  
मान अन्य सब को प्रतिकूल दुःख प्राप्त न हो’ ऐसा जब दुः-  
ख प्राणियों पर करुणा की भावना करता है तब वैरी आदिकों  
पर से भी द्वेष निवृत्त होनेसे चित्त प्रसन्नता को प्राप्त होता है ।  
इस लिये स्मृति कहती है कि—

“प्राणा यथाऽऽत्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा ।

आत्मोपन्येन भूतानां दयां कुर्वन्नि साधवः” इति ।

अर्थ—जैसे अपना प्राण आपे को प्रिय है उसी प्रकार  
प्राणिमात्र को अपना प्राण प्रिय होता अत एव साधु यह आपे  
में जैसे दया करते वैसे ही सब प्राणियों पर दया करते हैं ।  
और करुणा की भावना का प्रकार महापुरुष देखाते हैं ।

“सर्वेऽत्र नृत्विनः सन्तु सर्वे सन्तु निरासयाः ।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु सा कश्चिदुःखमाप्नुयान्” इति ।

तथाहि प्राणिनः स्वभावत एव पुण्यं नानु-  
तिष्ठन्ति, पापं त्वनुतिष्ठन्ति । तदाह ।

अर्थ—इस संसार में सब नृत्वी होने से सब जागेगी हों, सब  
कल्याण को देखें, और किसी को दुःख न होवे ।

इस संसार में प्राणिगण स्वभाव से ही पाप करते हैं, और  
पुण्य नहीं करते । सो कहा है—

‘पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति साधवाः ।

न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यजनः” इति ।

अर्थ—‘मनुष्य पुण्य के फल ( सुख ) की इच्छा करता  
है परन्तु पुण्य करने की इच्छा नहीं करता । और पाप के फल  
( दुःख ) की इच्छा नहीं करता, परन्तु यज्ञपूर्वक पाप करता है ।

ते च पुण्यपापं पश्चात्तापं जनयतः । स च  
तापः श्रुत्याऽनूयते ।

अर्थ—वह पुण्य पाप पश्चात्ताप को उत्पन्न करते हैं । प-  
श्चात्ताप का स्वरूप श्रुति कहती है कि—

“किमहं साधु नाकरवम्, किमहं पापमकरवम्” इति ।

अर्थ—अरे ! मैं ने शुभ कर्म क्यों न किया ? अरे ! मैं ने  
पाप कर्म क्यों किया ?

“यद्यसौ पुण्यपुरुषेषु सुदितां भावयेत्तदा न-  
दासनायाः स्वयमेवाप्रमत्तः पुण्येषु प्रवर्त्तते ।

तथा पापिष्वपेशां भावयन्स्वयमपि पापान्निव-  
र्त्तते । अतः पश्चात्तापस्याभावेन चित्तं प्रसीदति ।

अर्थ—जो यह सुपुरुष पुण्यपुरुष में सुदिता की  
भावना करे, तो उस वासना के कारण स्वयं भी प्रमाद रहित  
हो पुण्य में प्रवर्त्तित करे तथा पापी में उपेक्षा की भावना करे तो  
वही पाप में निवृत्त हो उससे पुण्य न करने में तथा पाप न  
करने में जो पश्चात्ताप होता है, सो उस को नहीं होता और  
पश्चात्ताप न होनेसे चित्त निर्मल होता है ।

सुखिषु यैर्जी भावयन्तो न केवलं रागनिवर्त्तिनः



किं त्वामुपेक्ष्योऽपि निवर्तन्ते । परगुणानामहसनमीर्ष्या, गुणेषु दोषाविष्करणमसूया । यदा मैत्रीवशात् परकीयं सुखं स्वकीयमेव सम्पद्यते तदा परगुणेषु कथमसूयादि सम्भवेत् । एवं दोषान्तरनिवृत्तिरपि यथायोगमुन्नेया ।

अर्थः—सुखी पुरुषों के साथ मैत्री की भावना करनेवाले का केवल राग की ही निवृत्ति होनी है, ऐसा नहीं, किन्तु उस के साथ असूया, ईर्ष्या आदि दोष भी नाश को प्राप्त होने हैं । अन्य के गुणों को न सह सकना ईर्ष्या है, और गुणों में दोषों का आरोपण करना उस को असूया कहते हैं । जब मैत्री की भावना से अन्य का सुख अपना होता है, तब पुरुष में अन्य के गुण में असूयादि कैसे सम्भव हो सकता ? नहीं सम्भव हो सकता । इस भांति अन्य दोषों की निवृत्ति भी यथायोग्य कल्पना करनी ।

दुःखिषु करुणां भावयतः शत्रुवधादिकरो द्वेषो यथा निवर्तते तथा दुःखित्वप्रतियोगिकस्वसुखित्वप्रयुक्तो दर्पोऽपि निवर्तते । स च दर्प आसुरसम्पद्यहङ्कारप्रस्तावे पूर्वमुदाहृतः ।

अर्थः—दुःखी प्राणियों पर करुणा की भावना करनेवाले पुरुष का जैसे शत्रुवधादि कर द्वेष निवृत्ति को प्राप्त होता उसी प्रकार दुःखिपन का विरोधी सुखिपन का गर्व भी जाता रहता है । इस गर्व का स्वरूप अहङ्कार के प्रसङ्ग में आसुरी सम्पत्ति में पूर्व कथन कर आये हैं ।

“ईश्वरोऽहमहं भोगी मित्रोऽहं बलवान्नुत्सी ।

आह्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया” इति ।

ननु पुण्यात्मसु मुदितां भावयतः पुण्यप्रवृत्तिफलत्वेनोक्ता सा च योगिनो न युक्ता । मलिनायां शास्त्रवासनायां पुण्यमन्तर्भाव्य पूर्वमुदाहृतत्वात् । मैवम् ।

अर्थः—शङ्का—‘पुण्यवान् पुरुषों में मुदिता की भावना करने से पुण्य में प्रवृत्तिरूप फल होता है’ । ऐसा जो कहा है सम्भव नहीं, क्योंकि पंहिले इस की गणना मलिन शास्त्रवासना में कर आये हैं ।

पुनर्जन्मकरस्य काम्येष्टापृत्तिदेस्तत्र मलिनत्वेनोदाहणात् इह तु योगाभ्यासजन्यमशुक्लकृष्णत्वं पतञ्जलिः सूत्रयामास ।

अर्थः—समाधान—इस के पूर्व, ‘इष्ट,’ ‘पृत्ति’ आदि काम्य कर्म जो पुनर्जन्म के देनेवाले हैं, इन को मलिनवासना रूप गिन आये हैं । और यहां, तो योगाभ्यासजन्य पुण्य, जो अशुक्ल और अकृष्ण होने से पुनर्जन्म का हेतु नहीं, सो विवक्षित है ।

योगियों के अशुक्ल और अकृष्ण कर्मों का निरूपण पातञ्जलयोगसूत्र में किया है ।

“कर्मशुक्लकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्” इति । काम्यं कर्म विहितत्वात् शुक्लं, निषिद्धं कृष्णं, मिश्रं शुक्लकृष्णम् । तदेतत्त्रयमितरेषामयोगिनां सम्पद्यते । तच्च त्रिविधं जन्म प्रयच्छति । तदाहुर्विश्वरूपाचार्याः ।

अर्थः—योगियों के कर्म अशुक्लकृष्ण और इतर मनुष्यों के



शुक्ल, ( विहित काम्य कर्म ) कृष्ण ( निषिद्ध ) और शुक्लकृष्ण मिश्र ये तीन प्रकार के होते हैं । ये तीनों कर्म पुनर्जन्म का हेतु है । ऐसा विश्वरूपाचार्य कहते हैं—

“शुभैराप्नोति देवत्वं निषिद्धैर्नारकीं गतिम् ।

उभाभ्यां पुण्यपापाभ्यां मानुष्यं लभतेऽवशः” इति ।

अर्थः—शुभकर्मों द्वारा जीव देवभान को पाता, निषिद्ध कर्मों से नारकी गति को प्राप्त होता और दोनों से मानुष्यजन्म पाता है ।

ननु योगस्याऽनिषिद्धत्वादकृष्णत्वेऽपि विहितत्वाच्छुक्लत्वमिति चेत् ।

अर्थः—शङ्का—योग, अनिषिद्ध होने से वह भले ही कृष्ण कर्म न हो, परन्तु विहित होनेसे उस की शुक्लकर्मोंमें गणना होनी चाहिये ।

मैवम् । अकाम्यत्वाभिप्रायेणशुक्लत्वाभिधानात् । अतः शुक्लकृष्णे पुण्ये प्रवृत्तियोगिनोपेक्षिता ।

अर्थः—समाधान—ऐसी शङ्का न करो । योग काम्य कर्म न होने से उस को अशुक्ल कर्म माना है । इस हेतु से शुक्ल कृष्ण पुण्य में जो प्रवृत्ति है, उसकी योगी उपेक्षा करता है ।

नन्वेतेन न्यायेन योगिनोऽपि यथोचितपुण्यात्नस्तु मुदितां भावयित्वा पुण्येष्वेव प्रवर्त्तेरन् ।

अर्थः—शङ्का—इस रीति से तो पुण्यात्मा में योग्यरीति से मुदिता की भावना करनेवाले योगियों की भी प्रवृत्ति होगी? प्रवर्त्तेन्तां नाह ?। ये मैं व्यादिभिश्चितं प्रसादयन्ति तेषामेव योगित्वात् । मैत्र्यादिचतुष्टय उपलक्षणम् । “अभयं सत्त्वसंशुद्धिः” इत्या-

दि देवी सम्पत् । “अमानित्वमदम्भित्वम्” इत्यादिना ज्ञानसाधनानि जीवन्मुक्तस्थित-प्रज्ञादिवचनोक्तधर्माश्चोपलक्ष्यन्ते । सर्वेषामेतेषां शुभाशुभवासनारूपत्वेन मलिनवासनानिवर्त्तकत्वात् ।

अर्थः—समाधान हो प्रवृत्ति, जो पुरुष मैत्री द्वारा चित्त की प्रसन्नता रखता है, वही योगी है । उपर दिखलाये हुए मैत्री आदि चार साधन का अभय आदि देवी सम्पत्तियों का, अमानित्व आदि ज्ञानसाधनों का, तथा जीवन्मुक्त और स्थितप्रज्ञ के लक्षणों का उपलक्षक है, ये सब शुभवासनारूप होने से मलिनवासना का क्षय करनेहारि हैं ।

ननु सन्त्यनन्ताः शुभवासनाः, न चैकेन ताः सर्वा अभ्यसितुं शक्यन्ते, निरर्थकश्च तदभ्यासप्रयास इति चेन्न ।

अर्थः—शङ्का—शुभवासना अनन्त है, इस लिये उन सब का अभ्यास एक पुरुष से बन नहीं सकता, अत एव सब शुभवासनाओं के लिये अभ्यास करना निरर्थक है ।

तन्निवर्त्यानामनन्तानां मलिनवासनानामेकस्य नरस्यासम्भवात् । न ह्यायुर्वेदोक्तानि सर्वाण्यौषधान्येकेन सेवितुं शक्यन्ते । नापि तन्निवर्त्याः सर्वे रोगा एकस्य देहे सम्भवन्ति । एवं तर्हि स्वचित्तं प्रथमतः परीक्ष्य तत्र यदा यावत्यो मलिनवासनास्तदा तावतीर्विराजिनीः शुभवासना अभ्यसेत् । यथा पुत्रमित्रकलत्रादिभिः पीडयामासस्ततो



विरक्तस्वस्तिवर्तकं पारिव्राज्यं गृह्णाति, तथा  
विद्यामदधनमदकुलाचारमदादिमलिनवास-  
नाभिः पाञ्चमानस्तद्विरोधिनं विवेकमभ्य-  
सेत् । स च विवेको जनकेन दर्शितः ।

अर्थ:—प्रमाधान-शुभवासनाओं करके त्यागने योग्य मलि-  
न वासनाओं का एक पुरुष में सम्भव नहीं है । आयुर्वेदोक्त सव  
औषधों का सेवन एक पुरुष से वन नहीं सकता । उसी प्रकार  
उन २ औषधों से हटाने योग्य सव रोग भी एक पुरुष में नहीं  
होते । अतएव जैसे अपने शरीर में जो २ रोग होता है, उनके  
विरोधी औषधों का सेवन करना आवश्यक है, उसी तरह प-  
हिले अपने चित्त की परीक्षा करनी, उस में जितनी जिस समय  
मलिनवासना हो, उस समय उन्नी विरोधी वासना का अ-  
भ्यास करे । जैसे पुत्र मित्र स्त्री आदि से पीडित पुरुष उस-  
से वैराग्य को प्राप्त होकर पुत्र आदिक के त्याग का हेतुरूप सं-  
न्यास आश्रम को ग्रहण करता है उसी तरह विद्यामद, धनमद,  
कुलमद, आचारमद, आदिकों से पीडित हो पुरुष उन के वि-  
रोधी विवेक का सेवन करे ।

यह विवेक जनक जी ने दिखलाया है—

“अथ ये महतां सूर्ध्नि ते दिनैर्निपतन्त्यधः ।

हन्त चित्त ? महतायाः कैषा विश्वस्तता तव ॥

क ? धनानि महीपानां ब्रह्मणः क ? जगन्ति वा ।

प्राक्तनानि प्रयातानि केयं विश्वस्तता तव ॥

कोटयो ब्रह्मणो याता गताः सर्गपरम्पराः ।

प्रयाताः पांसुवद्भूपाः का धृतिर्मम जीविते ॥

येषां निमेषणान्मेषां जगतां प्रलयोदयो ।

तादृशाः पुरुषा नष्टा मादृशां गणनैव का” इति ॥

अर्थ:—जो इस समय बड़ों के शिरताज बन रहे हैं, वे भी  
गिने गिनाये दिनों में नीचे गिर जाते हैं तो, हे चित्त ? आज  
तुम उस के बड़पन का क्यों भरोसा करते हो ? पूर्व जो राजा  
हो गये उन का धन कहाँ गया ? और ब्रह्मा का रचा अनन्त  
जगत् कहाँ गया ? ये सब गये तो हे चित्त ! तुम इस शरीर आ-  
दि का विश्वास क्यों करते हो ? करोड़ों ब्रह्म और उन की अ-  
न्त सृष्टि चली गयी और अनेक राजा लोग भी धूलि के स-  
मान उड़ गये तो मेरेजीवन में अर्थात् उस की स्थिरता में धै-  
र्य कैसे रहे ? जिस का पलक मारना जगत् का प्रलय और  
आँख खोलना जगत् का उदय रूप है, ऐसा पुरुष भी जब ना-  
श को प्राप्त हुआ तो मेरे जैसे लोगों की गणना ही क्या ?

नन्वयमपि विवेकस्तत्त्वज्ञानोदयात्प्राचीनः,  
नित्यानित्यवस्तुविवेकादिसाधनव्यातिरेकेण  
ब्रह्मज्ञानासम्भवात् । इह तृत्पन्नब्रह्मसाक्षा-  
त्कारस्य जीवनमुक्तये वासनाक्षयादिसाधनं  
वक्तुमुपक्रान्तम् । अतः किमिदमकाण्डे ता-  
ण्डवमिति चेत् । नायं दोषः ।

अर्थ:—शङ्का—यह विवेक तत्त्वज्ञान होने के पहिले होता है,  
क्यों कि नित्यानित्य विवेक आदि साधन विना ब्रह्मज्ञान हो  
नहीं सकता, और यहां तो जैसे ब्रह्मसाक्षात्कार हुआ है उनको जी-  
वनमुक्ति प्राप्त होने के निमित्त तुमने वासनाक्षय आदि साधनों  
कानिरूपण आरम्भ किया है । अतएव इस विवेक का कथन  
तो विना अवसर नाच होने के समान है ।

साधनचतुष्टयसम्पन्नस्य पञ्चाङ्गज्ञानमित्ये-



य सर्वपुरुषसाधारणधुणः प्रौढो राज-  
मार्गः । जनकस्य तु पुण्यपुञ्जपरिपाकेनाऽऽका-  
शकलपानवदकस्मात् सिद्धगीताश्रवणमा-  
त्रेण तत्त्वज्ञानमुत्पन्नम् । ततश्चित्तविश्रा-  
न्तये विवेकाऽयं क्रियते इति काण्ड एवेद-  
मुचितं ताण्डवम् ।

अर्थः—समाधान,—साधनचतुष्टय के सिद्ध होनेपर ब्रह्म-  
ज्ञान की प्राप्ति होती यह तो सब पुरुषों से सेवित साधारण  
राजमार्ग है । जनक को तो पूर्व पुण्यपुञ्ज के पाक के का-  
रण जैसे आकाश में से फल गिरता, तैसे अकस्मात् सिद्धगीता  
के सुनने मात्र से तत्त्वज्ञान उत्पन्न हुआ । चित्त विश्रान्ति उन  
को बाकी थी, इस हेतु उनने पूर्वोक्त विवेक विचार किया ।  
अतएव मेरा कथन प्रासङ्गिक ही है, अप्रासङ्गिक नृत्य के स-  
मान नहीं है ।

नन्वेवमप्यस्य विवेकस्य ज्ञानसमनन्तरभा-  
वित्वेन मलिनवासनानुवृत्त्यभावाच्छुद्धवा-  
सनाभ्यासो नापेक्षित इति चेन्न ।

अर्थः—ऐसा विवेक, ज्ञान होने के बाद होता है, इस लिये  
तत्त्वज्ञान हुए पीछे मलिन वामना की अनुवृत्ति ( संसर्ग ) ब-  
रहने से शुभवासना के लिये अभ्यास करना कोई प्रयोजन नहीं ।

जनकस्य तदनुवृत्त्यभावेऽपि याज्ञवल्क्यभ-  
गीरथादेस्तदनुवृत्तिदर्शनात् । अस्ति हि या-  
ज्ञवल्क्यतत्प्रतिवादिनामुपस्तकहोलादीनां च  
भृगान्विद्यामदः । तैः सर्वैरपि विजिगीषु-  
कथायां प्रवृत्तत्वात् ।

अर्थः—यद्यपि जनक को तत्त्वज्ञान होने के अनन्तर म-  
लिनवासना की अनुवृत्ति न थी परन्तु याज्ञवल्क्य, भगीरथ  
आदि कों में मलिनवासना की अनुवृत्ति मालूम पड़ती है । या-  
ज्ञवल्क्य और उनके प्रतिवादी उपस्तकहोलादि विजिगीषु कथा  
( जय पाने की इच्छा वाले पुरुषों के बीच परस्पर सम्वाद )  
में प्रवृत्ते हुए थे, इस कारण उन में विद्यामदरूप मलिन वासना  
तो प्रसिद्ध है ही ।

ननु तेषां विद्यान्तरमेवास्ति न तु ब्रह्मविद्ये-  
ति चेन्न । कथागतयोः प्रश्नोत्तरयोर्ब्रह्मविष-  
यत्वात् ।

अर्थः—उन को ब्रह्मविद्या के सिवाय अन्य विद्या प्राप्त थी,  
ऐसा कहो तो सो नहीं कह सकते । क्योंकि उन में परस्पर प्र-  
श्नोत्तर ब्रह्मविषयक है ।

ननु ब्रह्मविषयत्वेऽपि तेषामापातज्ञानमेव न  
तु सम्यग्वेदनमिति चेन्न । तथा सत्यस्माक-  
मपि तदीयवाक्यैरुत्पन्नाया विद्याया अस-  
म्यकत्वप्रसङ्गात् ।

अर्थः—उन को केवल अकस्मात् ज्ञान हुआ, यथार्थ ज्ञान  
नहीं, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि जो ऐसा होता, तो  
अपने लिये भी अपने ही वाक्य से उत्पन्न हुआ ज्ञान यथार्थ  
हो नहीं सकता ।

ननु सम्यक्त्वेऽपि परोक्षज्ञानमेवेति चेन्न ।  
यत्साक्षादपरोक्षाद्व्योति मुख्यापरोक्षविषय-  
तयैव विशेषतः प्रश्नोपलम्भात् ।

अर्थः—उन को यथार्थ ज्ञान तो ठीक है किन्तु परोक्षज्ञा-



न हुआ ऐसा कहना भी उचित नहीं, क्योंकि जो साक्षान् अपरोक्ष ब्रह्म है इस वाक्य पर से मुख्य अपरोक्ष ब्रह्म के विषय में ही प्रश्न हुआ ऐसा प्रतीत होता है।

नन्वात्मज्ञानिनो विद्यामद आचार्यैर्नाभ्युप-  
गम्यते । तथा चोपदेशसाहस्यमुक्तम्—

“ब्रह्मचित्तं तथा मुक्त्वा स आत्मज्ञो न चेतरः”  
इति । नैष्कर्म्यसिद्धावपि ।

अर्थः—शङ्का—आत्मज्ञानी को विद्यामद का सद्भाव आचार्य स्वीकार नहीं करते, क्योंकि तथा ब्रह्मवित् पन को अभिमान कहकर जो रहता है वह आत्मज्ञ है अन्य नहीं इस प्रकार उपदेशसाहस्य ग्रन्थ में लिखा है, और नैष्कर्म्यसिद्धि में भी कहा है—

“न चाध्यात्माभिमानोऽपि विदुषोऽस्त्यासुरत्वतः ।  
विदुषोऽप्यासुरश्चेत् स्यान्निष्फलं ब्रह्मदर्शनम्”

इति । नायं दोषः ।

अर्थः—ज्ञानी पुरुष को ज्ञानीपन का अभिमान नहीं होता, क्योंकि वह एक आसुरी सम्पत्ति है। विद्वान् में भी आसुरीपन हो तो पीछे ब्रह्मसाक्षात्कार निष्फल जानो। ऐसा है तो इस लिये ज्ञानी को विद्यामद होना संघटित नहीं होता।

जीवन्मुक्तिपर्यन्तस्य तत्त्वज्ञानस्य तत्र विवक्षितत्वात् । न खलु वयमपि जीवन्मुक्तानां विद्यामदमभ्युपगच्छामः । ननु विजिगीषो-  
रात्मबोध एव नास्ति ।

अर्थः—समाधान—उपर के दोनों वचन जीवन्मुक्ति तक तत्त्व ज्ञान के अभिप्रायसे कथन किये हैं। हम भी जीवन्मुक्त पुरुष को विद्यामद, नहीं मानते।

शङ्का—जिस को जय पाने की इच्छा है, उस को आत्मज्ञान नहीं। क्यों कि—

“रागो लिङ्गमबोधस्य चित्तव्यायामभूमिषु ।

कुतः शाद्वलता तस्य यस्याग्निः कोटरे तरोः”

इत्याचार्यैरभ्युपगमादिति चेन्न ।

अर्थः—चित्तरूपी व्यायाम भूमि में राग, यह अज्ञान का चिह्न है। जिस वृक्ष के कोटरे में अग्नि जल रहा है, उस के नीचे हरितवृर्णपूर्णता कहां से होगी? नहीं होती है। ऐसा आचार्य मानते हैं।

“रागादयः सन्तु कामं न तदभावोऽपराध्यति ।

उत्त्वातदंष्ट्रोरगवदविद्या किं करिष्यति”

इत्यत्र तैरेव रागाद्यभ्युपगमात् । न चात्र परस्परव्याहतिः । स्थितप्रज्ञे ज्ञानिमात्रे च वचनद्वयस्य व्यवस्थापनीयत्वात् ।

अर्थः—तत्त्वज्ञानी में रागादि यथेच्छ हों, उन का सद्भाव ज्ञान को हानि पहुंचानेवाला नहीं। जैसे सांप के दान्त जड़ से उखड़ गये। ऐसा सर्प कुछ नहीं कर सकता इसी प्रकार अविद्या उस ज्ञानी पुरुष को क्या कर सकती? कुछ भी नहीं। इस प्रकार रागादिक का स्वीकार भी आचार्यों ही ने किया है? इस से आचार्य के वाक्य में परस्परविरोध न करे, क्योंकि प्रथम वचनकी व्यवस्था स्थितप्रज्ञ में हो सकती है, और दोनों वचनों की व्यवस्था केवल ज्ञानी में हो सकती है।

ननु ज्ञानिनो रागाद्यभ्युपगमे धर्माधर्मद्वारेण जन्मान्तरप्रसङ्ग इति चेन्मैवम् । अदग्धबीज-  
वदविद्यापूर्विकाणामेव मुख्यरागादित्वेन पु-



नान्येभ्योऽप्युक्तम् । आनिनस्तु दग्धधर्माजनदा-  
भागा एव रागादयः । एतदेवाभिप्रेत्योक्तम् ।

अर्थः—ज्ञानी में रागादिक का महान मानने का अर्थ नहीं है। रागादिक का प्रसङ्ग आनेमा, ऐसी शक्ति नहीं करनी । विनयने बीज के समान अविद्यासहित मुख्य रागादि दोष ही पुनर्जन्म का कारणरूप है, ज्ञानी पुरुष का रागादि तो मुने हुए बीज के समान केवल आभास रूप है । इस अभिप्राय में कहा है—

“उत्पद्यमाना रागाद्या विवेकज्ञानवाहिना ।

तदा तदैव दणन्ते कुतस्तेषां प्ररोहणम्” इति॥

अर्थ—विवेकी पुरुष के अन्तःकरण में राग आदि दोष जब २ उत्पन्न होता तब २ विवेकसहित ज्ञानरूप अग्नि में दग्ध हो जाया करता उसमें वे पुनः क्यों कर अङ्कुरित हों ? नहीं होंगे।

तर्हि स्थितप्रज्ञस्यापि ते सन्तिर्वात चेन्न ।

अर्थः—शङ्का तब स्थितप्रज्ञ में भी राग आदि हो तो क्या दिक्कत है !

तत्काले मुख्यवदेवाऽऽभासानां बाधकत्वात् ।

रज्जुसर्पाऽपि मुख्यसर्पवदेव तदानीं भीष-

यन्नुपलभ्यते तद्वत् । नन्वाभासत्वानुसन्धा-

नानुवृत्तौ न कोऽपि बाध इति चेन्निरं जीवतु

भवान् । इयमेव अस्मदभिमत जीवन्मु-

क्तिः । याज्ञवल्क्यस्तु विजिगीषुदशायां न

धीदृशः । चित्तविश्रान्तये विद्वत्संन्यासस्य

तेन करिष्यमाणत्वात् । न केवलमस्य वि-

जिगीषा किन्तु धनतृष्णाऽपि महती जाता ।

यतां बहूनां ब्रह्माविदां पुरतः स्थापितं बाल-

कार्मणोऽसहस्रमप्येत्य स्वयमेवेदमाह—

अर्थः—समाधान स्थित प्रज्ञ अवस्था में मुख्य के तुल्य आभास है, आभासरूप राग आदिक दोष के कारण हो जाता है । जो रज्जु में प्रतीत होता ( नकली ) गर्भ भी मुख्य की भाँति प्रतीत होता है, उसी प्रकार रागादि आभासरूप होनेपर भी केवल दोषादि मालूम पड़ते हैं । रागादि आभासरूप हैं, इस प्रकार बार २ अनुसन्धान करें तो तब स्थितप्रज्ञ को कदापि बाधा नहीं करता ऐसा यदि पूर्णपक्षी कहे तो उसको सिद्धान्ती उत्तर देना है कि भाई ? चिरजीव हो । इसी को हम भी जीवन्मुक्त मानते हैं याज्ञवल्क्यजी विजिगीषु दशा में स्थितप्रज्ञ नहीं थे इस लिये उन्होंने चित्तविश्रान्ति के लिये विद्वत्संन्यास पीछे में ग्रहण किया । याज्ञवल्क्य को केवल जीव ही की इच्छा न थी । किन्तु धन की भी बहुत तृष्णा थी क्योंकि बहुत से ब्रह्माविदों के सामने अलङ्कार सहित २००० गौओं की खरीदना इन का धन स्वयं लेकर यों बोले कि—

“नमोऽयं ब्रह्माविदां कुर्मो गोकाया एव नमः स्मः” इति । इतरान् ब्रह्माविदोऽवजातुमिहं वा विद्वच्चोभर्ताति चेत् । अयमपि तर्जपसो दोषः । इतरे च ब्रह्माविदः स्वकीयं धनमनेनापहृतमिति मत्वा चुक्रुः । अयं च कोपपरवजः शाकल्यं शारयाभास । न ज्ञातव्यं ब्रह्माविदस्य मोक्षमात्रः काङ्क्षणीयः । यतः कोपीतार्किनः समामनन्ति—

अर्थः—हम ब्रह्माविद पुरुष को नाराज करने हैं हम



तो केवल गीर्वा के चाहने वाले हैं । इतर ब्रह्मविद् की अवज्ञा करने के लिये यह केवल उनके वाक्य की चतुराई है ऐसा कदाचित् समझो तो, यह भी एक दूसरा दोष है । अन्य ब्रह्मविद् ब्राह्मणों ने भी श्री याज्ञवल्क्य ने अपना धन लेलिया ऐसा मन्त्र कर क्रोध किया, उससे याज्ञवल्क्य भी क्रोध में आकर शाक-ल्य ऋषि को शाप देकर मार दिया । इस भांति याज्ञवल्क्य ने ब्रह्महत्या किया इससे उन को मोक्ष न होगा, ऐसी शंका न करो,।

क्यों कि कौषीतकी उपनिषद् में कहा है कि—

“नास्त्य केनापि कर्मणा लोको मीयते न मा-  
तृवधने न पितृवधेन न स्तेयेन न भ्रूणहत्या-  
या” इति ।

शेषोऽपि स्वकृतायामार्यपञ्चाशीत्यामिदमाह ।

अर्थ:—इस ज्ञानवान् पुरुष को प्राप्त हुआ लोक ( आत्म-  
लोक ) किसी कर्म द्वारा नाश नहीं होता मातृवध करके पितृ-  
वध कर के चोरी कर के, भ्रूणहत्या कर के, भी नाश को प्राप्त  
नहीं होता ।

शेष भगवान् ने भी अपनी रचित आर्यपञ्चाशीति में कहा  
है कि:—

“हयमेधशतसहस्राण्यथ कुरुने ब्रह्मघातलक्षणानि ।

परमार्थविघ्न पुण्यैर्न च पापैः स्पृश्यते विमलः” इति॥

अर्थ:—आत्मस्वरूप का जिस को साक्षात्कार हुआ है  
ऐसा निर्मल पुरुष कदाचित् लाख अश्वमेध करे, या लाख ब्रह्म-  
हत्या करे, तौ भी यह अश्वमेध के पुण्य का या ब्रह्महत्या के  
पाप का सङ्गी नहीं होता ।

तस्मात् किं घृणुना, ब्रह्मविदां याज्ञवल्क्या-

दीनामस्त्येव मलिनवासनानुवृत्तिः, भगीर-‘जा  
धश्च तत्त्वं विदित्वाऽपि राज्यं पालयन्मलिन-  
वासनाभिश्चित्तविश्रान्त्यभावे सति सर्वं  
परित्यज्य पश्चाद्विश्रान्तवानिति वसिष्ठे-  
नोपारब्धायते । अतः स्वकीयं वर्त्तमानं मलि-  
नवासनाविशेषं परकीयदोषवत् सम्यगुत्प्रे-  
क्ष्य तत्प्रतीकारमभ्यसेत् । अनेनैवाभिप्राये-  
ण स्मर्यते ।

अर्थ:—इस लिये अधिक क्या कहना ? याज्ञवल्क्य आ-  
दि ब्रह्मविद् पुरुषों में भी मलिन वासना का संचार है ही ।  
राजा भगीरथ ने भी तत्त्वज्ञान प्राप्त कर राज्य करते समय उत्पन्न  
हुई वासनाओं को के चित्त विश्रान्ति न पानेसे सबका त्याग  
कर विश्रामग्रहण किया, ऐसा वसिष्ठ मुनि ने कथन किया है ।  
इस लिये जैसे कोई पुरुष अन्य के दोष को यथार्थ उत्प्रेक्षा-  
करता है । उसी प्रकार जीवन्मुक्त पुरुष भी अपने अन्तः कर-  
ण में स्फुरित वासनाओं को भली भांति जान कर उन के नाश  
का अभ्यास करे ।

इसी अभि प्राय से स्मृति भी कहती है—

“यथा सुनिपुणः सम्यक् परदोषेक्षणे रतः ॥

तथा चेन्निपुणः स्वेषु को न मुच्येत बन्धनात्” इति॥

अर्थ:—जैसे कोई बड़े निपुण पुरुष पराये दोष के देखने  
में भली भांति निरत होता । वैसे यदि वह अपने दोषों को  
देखने में निपुण हो तो कोन नहीं बन्धन से मुक्त होवे ?

नन्वाहौ तावद्विषादस्य कः प्रतीकार इति  
चेत् । किं स्वनिष्ठस्य मदस्य परविषयस्य,



तो मे विद्या स्वविषयस्य परनिष्ठस्य । आये भक्तो  
 एतत्तु कश्चित् भविष्यतीति निरन्तरं स्वात्म-  
 नुत्तमता इवेन केतुविधया मत्तः प्रवाहगन्ध-  
 राजः सभां गत्वा तेन पञ्चाग्निविद्यायां पृष्टायां  
 स्वयमज्ञानानो निरुत्तरो राजा बहुधा भर्त्सितः  
 पितुः समीपमागत्य स्वनिर्वेदमुदाजहार ।  
 पिता तु निर्मदस्तमेव राजानमनुमृष्य तां वि-  
 द्यां लेभे । इतश्चालाकिञ्चाजानशत्रुणा राजा  
 भर्त्सितो दर्पे संत्यज्य राजानमुपससाद ।  
 उपस्तकहोलादयश्च मदेन कथां कृत्वा प-  
 राजिताः । यदा स्वाविषयः परनिष्ठो मदः  
 प्रवर्तते तदा मत्तः स परो मां निन्दतु, अवम-  
 न्यतां वा । सर्वथाऽपि न मे हानिरिति  
 भावयेत् । अत एवाऽऽहुः ।

अर्थः—शंका.—तत्र प्रथमविषाद (विद्यामद) का क्या उपाय है?

उत्तर.—क्या आपमें स्थित और अन्य परव्यवहृत विद्या मद के  
 बारे में तुम्हारा प्रश्न है ? या अन्य में स्थित और आपसे स्व-  
 व्यवहृत विद्या मद विषय में पृष्ठने हो ? आपमें स्थित और अ-  
 न्य को हराने वाला विद्या मद विषयमें पृष्ठता हो, तो उपाय  
 निश्चित का उपाय यह है कि "अवश्य किसी ने भी हमारा  
 पराजय होगा, ऐसी भावना करनी । जैसे कि विद्या ने स्व-  
 हुआ ज्ञेय केतु मुनि प्रवाहण राजा की सभामें गया, उस स-  
 भय राजाने उस को पञ्चाग्निविद्या सम्बन्धी प्रश्न किया, तब  
 विद्या ने स्वयं अज्ञानी होने से कोई भी उत्तर दे नहीं सका,  
 तब पिता के पास आकर अपने अज्ञान सम्बन्धी बातें कही

उन का पिता तो मद रहित था, इस लिये उस ने उसी राजा  
 के पास जाकर वह विद्या सिखी । उसी प्रकार हमारा ज्ञा-  
 न का अज्ञानशत्रु नामक राजासे निरस्कार हुआ, इससे उस ने  
 तब का त्याग कर उसी राजा की शरण लियी । उपस्तकहो-  
 लादि ब्राह्मण भी विद्या मदसे याज्ञवल्क्य के साथ विवाद  
 का अन्तमें उससे हार गये ।

जब अन्य का विद्यामद आपे को पराजित करने को प्रवृत्त  
 हो, तब "भले ही अन्य लोग मेरी निन्दा करें या अपमान  
 करें, सर्वथा मेरे स्वरूप की इस से लेश भी हानि नहीं ऐसी  
 हृत् में भावना करनी । इसी अभि प्राय से बड़े लोगोंने कहा है—

"आत्मानं यदि निन्दन्ति स्वान्मानं स्वयमेव हि ।  
 शरीरं यदि निन्दन्ति सहायान्ते जना मम ॥  
 निन्दावजानावत्यन्तं भुयणं यस्य योगिनः ।  
 धीविक्षेपः कथं तस्य वाचाटः क्रियता मिह" इति ॥

नैष्कर्म्यसिद्धौ—

अर्थः—इस संघात में आत्मा और शरीर है, जिसमें दुर्जन  
 जैसी आत्माकी निन्दा करता हो तो वह स्वयं अपनी ही  
 निन्दा करता है । क्योंकि जो आत्मा मेरा है वही उनका भी  
 आत्मा है । और जो वह शरीर की निन्दा करता है । तो वह  
 भी सहायता करने वाला है । क्योंकि जो शरीर तो हमारे भी नि-  
 ष्ठा है । जिस योगी पुरुष को निन्दा और अपमान व्यवहृत भू-  
 षण रूप है उस पुरुष को बुद्धि को वाचक पुरुष विशेष किस  
 रीति से कर सकता ? नहीं कर सकता ॥

नैष्कर्म्यसिद्धि ( प्रत्यक्ष ) में निन्दा है ।

"नपरिकारे वर्चस्वो दोषत इत्यावधारिते ।



यदि दोषं वदेत्तस्मै किं तत्रोच्चरितुर्भवेत् ॥  
तद्वत्तुल्यं तथा सूक्ष्मे देहे त्यक्ते विवेकतः ।  
यदि दोषं वदेत्ताभ्यां किं ? तत्र विदुषो भवेत् ॥  
शोकहर्षभयक्रोधलोभमोहस्पृहादयः ।

अहंकारस्य दृश्यन्ते जन्म मृत्युश्च नाऽऽत्मनः ॥  
इति । निन्दाया भूषणत्वं च ज्ञानाङ्गुशे  
दर्शितम् ।

अर्थः—मल मूत्रादि या जिस को मनुष्य ने दोष का  
निश्चय किया है, उस विषयमें जो कोई दोष का कथन करे  
तो, उस में उस विद्या आदि के त्याग करने वालों की क्या हानि  
है ? उसी प्रकार विवेक दृष्टि से स्थूल और सूक्ष्म शरीर के छेद  
पर—“ये दोनों शरीर मैं नहीं, ऐसा पक्का निश्चय करने पर  
कोई इन दोनों शरीरों का दोष कहे, वो विद्वान् पुरुष की हानि  
में क्या हानि है ? शोक, हर्ष, भय, क्रोध, लोभ, मोह, मूत्र  
आदि, और जन्म मृत्यु अहंकार में प्रतीत होते हैं, ये सब  
आत्मा के धर्म नहीं हैं ॥

ज्ञानाङ्गुशेनापि ग्रन्थ में निन्दा को भूषणरूप से बतलाया है—

“मन्निन्दया यदि जनः परितोषमेति  
नन्वप्रयत्नजनितोऽयमनुग्रहो मे ।

श्रेयोऽर्थिनो हि पुत्र्याः परितुष्टिहेतोः  
दुःखजितान्यपि धनानि परित्यजन्ति ॥

सततमुल्लसदैन्ये निःसुरवे जीवल्लोके  
यदि मम परिवादान्प्रीतिमाप्नोति कश्चित् ।

परिवदन्तु यथेष्टं मन्मथं तिरो वा  
जगति हि बहुदुःखे दुर्लभः प्रीतियोगः” इति

अवमानस्य भूषणत्वं स्मर्यते ।

अर्थः—जो कोई मनुष्य मेरी निन्दा से ही सन्तोष को  
पान करे, तो मुझे बिना किसी परिश्रम के मानो मुझपर बड़ा  
अनुग्रह हुआ ऐसा मैं समझूँ । क्योंकि श्रेय (कल्याण) की  
अभिलाषा वाले मनुष्य अन्य का सन्तोष करने के लिये बड़े  
परिश्रम से सम्पादन किये धन को भी खर्च कर डालते हैं जि-  
समें सदा दीनता सुलभ है, इस प्रकार इस सुख रहित जीव  
लोक में जो कोई पुरुष मेरी निन्दा करने से प्रीति को प्राप्त हो,  
तो मेरे समीप या दूर यथेष्ट निन्दा करे, क्योंकि बहुत दुःख  
बड़े जगत् में प्रीति का योग दुर्लभ है ।

अवमान का भूषण होना स्मृति में भी कथन किया है—

“तथाऽऽचरेत् वै योगी सतां धर्ममदृषयन् ।

जना यथाऽवमन्येरन् गच्छेयुर्नैव सङ्गतिम्”  
इति ॥

अर्थः—सत्पुरुषों के धर्म को दृष्टि न करता हुआ योगी  
पुरुष जगत् में इस प्रकार वर्तित करे कि जिस में लोग उस का  
अवमान करें, और उस की संगति न करें ॥

याज्ञवल्क्योपस्तार्दीनां यौ स्वनिष्ठपरनिष्ठौ  
विद्यामदौ तयोर्वैद्या विवेकेन प्रतीकारस्तथा  
धनाभिलाषक्रोधयोरप्यवगन्तव्यम् ।

अर्थः—याज्ञवल्क्य, उपस्त और कौलादिक के वि-  
षय जो आपे में स्थित, और अन्य में स्थित विद्या मद ये दो प्र-  
कार इन दोनों विद्यामदों का जैसा पूर्वोक्त विवेक से प्रतीकार  
हो सकता है । वैसे धन की तृष्णा और क्रोध का निवारण  
भी विवेक द्वारा हो सकता है ।



धन सम्बन्धी विवेक इस तरह कर सकते हैं—

“अधीनामर्जनं क्लेशस्तथैव परिपालनं ।

नाशेदुःखं व्ययेदुःखं धिग्धर्मान् फलेशकारिणः॥

इति धनविषयो विवेकः ॥

अर्थः—धन को हाथिल करने में दुःख होता है, उसका रक्षा करने में दुःख होता, इस भांति सब तरह दुःख देने वाला धन को भिक्कार है ।

क्रोधाऽपि द्विविधः । स्वनिष्ठः परविषयः,

परनिष्ठः स्वविषयश्चेति । स्वनिष्ठं प्रत्येवमुक्तम् ।

अर्थः—क्रोध भी दो प्रकार का है, एक अपना क्रोध अपने ऊपर, तथा अन्य का क्रोध आपे पर, तिनमें से अपने में स्थित क्रोध के बारे में इस प्रकार विवेक करना ।

अपकारिणि कोपश्चेत् कोपे कोपः कथं न ते ।

धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रसङ्ग परि पन्थिनि ॥

फलान्वितो धर्मयशोऽर्थनाशनः स-  
चेद्विषयः स्वशरीरतापनः । न चेद्द नामुत्र  
हिताय यः सतां मनांसि कोपः समुपाश्रये-  
त्कथम्” इति स्वविषयं प्रत्येव मीरितम् ।

अर्थः—जो तेरा क्रोध अपकार करने वाले पर होता है, कोप जो धर्म है, धर्म अर्थ, काम, और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों का बलात्कार से घातक होनेसे असन्त अपकारी है उस पर तेरा क्रोध क्यों नहीं होवे ? क्रोध जो अन्य को किसी प्रकार की हानि करने रूप फलयुक्त हो तो उस क्रोध को हारे का धर्म, यश अर्थ का नाश करना, और जो कोई भी फल देने वाला न हो मकेना आपका आश्रय देने वाले पुरुष

को संतप्त करता है ? अत एव जो क्रोध इस लोक में पाये जाय दोनों लोकों के लिये हितकर नहीं, उसको मनुष्यों का मन कैसे आश्रय देवे ? नहीं देवे । अपने ऊपर हुए अन्य के क्रोधके विषय में इस भांति विचार किया है—

“न मेऽपराधः किमकारणे नृणां

मदभ्यसूयेत्यपि नैव चिन्तयेत् ।

न यत्कृता प्राग्भवबन्धनिःसृति-

सतांऽपराधः परमोऽनुचिन्त्यतान्” ॥

न मेऽस्तु कोपदेवाय स्वाश्रयज्वालिने भृशम् ।

क्रोध्यस्य मम वैराग्यदायिने दोषबोधिने” इति ।

अर्थः—मेरा कोई भी अपराध न होने पर भी लोगों ने मेरी निन्दा निष्कारण क्यों कियी होगी ? ऐसा विचार कभी न करे परन्तु पूर्वजन्म में मैंने संसार निवृत्ति के लिये कोई उपाय न किया, यही मेरा बड़ा अपराध है । जो यह उपाय किया होता, तो आज शरीर ही न होता, तो लोग किसकी निन्दा करते ? ऐसा विचार करना चाहिये । जिस ने आपे को आश्रय देरखा है, उसको ही बहुत जला-साया मैं या जो अन्य के कोपका विषय हूँ, उस का वैराग्य देनाया और मेरे दोष क्षमाता बोधन करानेवाले क्रोधका देना दोषप्रकार है ।

यनामिच्छापक्रोधबन्धोपित्पुत्रानिच्छादानां च

विवेकेन निवर्तनीयौ । नञ् योऽपिदुर्विचरः

वसिष्ठेन दर्शितः ।

अर्थः—यनकी गुण्या और कोपके ममान में जो पुरुष



को इच्छा भी योग्य ही है । इन दोनों के विषय में विवेक का प्रकार वामदेवी ने दिखलाया है । वहां स्त्री के पश्यने में इस प्रकार का विचार किया है—

“मांसपाश्चालिकायास्तु यन्त्रलोलेऽङ्गपञ्चरे ।  
 स्नायवास्थमन्थिशालिन्याः स्त्रियाः किमिव शोभनम् ॥  
 त्वन्मांसरक्तवाण्याभ्यु पृथक्कृत्वा विलोचने ।  
 समालोकय रम्यं चेत् किं मुधा परिमुह्यसि ॥  
 मेरुशृङ्गतटांलासिगङ्गाजलरयोपमा ।  
 दृष्ट्वा यस्मिन्स्वने मुक्ताहारस्योल्लासशालिनः ॥  
 इमशानेषु दिगन्तेषु स एव ललनास्तनः ।  
 इवभिरास्वाद्यते काले लघुपिण्ड इवान्धसः ॥  
 केशकजलधारिण्या दुःस्पर्शा लोचनाप्रियाः ।  
 दुष्कृताग्निशिखा नार्योदहन्ति तृणवन्नरान् ॥  
 ज्वलतामतिदूरेऽपि सरसा अपि नीरसाः ।  
 स्त्रियो हि नरकाग्नीनामिन्धनं चारुदारुणम् ॥  
 कामनाम्ना किरातेन विकीर्णा सुग्धचेतसाम् ।  
 नार्यो नरविहङ्गानामङ्गबन्धनवागुराः ॥  
 जन्मपल्वलमत्स्यानां चित्तकर्दमचारिणाम् ।  
 पुंसां दुर्वासनारज्जुर्नारी बडिशपिण्डिका ॥  
 सर्वेषां दोषरत्नानां सुसमुद्भिकयाऽनया ।  
 दुःखशृङ्खलया नित्यमलमस्तु मम स्त्रिया ॥  
 इतो मांसमितो रक्तमितोऽस्थीनीति वासरैः ।  
 ब्रह्मन्कतिपयैरेव याति स्त्रीविशरारुताम् ॥  
 यस्य स्त्री तस्य भोगेच्छा निस्त्रीकस्य क भोगभूः ।  
 स्त्रियं त्यक्त्वा जगत्पक्त्वा जगत्पक्त्वा सुखी भवेत्” इति ।

पुत्रविवेको ब्रह्मानन्दे दर्शितः—

अर्थः—स्नायु, और हड्डियों की परस्पर सङ्गठन से सुन्दर मांस की पृथक् रूप स्त्री के यन्त्र के समान चञ्चल शरीररूप पञ्चर में क्या है ? कुल भी नहीं । स्त्री की आंखों में त्वचा, मांस, हडिर, आंशु, ये सब अलग २ कर इन में यदि कोई सुन्दर पदार्थ हो तो, उसे देखो । और जो न हो तो, उस में क्या मोहक क्यों होता ? जिस स्तन पर लटकती हुई मांती की माला की शोभा, मेरु पर शोभती गङ्गा की धारा के समान शोभती ऐसा मानते हो, उभी स्त्री के स्तन को दूर के प्रदेशरूप स्म-शान भूमि में एक समय मरने पर बहुत से चावल के पिण्ड के समान कुत्ते सब प्रीति पूर्वक खाते हैं, स्त्रियां पापरूपी अग्नि की ज्वाला के समान है, क्योंकि जैसे अग्नि की ज्वाला के उपर-ले भागमें काजल होता है, उसी प्रकार यह स्त्री रूप पापाग्नि ज्वाला केश रूपी काजल को मस्तक पर धारण करती है, जैसे अग्नि की ज्वाला देखने में सुन्दर, प्रकाशित हुई परन्तु उस का स्पर्श दुःख देनेवाला है, उसी प्रकार यह स्त्री भी देखने में सुन्दर होती । परन्तु उसका स्पर्श दुःख दाई है । और जैसे प्रसिद्ध अग्नि तृणादिक को जला देता उसी प्रकार यह स्त्री रूपी पापाग्नि की शिखा पुरुषरूप तृण आदिक को जला देती, वामना करके सुन्दर हुई विवेक से नीरम स्त्रियां, नरकाग्नि जो अतिदूर अर्थात् यम पुरीमें बलता है, सो वह देखनेमें सुन्दर परिणाम में दारुण इन्धन रूप है । काम नामक व्याधने मूढ चित्तवाले नर रूप पक्षियों के अङ्गों को बांधने के लिये संसार रूप वन में स्त्री रूप जाल फैलाया है । द्रव्य रूप कादोंमें फिरने वाला, जन्म मरण रूपी पल्वल [ अनेक तालाव ] का मत्स्य



रूप पुरुषको स्वीचनेवाली दुर्वासना रूप रज्जु से बन्धी हुई  
नस्ति [ कन्धी फटाने का कांटा ] के माथ चुभी हुई। जो  
रिक्त के समान था है। सकल दोष स्त्री स्त्रियों को रखने वाले  
सकल की नाई और दुःख देनेवाला शृंगला रूप स्त्रीका मुख  
सरीसृपके जैसा नहीं। यहाँ मांस है, तो यहाँ रुधिर है, और  
यहाँ हाडियाँ हैं, इस भाँति शरीर गत पदार्थ हैं, ऐसे होने  
कितने दिनों तक मोह में है ब्रह्मन् ! स्त्री-विषय सुन्दरता को  
पाता है। जिसको स्त्री है, उसको भोग की इच्छा है; जिसको  
माँ ही नहीं उसको भोगका सम्भव कहाँ में ? जिसने स्त्रीका  
त्याग किया, उसने संसारका त्याग किया, और जगत् का त्याग  
करने से पुरुष सुखी होता है।

पुत्र सम्बन्धी विवेक ब्रह्मानन्द नागक पञ्चदशी के प्रकरण  
में बतलाया है—

“अलभ्यमानस्तनयः पितरौ क्लेशयेच्चिरम् ।

लब्धोऽपि गर्भपातेन प्रसवेन च बाधते ।

जातस्य ग्रहणोपादिः कुमारस्य च मूर्खता ।

उपनीतेऽप्यविद्यत्वमनुदाहश्च पण्डिते ॥

यूनश्च परदारादिद्वारिश्च च कुटुम्बिनः ।

पित्रोर्दुःखस्य नास्त्यन्तो धनी चेन्निघ्नयते तदा” इति

अर्थः—नहीं प्राप्त हुआ पुत्र माता पिता को चिरकाल तक  
दुःख देता और गर्भ में प्राप्त हुआ गर्भपात द्वारा और प्रसव  
वेदना से कष्ट देता है। पुत्र उत्पन्न हुए अनन्तर बालग्रह और  
रोग आदिक से माता पिता को दुःख होता है। और कुमार  
अस्मत् होने पर उसकी मूर्खता दुःख देती है। उपनयन संस्कार  
करने पर भी यदि वह विद्या हीन हुआ तो उस से भी माता

पिता को दुःख होता है। युवा होने पर वह परदार लम्पट  
होता तभी माता पिता को दुःख होता है। जो वह पुत्र बहु-  
बाधा हुआ तो अनेक कुटुम्बी हुआ और उसकी दरिद्र अवस्था  
ही तभी माता पिता को खेद होता है। धनवान हुआ और जो  
वह मर गया तो माता पिता के दुःख की सीमा नहीं रहती—

यथा विद्याधनक्रोधयोऽपि पुत्रविषयाणां म-  
लिनवासनानां विवेकेन प्रतीकारस्तथा-  
ऽन्यासामपि यथायोगं शास्त्रैः स्वयं युक्त्या  
दोषं विविच्य प्रतीकारं कुर्यात् । कृते च प्र-  
तीकारे जीवन्मुक्तिलक्षणं परमं पदं लभ्यते ।  
तदाह वसिष्ठः—

अर्थः—विद्या, धन, क्रोध, स्त्री, और पुत्र सम्बन्धी मलिन  
वासनाओंकी निवृत्ति जैसे विवेक से होती उसी प्रकार अ-  
न्य वासनाओं की—जो जो वासनायें अन्तरमें प्रतीत हुई हो  
उन सब को भी शास्त्र और युक्तिके निवृत्ति करे। ऐसा  
करने से जीवन्मुक्ति रूप परम पद की प्राप्ति होती है। ऐसा-  
भगवान् वसिष्ठ मुनि कहते हैं—

“वासनासंपरित्यागे यदि यत्नं करोष्यलम् ।

तास्ते शिथिलतां यान्ति सर्वाधिव्याधयः क्षणात् ।

पौरुषेण प्रयत्नेन बलात् सन्त्यज्य वासनाः ॥

स्थितिं अध्यासि चेत्तर्हि पदमासादयस्यलम् ”

इति ॥

अर्थः—हे राम चन्द्र ! यदि तुम वासना के त्याग के नि-  
मित्त परिपूर्ण यत्न करोगे तो, क्षणभरमें सारी आधि व्याधि-  
यों की शिथिलता को प्राप्त होगे। पुरुषार्थ के बल से वास-



नाभों का त्याग कर [ वृत्ति ] की ) स्थिति ( जो स्वरूप में )  
यान्धोगे तो पूर्ण ऐसे परम पद को पाओगे ।

नन्वत्र पौरुषः प्रयत्नोनाम पूर्वोक्तो विषय-  
दोषविवेकः । स च पुनः पुनः क्रियमाणोऽपि  
प्रबलेन्द्रियव्यापारेणाभिभूयते । तदुक्तं भ-  
गवता—

अर्थः—शङ्का—यहां पुरुषार्थ अर्थात् विषय दोष सम्बन्धी-  
विवेक समझाना है । परन्तु इस विवेक को करने परभी अनि-  
प्रबल इन्द्रियों का वेग इस विवेक का ध्वंस कर डालता यह वा-  
त भगवान् ने भगवद् गीता अ० २। श्लो० ५० ५७ में कही है—

“यततो ह्यपि कौन्तेय ? पुरुषस्य विपश्चितः ।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।

तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नाविमिवाभ्रसि” इति ॥

अर्थः—हे कौन्तेय ? यत्र करते हुए विद्वान् पुरुष को भी-  
व्याकुल करने वाले इन्द्रियां बलात्कार से ( उसके ) मन को  
हरती हैं । जैसे वायु समुद्र में नाव को इधर उधर घुमाता है,  
वैसे मन विषयों में प्रवृत्त हुए इन्द्रियों में जिस जिस इन्द्रिय को  
प्राप्त हुआ, वही ( इन्द्रिय ) इस मनुष्य की बुद्धि को डबा देती है ।

एवं तर्ह्युत्पन्नविवेकरक्षार्थमिन्द्रियाणि निरो-

द्धव्यानि तदपि तत्रैवात्तरश्लोकाभ्यां दर्शितम् ।

अर्थ—जो इन्द्रिय विवेक का ध्वंस करती होती उत्पन्न हुए  
विवेक की रक्षा के लिये इन्द्रियों का निरोध करना चाहिये । यह बात  
भगवान् ने उसी स्थान में उपरले श्लोकों के बाद दो श्लोकों  
में कही है—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।

वशं हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।

तस्माद्यस्य महाबाहो ? निगृहीतानि सर्वशः ।

इन्द्रियाणान्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता”

इति । स्मृत्यन्तरेऽपिः—

अर्थः—उन सब इन्द्रियों को भलीभान्ति रोक के मेरे मे  
विश्वास कर एकाग्र चित्त हो । क्यों कि जिसके इन्द्रिय अपने  
अधीन हैं, उस की बुद्धि स्थिर कही जाती है । इस लिये हे  
महाबाहो ? ( अर्जुन ) जिस ने अपने इन्द्रियों को सब विषयों  
से रोक लिया है, उसकी बुद्धि स्थिर हुई है ।

अन्य स्मृति में भी कहा है—

“यः पाणिपादचपलो न नेत्रचपलो यतिः ।

न च वाक्चपलश्चैवमिति शिष्टस्य लक्षणम्” इति ॥

एतदेवान्यत्र सङ्ग्रहचिन्तनाभ्यां स्पष्टीकृतम् ।

अर्थः—संन्यासी हाथ, पांव, चपल, न रक्खे, नेत्र  
चपल न रक्खे, अर्थात् प्रयोजन के सिवाय निर्व्यापार रक्खे,  
वाणी भी चपल न रक्खे अर्थात् स्वास प्रयोजन विना भाषण  
भी न करे ये सब शिष्ट पुरुषों के लक्षण हैं ।

इस अर्थ को, ही अन्यत्र सङ्क्षेप में उसी प्रकार विस्तार से  
स्पष्ट किया है—

“अजिह्वः षण्डकः पङ्गुरन्धोबधिर एव च ।

मुग्धश्च मुच्यते भिक्षुः पङ्क्तिभिरेतैर्न संशयः” ॥

अर्थः—जिह्वारहित, लीव, लङ्गडा, अन्धा, बहिरा, और  
मूढ़ भिक्षु अजिह्वतादि छः गुणों से मुक्त होता है । इसमें लेश भी  
संशय नहीं है ।



“इदमिष्टमिदं नेति योऽश्नन्नपि न सज्जते ।

हितं सत्यं मितं वक्ति तमजिह्वं प्रचक्षते” ॥

अर्थ:—भोजन समय जो पुरुषको भोजन करता हुआ भी  
‘यह पदार्थ तो मुझे प्रिय है, यह मुझको प्रिय नहीं’ इस  
भानि भोज्य पदार्थों में आसक्ति को प्राप्त न हो और हित, सत्य,  
और ( जहरत के लायक ) बोलना है उसे “अजिह्व कहते हैं।

“अशजातां यथा नारीं तथा षोडशवार्षिकीम् ।

शतवर्षां च षोडष्टा निर्विकारः स षण्डकः” ॥

अर्थ:—जैसे आज की पैदा हुई तथा १०० वर्ष की स्त्री  
को देख कर पुरुष निर्विकार रह जाता उसी प्रकार १६ वर्ष  
की स्त्री को भी देखकर जो पुरुष निर्विकार चित्तवाला रहता  
वह षण्ड होता है ।

“भिक्षार्थमटनं यस्य विण्मूत्रकरणाय च ।

योजनान्न परं याति सर्वथा पङ्गुरेव सः” ॥

अर्थ:—जिस का भ्रमण करना केवल भिक्षा निमित्त तथा  
मल मूत्र के त्यागने के लिये ही है, और जो एक योजन से  
अधिक नहीं चल सकता अर्थात् जिसका निष्प्रयोजन जहां तहां  
भटकना नहीं होता है । वह सर्वथा पङ्गु ही है ।

“तिष्ठतो व्रजतो वाऽपि यस्य चक्षुर्न दूरगम् ।

चतुर्युगां भुवं त्यक्त्वा परिव्राट् सोऽन्ध उच्यते” ॥

अर्थ:—ठहरे हुए या चलने हुए जिस की दृष्टि १६ हाथ  
भूमि उपरांत दूर न जाबीहो वह संन्यासी “अन्ध” कहलाता है ॥

“हितं मितं मनोरामं वचः शोकापहं च यत् ।

श्रुत्वा यो न शृणोतीव बधिरः स प्रकीर्तितः” ॥

अर्थ:—हित, अहित, मनोहर, और शोक को उत्पन्न कर

ने वाले वचन को सुनकर भी न सुनने के समान जो रहता  
है, अर्थात् उस से हर्ष शोक युक्त नहीं होता, वह “बधिर”  
कहलाता है ।

“सान्निध्ये विषयाणां च समर्थोऽविकलेन्द्रियः ।

सुप्तवद् वर्तते नित्यं भिक्षुर्मुग्धः स उच्यते” ॥

अर्थ:—विषयों की समीपता हो और स्वयंभी भोगने  
में सामर्थ्य वाला और अविकल इन्द्रिय वाला होवे, तभी जो  
निद्रावश होता उस भांति वर्तित करता है, वह भिक्षुमुग्ध कह-  
लाता है ।

“न निन्दां न स्तुतिं कुर्यान्न किं चिन्मर्माणि स्पृशेत् ।

नातिवादी भवेत्तद्वत् सर्वत्रैव समो भवेत् ॥

न संभाषेत्स्त्रियं कां चित्पूर्वदृष्टां च न स्मरेत् ।

कथां च वर्जयेत्तासां न पश्येत्स्त्रियितामपि”

इति ।

अर्थ:—किसी की निन्दाया स्तुति न करे किसी को  
मर्मवैधी वचन न सुनावे, अत्यन्त भाषण करने वाला न हो-  
वे, सर्वत्र समभाव वाला होवे, किसी भी स्त्री के साथ बात न  
करे । पहिले की देखी हुई स्त्री का स्मरण न करे । स्त्री सम्बन्धी  
बात भी न करे । उसी प्रकार स्त्री के चित्र को भी न देखे ॥

यथा कश्चिद्व्रती नक्तैकभुक्तोपवासमौनादि-

व्रतं संकल्प्य सावधानो भ्रंशमकृत्वा सम्यक्

पालयति, तथैवाऽजिह्वत्वादिव्रते स्थितः

सावधानो विवेकं पालयेत् । तदेवं विवेके-

न्द्रियनिरोधाभ्यां दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारमे-

चिताभ्यां मैत्र्यादिभावनासु प्रतिष्ठितास्वाप्सुर



संपदूषा मलिनवासनाः क्षीयन्ते । ततो  
निश्वासोच्छ्वासवन्निमेषोन्मेषवच्च पुरुषप्रय-  
त्नमन्तरेण प्रवर्तमानाभिर्मय्यादिवासनाभि-  
र्लोकं व्यवहरन्नपि तदायसाकल्पवैकल्यानु-  
सन्धानं चित्ते परित्यज्य निद्रातन्द्रामनो-  
राज्यादिरूपाः समस्तचेष्टाः प्रयत्नेन शान्ताः  
कृत्वा चिन्मात्रवासनामभ्यसेत् । स्वतस्त्वा-  
वदिदं जगच्चिज्जडोभयात्मकं भासते ।  
यद्यपि शब्दस्पर्शादिजडवस्तुभासनायैवेन्द्रि-  
याणि सृष्टानि—

“ पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भुः ”

इति श्रुतेः, तथाऽपि चैतन्यस्योपादानतया  
वर्जयितुं न शक्यत्वात् चैतन्यपूर्वकमेव जडं  
भासते ।

“ तमेव भान्तमनु भाति सर्वं ”

तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ”

इति श्रुतेः । तथा सति पश्चाद् भासमानस्य  
प्रथमतो भासमानमेव चैतन्यं वास्तवं रूप-  
मिति निश्चित्य जडमुपेक्ष्य चिन्मात्रं चित्ते  
वासयेत् ।

एतच्च बलिशुकयोः प्रश्नोत्तराभ्यां विस्पष्टमव-  
गम्यते ।

अर्थः—जैसे कोई व्रत करने द्वारा पुरुष रात्रि, एक कु-  
क्त, उपवास, या मौन आदि व्रतों का संकल्प कर, सावधानी  
तामै उस के सारे नियम पालन करता, किमी दिन भी उस के

छोड़ा नहीं, उसी प्रकार पूर्वोक्त अजिह्व आदि व्रतों में  
विशेष पुरुष भी सावधानी से भली भाँति विवेक का पालन करे ।  
इस प्रकार चिर काल पर्यन्त निरन्तर और आदर पूर्वक से-  
वि विवेक तथा इन्द्रियनिरोध करके पूर्वोक्त मैत्री आदि भाव-  
नाओं के स्थिर होने से, आसुरी सम्पत्ति रूप मलिन वासना-  
वैषम्य को प्राप्त होती है, । उन का क्षय होने से श्वास, उ-  
च्छ्वास के समान या आंख बन्द करने और खोलने के समान  
पुरुष प्रयत्न विना प्रवृत्त मैत्री और आदि वासनाओं करके  
जगत् व्यवहार करने हुए भी, कदाचित् वह व्यवहार यथार्थ  
मिथ हो या उस में कोई कमी रह जावे तौ भी उस के बारे में  
चित्त में चिन्ता का त्याग कर तथा निद्रा, तन्द्रा, तथा मनोरा-  
ज्य ( मनकी झूठीतरंगों, ) कोभी प्रयत्न से शान्त कर इस भाँति  
चैतन्य वासनाओं का अभ्यास करे ।

यह जगत् स्वतः चैतन्य और जड—ये दो रूपों में भासता-  
है। यद्यपि “ब्रह्माने इन्द्रियों को विषयाभिमुख कर इनका हिं-  
सत किया” इसभाँति श्रुति कहती है इस लिये, यद्यपि शब्द  
स्पर्श आदिक जड पदार्थों को ही प्रकाश करने के लिये इन्द्रि-  
यों को रचा है । तथापि जड का ( विवर्त ) उपादान कारण  
चैतन्य होने से जड पदार्थ उस से जुदा न हो सकने से चै-  
तन्यपूर्वक ही जड पदार्थ का भान होता है । “उसके ही भान-  
पूर्वक सब भासता है, उस परमात्मा के प्रकाश से ये सब  
भासते हैं” ऐसा श्रुति भी कहती है । अत एव चैतन्य या जि-  
मका प्रथम भान होता है वही पीछे से भासता जड पदार्थों का  
वास्तव स्वरूप है । ऐसा निश्चय कर जडपदार्थ की उपेक्षा क-  
रके चैतन्य की ही वासना आरुढ़ करे । यह बात बलि और



साधारण के समान में स्पष्ट जान पड़ती है—

“ किमिहास्तीह किन्मात्रमिदं किन्मयमेव च ।  
कम्मे कोऽहं क एते वा लोका इति वदाऽऽशु मे ।  
चिदिहास्तीह चिन्मात्रमिदं चिन्मयमेव च ।

चित्तं चिदहमेते च लोकाश्चिदिति संग्रहः” इति ।

अर्थः—यहां क्या है ? यह सब किस रूप में है ? यह कौन है । तुम कौन हो ? मैं कौन हूं ? और यह लोक कौन है ? शीघ्र मुझे कही । इस भान्ति बलि राजाने पूछा तब शुक्राचार्य ने उत्तर दिया जो, यही चैतन्य है ये सब चैतन्य ही हैं, तूं चैतन्य है, मैं चैतन्य स्वरूप हूं, तथा यह लोक भी चैतन्य स्वरूप है, यह धोड़े में उत्तर है ।

यथा सुवर्णकारः कटकं विक्रीणन्नपि बलया-  
कारस्य गुणदोषानुपेक्ष्यगुरुत्ववर्णयोरेव मनः  
प्रणिधित्सति तथा चिन्मात्रे मनः प्रणिधात-  
व्यम् । यावता कालेन जडं सर्वधैवोपेक्ष्य चि-  
न्मात्रे मनसः प्रवृत्तिर्निश्वासादिवत् भाविकी  
सम्पद्यते तावन्तं कालं चिन्मात्रवासनायां  
प्रयतेत ॥

अर्थः—जैसे सोनार सोनेके कड़ा को बेचता हुआ भी क-  
ड़ा के आकार गत गुण दोष पर दृष्टि न देकर केवल उसके  
रङ्ग और तौल पर ही मन लगा कर देखता है—( ऐसा कड़ा  
लेनेवाला करता है ) उसी प्रकार मुमुक्षु पुरुष मिथ्या नामरूपा-  
त्मक जड वस्तुपर लक्ष्य न देकर जडके पहिले भासता चैतन्य  
पर ही मन स्थिर कर जैसे श्वास उच्छ्वास रूप क्रिया बिना  
प्रयास, अपने आप स्वभावसे ही होती है—

उसी प्रकार जडकी उपेक्षा कर केवल चैतन्य में ही मन की  
स्वाभाविक प्रवृत्ति हो जावे तब तक चैतन्य वासनाओं का  
अभ्यास करे ।

नन्वादावेव चिन्मात्रवासनाऽस्तु, तथैव म-  
लिनवासनानिवृत्तेः, किमनन्तान्तर्गदुना  
मैत्र्याद्यभ्यासेनेति चेन्न ।

अर्थः—शङ्का, पहिले चिन्मात्र वासना का ही अभ्यास  
करे, और मलिन वासना की निवृत्ति भी इस चिन्मात्रवासना  
से ही होगी तो पीछे मैत्री आदि शुभ वासना के अभ्यास  
के बीच व्यर्थ हाथ डालने का क्या प्रयोजन है ?

चिद्रासनाया अप्रतिष्ठितत्वप्रसङ्गात् । यथा  
कुट्टिमदार्यव्यतिरेकेण क्रियमाणमपि स्त-  
म्भकुड्यात्मकं गृहं न प्रतितिष्ठति । यथा वा  
विरेचनेन प्रबलदोषमनिःसार्य सेवितम-  
प्यौषधं नाऽऽरोग्यकरं तद्वत् ।

अर्थः—समाधान—मैत्री मुदिता आदि शुभ वासनाओं  
का अभ्यास किये बिना चैतन्य वासना स्थिर होती नहीं ।  
जैसे नेव ( दीवार का ) मजबूत किये बिना खम्भे, भीत आ-  
दिक समुदायरूप घर चिरकाल तक ठहर नहीं सकता, जैसे  
जुलाब लेकर सब दोषों को निकाले बिना रसायन का सेवन  
करने से रोग को कुछ लाभ नहीं होता, उसी प्रकार मैत्री आदि  
शुभ वासनाओं का अभ्यास किये बिना पहिले से ही चैतन्य  
वासना सिद्ध हो नहीं सकती ।

ननु “ तामप्यथ परित्यजेत् ” इति चिन्मात्र-  
वासनाया अपि परित्याज्यत्वमवगम्यते ।



चिन्मात्रं परित्यज्यान्वस्य कस्य चिदुपादे-  
यस्याऽभावात् ।

अर्थः—‘उस चिन्मात्र वासना का भी पीछे त्याग करो।  
इस भान्ति चिन्मात्रवासना को भी हेय गिना है, सो योग्य  
नहीं, क्यों कि चैतन्य का त्यागकर, उस के बिना अन्य कोई  
पदार्थ उपादेय नहीं ।

नायं दोषः । द्विविधा चिन्मात्रवासना मनो-  
बुद्धिसमन्विता तद्रहिता चेति । करणं मनः,  
कर्तृत्वोपाधिर्बुद्धिः । तथा च सत्यप्रम-  
त्तोऽहमेकाग्र्येण मनसा चिन्मात्रं भाव-  
यिष्यामीति, एतादृशेन कर्तृकरणानुसन्धा-  
नेन समन्विता प्राथमिकी या चिन्मात्र-  
वासना ध्यानशब्दाभिधेया तां परित्यजेत् ।  
या त्वभ्यासपाटवेन कर्तृत्वाद्यनुसन्धानाव-  
धानरहिता समाधिशब्दाभिधेया तामुपा-  
ददीति । ध्यानसमाधयोस्तु लक्षणं पतञ्ज-  
लिः सूत्रयामास ।

अर्थः—समाधाने, यह दोष वास्तविक नहीं, क्यों कि दो  
प्रकार की चिन्मात्र वासना है, एक मन बुद्धि सहित, और  
दूसरी मन बुद्धि रहित । मन यह करण मयही ध्यान आदिक  
आन्तर क्रियाओं का साधन है, और बुद्धि कर्त्तापन की उपा-  
धिरूप है अर्थात् मैं अमुक कार्य करता हूँ, इसप्रकार की शक्ति  
बुद्धि का स्वरूप है, इस लिये, मात्रज्ञान है, एकाग्र मन से केवल  
चैतन्य की भावना करेगा, इस भाँति कर्त्ता ( बुद्धि ) और क-  
रण ( मन ) का अनुसन्धान पूर्वक जो आरम्भ काल में चि-

न्मात्र वासना है, उस का ध्यान यह नाप है, इस मन बुद्धि पूर्ण-  
क चिन्मात्र वासना का त्याग करे, और अधिक अभ्यास से  
बुद्धि और मन के अनुसन्धान बिना जो समाधि नाप की चि-  
दासना है, उसको ग्रहण करे । ध्यान और समाधि का लक्षण  
यथावत् पतञ्जलि ने सूत्रोंद्वारा कथन किया हैः—

“तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्” ।

तादृशे समार्थी दीर्घकालनैरन्तर्यसंस्कारैः  
संचिते स्थैर्ये लब्ध्वा पश्चात्कर्तृकरणानुस-  
न्धानपरित्यागार्थी यः प्रयत्नस्तमपि परि-  
त्यजेत् ।

अर्थः—नामि आदि स्वानों में ध्येय के अवलम्बन ज्ञान  
की जो स्थिरता लगातार प्रवाह और उसमें दूसरे ज्ञान का अ-  
भाव हो उसे ध्यान कहते हैं । जिसमें ध्यान का संस्कार मात्र रह  
जाय और स्वरूप शून्य के समान होजाय उसे समाधि कहते हैं ।  
चिर काल तक आदर पूर्वक निरन्तर मेहनत किया इस प्र-  
कार की समाधि में स्थिरता प्राप्त करने बाद मन बुद्धि के अनु-  
सन्धान को त्यागने के लिये प्रयत्न का भी त्याग करे ।

नन्वेवं सति तत्प्रयागयजोऽपि परित्याज्य  
इत्यनवस्था स्यात् ।

अर्थ—शुद्धा—इस तरह तो जैसे मन, बुद्धि के त्याग के  
निमित्त यत्न का त्याग करे, उसी प्रकार इस त्याग के निमित्त  
प्रयत्न का त्याग करे, पीछे उस त्याग के निमित्त प्रयत्न का  
त्याग करे, इस भाँति अनवस्था दोष प्राप्त होगा ।

मैत्रय । कलकारजो न्यायेन स्वपरान्वयवैक-  
त्याग । यथा कान्दापिते जले प्राविशते कलक-



रज इतररजसा सह स्वात्मानमपि निवर्त्त-  
यति तथा त्यागार्थः प्रयत्नः कर्तृकरणानुस-  
न्धानं निवर्त्तयन्स्वात्मानमपि निवर्त्तयिष्य-  
ति । निवृत्तं च तस्मिन्मलिनवासनावच्छि-  
न्नवासनानामपि क्षीणत्वान्निर्वासनं मनो-  
ऽवतिष्ठते । एतदेवाभिप्रेत्य वसिष्ठ आह ।

अर्थः—समाधान, जैसे मलिन जल में डालने से निर्पक्व  
के फल की धूलि इतर धूलि के साथ अपना भी नाश कर  
हालती है, उसी प्रकार कर्त्ता ( बुद्धि ) और करण ( मन )  
के अनुसन्धान का त्याग के लिये किया हुआ यत्न, कर्त्ता तथा  
करण को अनुसन्धान की निवृत्ति के साथ अपनी भी निवृत्ति  
करेगी । यह यत्न निवृत्त हुए पीछे मलिन वासना के समान  
शुद्ध वासना में भी क्षीण होने से मन, वासना शून्य रह जाता  
है । इसी अभिप्राय से भगवान् वसिष्ठ ने कहा है—

“तस्माद्वासनया बद्धं मुक्तं निर्वासनं मनः ।

राम ? निर्वासनीभावमाहराऽऽशु विवेकतः” ॥

अर्थः—वासना सहित मन बद्ध है और वासना रहित म-  
न मुक्त है, अत एव हे राम ? विवेक द्वारा शीघ्र निर्वासना-  
पन की प्राप्ति करो—

“सम्यगालोचनात्सत्याद्वासना प्रविलीयते ।

वासनाविलये चेतः शममायाति दीपवत्”

इति ।

अर्थः—यथार्थ विचार पूर्वक सम्पूर्ण जगत् का वास्तव-  
त्याग होने से वासनायें लय को प्राप्त होती हैं, और वासनाओं  
का लय होने से जैसे दीप शान्त ( बुझ ) होता है, उस प्रकार

वासनायें शान्त हो जाती हैं ।

“यो जागर्ति सुषुप्तिस्थो यस्य जाग्रन्न विद्यते ।

यस्य निर्वसिनो बोधः स जीवन्मुक्त उच्यते”

इति च ॥

अर्थः—जो अविद्या रूप निद्रा के उठ जाने से जागने दृ-  
ष्टा भी सुषुप्ति में स्थित पुरुष के समान केवल स्वरूप में स्थित  
है, जिस को ज्ञान द्वारा देहेन्द्रियका बाध हो जाने से इन्द्रि-  
यों द्वारा विषयों का ग्रहण रूप जाग्रत अवस्था नहीं, तथा जि-  
स को जाग्रत वासना में हुई सप्त अवस्था भी नहीं, वही जी-  
वन्मुक्त पुरुष कहलाता है ।

“सुषुप्तिवत् प्रशमितभाववृत्तिना

स्थितं सदा जाग्रति येन चेतसा ।

कलान्वितो विधुरिव यः सदा बुधै

निषेव्यते मुक्त इतीह स स्मृत” इति च ।

अर्थः—जैसे सुषुप्ति अवस्था में चित्त विषयाकार नहीं  
होता उस प्रकार जाग्रत अवस्था में भी जो विषया-  
कार वृत्ति में रहित चित्त में स्थित है । तथा जिस को कलावान  
चन्द्रमा के समान यही विवेकी पुरुष निरन्तर भवता है, वह  
पुरुष मुक्त कहलाता है ।

“हृदयात्संपरित्यज्य सर्वमेव महामतिः ।

यस्तिष्ठति गतव्यग्रः स मुक्तः परमेश्वरः” ॥

अर्थः—जो महामति पुरुष हृदय में के सब विषयों को  
त्याग कर चित्त की व्यग्रता से मुक्त रहता, वह मुक्त साक्षात्  
परमेश्वर है ॥

“समाधिमय कर्माणि मा कर्मांस्तु कर्मांस्तु वा ।



हृदयेनास्तसर्वाशो मुक्त एवोत्तमाशयः ।  
नैकभ्येण न तस्यार्थस्त्वस्यार्थोऽस्ति न कर्मभिः ।  
न समाधानजप्याभ्यां यस्य निर्वासनं मनः ॥  
विचारितमलं शास्त्रं चिरमुद्ग्राहितं मिथः ।  
संयुक्तवासनान्मौनानादने नास्त्युत्तमं पदम्” इति ॥

अर्थः—जिस के हृदय की आशा ये निवृत्त होगयी है, वह पुरुष समाधि या सत्कर्म करे या न करे, परन्तु वह उसम आशयवाला पुरुष सदा मुक्त ही है । जिस का मन वासना रहित हुआ है, उस पुरुष को कर्म के त्याग का कोई प्रयोजन नहीं, उसी तरह उस को कर्म करने से कोई फल नहीं, तथा समाधि या जपका भी कोई प्रयोजन नहीं, पूर्ण रीति से शास्त्रों का विचार किया हो तथा परस्पर चर्चा द्वारा शास्त्रों का तात्पर्य एक दूसरे को ग्रहण कराया भी हो तौभी वासना त्याग रूप मौन विना उत्तम पद की प्राप्ति नहीं होती है ।

न च निर्वासनमनस्कस्य जीवनहेतुर्व्यवहारो लुप्येतेति शङ्कनीयम् । किं ? चक्षुरादिव्यवहारस्य लोपः, किं ? वा मानसव्यवहारस्य । तत्राऽऽद्यमुद्दालकोनिराचष्टे—

अर्थः—वासना रहित मनवाले पुरुष का कोई भी व्यवहार यथार्थसिद्ध नहीं हो सकता, एसी यहां शङ्का न करनी । क्यों कि चक्षु आदि इन्द्रियों का व्यवहार और मानस व्यवहार ये दो प्रकार के व्यवहार हैं । इनमें से कोई व्यवहार सिद्ध नहीं होता ? इन में से प्रथम पक्षका उद्दालक मुनि खण्डन करते हैं—

“वासनाहीनमप्येतच्चक्षुरादीन्द्रियं स्वतः ।

प्रवर्तते यदिः स्वार्थं वासना नात्र कारणम्” इति ॥  
द्वितीयं वसिष्ठो निराचष्टे—

अर्थः—ये चक्षु आदि इन्द्रियां वासना विना भी, अपने विषय प्रति स्वयं ही प्रवृत्त होती हैं । इन्द्रियों का अपने अपने विषयों के प्रति प्रवृत्त होने में कोई वासना कारण नहीं है ।

वासनाके क्षय होने से मानस व्यवहार भी बन्द नहीं होता यह वसिष्ठ मुनि कहते हैं ।

“अयत्नोपनतेष्वक्षिदिग्द्रव्येषु यथा पुनः ।  
नीरागमेव पतति तद्वत्कार्येषु धीरधीः” इति ॥  
तादृश्या धिया प्रारब्धभोगं स एवोपपादयति—

अर्थः—रास्ता चलते, विना यत्न के प्राप्त हुए नाना दिशाओं की वस्तुओं पर जैसे दृष्टि राग विना जाती है, उसी प्रकार विवेकी पुरुष के अन्तःकरण की वृत्ति सब कामों में राग विना ही प्रवृत्त होती है ।

राग रहित बुद्धि द्वारा प्रारब्धभोग भी सिद्ध होता है, ऐसा वसिष्ठ जी कहते हैं—

“परिज्ञायोपभुक्तोहि भोगो भवति तुष्टये ।  
विज्ञाय सेवितश्चौरो मैत्रीमेति न चौरताम्” ॥  
अशङ्कितोपसंप्राप्ता ग्रामयात्रा यथाऽध्वगैः ।  
प्रेक्ष्यते तद्वदेव ज्ञैर्भोगश्रीरवलोक्यते” इति ॥  
भोगकालेऽपि सवासनेभ्यो निर्वासनस्य विशेषमाह—

अर्थः—जैसे चोर को चोर रूप से जान कर उस का से-



बन करने में वह चोर भित्र हो जाता है, किन्तु वह अपनी चोरी नहीं करता। वैसे विषय भोगमें जो २ दोष हैं, उस को यथार्थ जानकर उनके भोगने से तृष्णाओं को नहीं बढ़ा कर मनोष ही उत्पन्न करते हैं। जैसे मुसाफिर नीडर हुआ यात्रा (एक के पीछे एक आने जाने वाले को) को देखता है, उसी प्रकार ज्ञानी भोगलक्ष्मी (उदासीन दृष्टि से) देखता है।

भोग समय भी सवासन से निर्वासन पुरुष में अधिकता विविष्ट जी ने कही है—

“नाऽऽपदि ग्लानिमायाति हेमपद्मं यथा निशि ।  
नेहन्ते प्रकृतादन्यद्रमन्ते शिष्टवर्त्मनि ॥  
नित्यमापूर्णतामन्तरक्षुब्धामिन्दुसुन्दरीम् ।  
आपद्यपि न मुञ्चन्ति शशिनः शीततामिव ॥  
अधिवहृतमर्षादा भवन्ति विगताशयाः ।  
नियतं न विमुञ्चन्ति महान्तो भास्करा इव” इति ॥

जनकस्यापि समाधिव्युत्थितस्येदृशमेवा-  
ऽऽचरणं पश्यते ।

अर्थः—जैसे सोने का कमल (बनावटी होनेसे) रात्रि में भी कुम्भटना नहीं वैसाही जीवन्मुक्त पुरुष आपात्ति में भी दीनताके वश नहीं होता है, प्रवाद प्राप्त कार्य के भिन्नाय अन्य कार्य के करने की इच्छा नहीं होती, और शिष्ट पुरुषों के ही मार्ग का अनुसरण कर आनन्द को प्राप्त होता है। चन्द्रमा के समान और वैसाही शीतल विकार राहत ऐसी पूर्णता को आपत्त काल में भी नहीं छोड़ता वासना रहित महान् पुरुष सपु-  
टकी नाई मर्षादा को नहीं छोड़ता, उसी भाँति सूर्य के समान नियम को नहीं छोड़ता है।

समाधि में से उठने बाद जनक का भी उसी प्रकार आ-  
वृत्त योगवामिष्ठ में कहा गया है—

“तृष्णामथ चिरं स्थित्वा जनको जनर्जावितम् ।  
व्युत्थितश्चिन्तयामास मनसा शमशालिना ।  
किमुपादेयमस्तीह यत्रात्मसंसाधयामि किम् ।  
स्वतःस्थितस्य शुद्धस्य चित्तः का मेऽस्ति कल्पना ।  
नाभिवाञ्छास्यसंप्राप्तं संप्राप्तं न त्यजाम्यहम् ।  
स्वस्थ आत्मनि तिष्ठामि यन्ममास्ति तदस्तु मे ।  
इति संचिन्त्य जनको यथाप्राप्तक्रियामसौ ।  
असक्तः कर्तुमुत्तस्थौ दिनं दिनपतिर्यथा ॥  
भविष्यं नानुसन्धन्ते नार्तानं चिन्तयत्यसौ ।  
वर्तमाननिर्मेपं तु हसन्नेवानुवर्तते” इति ॥  
तदेवं यथोक्तेन वासनाक्षयेण यथोक्ता जी-  
वन्मुक्तिर्भवतीति सुस्थितम् ॥

इति श्रीमद्विद्यारण्यप्रणीत जीवन्मुक्तिविवेक

वासनाक्षयनिरूपणं नाम

द्वितीयं प्रकरणम् ॥ २ ॥

अर्थः—बहुत देरतक शान्त रहकर जाग्रत होने के बाद शान्ति युक्त चित्त करके जनक लोगों के जीवित का कारण स्व आत्मस्वरूप में विचार करने लगे कि ‘इस जगत् में मेरे ग्रह-  
ण योग्य क्या वस्तु है जिस को मैं यत्र से सिद्धकरूं? स्वतः स्थित शुद्ध चैतन्य मेरी क्या कल्पना है? अप्राप्त वस्तु की मैं इच्छा करता नहीं वैसा ही प्राप्त वस्तु को नहीं छोड़ता। मैं तो केवल-



राम्य रूप में ही स्थिर हूँ । मारव्य द्वारा प्राप्त जो वस्तु मेरीमानी गयी वह भले ही मेरी हो । इस प्रकार विचार कर जैसे सूर्य नारायण, अधिकार वशात् प्राप्त दिवस रूप क्रिया करते हैं वैसे ही जनक राजा भी आसक्ति रहित, यथा माम-क्रिया करने के लिये उठे । यह राजा भविष्यत् सम्बन्धी विचार नहीं करते उसी प्रकार भूत कालका भी विचार नहीं करते और वर्तमान क्षण को तो हसते हुए वर्तते हैं ।

इस भान्ति यथा विधि उक्त वासनाक्षय द्वारा यथार्थ-जीवन्मुक्ति सिद्ध होती है, यह असन्त निश्चित है । इस प्रकार जीवन्मुक्ति विवेक का वासनाक्षय नाम का दूसरा—

प्रकरणसमाप्त हुवा ॥

अथ तृतीयं मनोनाशप्रकरणम् मनः ॥

अथ जीवन्मुक्तिसाधनं मनोनाशं निरूपय ।  
माय्यप्यशेषवासनाक्षये सति अर्थान्मनो  
नश्यत्येव, तथाऽपि स्वातन्त्र्येण मनोनाशे  
सम्पगम्यस्ते सति वासनाक्षयो रक्षितो भ-  
वति । न चाजिह्वत्वपण्डकत्वाद्यभ्यासेनैव  
तद्रक्षा सिद्धेति वाच्यम् । नष्टे मनस्यजि-  
ह्वादिनामर्थसिद्धत्वेनाभ्यासप्रयासाभावा-  
त् । मनोनाशाभ्यासस्तत्राप्यस्तीति चेदस्तु  
नाम ? तस्याऽऽवश्यकत्वादन्तरेण मनोनाशम-  
भ्यस्ता अप्यजिह्वत्वादयोऽस्थिरा भवन्ति ।  
अत एव मनसो नाशनीयत्वं जनक आह ।

अर्थः—अब जीवन्मुक्ति के साधन रूप मनोनाश का निरूपण करते हैं । यद्यपि सम्पूर्ण वासनाओंके क्षय होनेसे मन-का नाश हो ही जाता है, तथापि स्वतन्त्र मनोनाश का यथा-शास्त्र अभ्यास करने से वासनाक्षय की रक्षा होती है, अर्थात् वासना फिर उदय होने योग्य नहीं रहती । मौन होना पण्ड होना आदि पूर्वोक्त साधनों के अभ्यास से वासना क्षय की रक्षा सिद्ध ही है, ऐसी शङ्का यहां न करनी चाहिये । क्योंकि मनोनाश होने से, मौन, पण्डत्व आदि स्वयं सिद्ध होने से उन के अभ्यास करने के लिये प्रयास नहीं करना पड़ता ।

शङ्का—अजिह्वत्वादि में भी मनोनाश का अभ्यास तो है ही, तब स्वतन्त्रता से मनोनाश के लिये अभ्यास क्यों करेंगे ?



स्वस्थ स्व—मनोनाश का अभ्यास उस में भी हो, परन्तु  
सुखीमानी अभ्यास की आवश्यकता होने से, स्वयन्वत्ता से  
रजने मुक्ति अभ्यास किये बिना अजिज्ञानादि साधन द्वारा  
करते हैं। अतएव जनक ने मन को नाश करने योग्य कहा है।  
क्रि० "सहस्राङ्कुरशाखात्मफलपल्लवशालिनः ।

अस्य संसारवृक्षस्य मनोमूलमिति स्थितम् ॥  
संकल्पमेव तन्मन्ये मनोमूलमिति स्थितम् ।  
संकल्पमेव तन्मन्ये संकल्पोपशमेन तत् ॥  
शोपयामि यथाशोपमेति संसारपादपः ।  
प्रबुद्धोऽस्मि प्रबुद्धोऽस्मि दृष्टश्चोरो मयाऽऽत्मनः ॥  
मनो नाम निहन्म्येनं मनसाऽस्मि चिरं हतः ।  
वसिष्ठोऽप्याह—

अर्थः—हजार अंकुर, शाखा, पल्लव, और फल वाला  
संसाररूपी, वृक्ष की जड़ मन ही है, इस में सन्देह नहीं। संकल्प  
ही उस का स्वरूप है, इस लिये संकल्प का शमन करने के  
लिये मन का शोषण कर डाले, जिससे यह संसार रूपी वृक्ष  
भी सुख ही जाय। अब मैंने समझा, अब ही समझा हूँ, मैंने  
आत्म धन का चुराने वाले मन नामक चोर को देखा है, इस  
द्विये अब आज मैं इसे मारता हूँ, इस ने बहुत दिनों तक मु-  
झे मारा है। वसिष्ठजी कहते हैं—

“अस्य संसारवृक्षस्य सर्वोपद्रवदायिनः ।  
उपाय एक एवास्ति मनसः स्वस्थ निग्रहः ॥  
मनसोऽभ्युदयो नाशो मनोनाशो महोदयः ।  
ज्ञमनो नाशमभ्येति मनोऽज्ञस्य हि शृङ्खला ॥  
तावन्निर्वाणवताला बलान्ति हृदि वासनाः ।

एकत्वं च दृढाभ्यासाद्यावन्न विजितं मनः ॥  
प्रक्षीणचित्तदर्पस्य निगृहीतेन्द्रियद्विपः ।  
प्राशिन्य इव हंसन्ते क्षीयन्ते भोगवासनाः ॥  
हस्तं हस्तं संपीड्य दन्तैर्दन्तान्विचूर्ण्य च ।  
अज्ञानद्वैः समाक्रम्य जघेदादौ स्वकं मनः ॥  
एतावति धरणीतले सुभगास्ते साधुचेतनाः पुरुषाः ।  
पुरुषकथा सु च गणयानि जिता ये च तसा स्वेन ॥  
हृदये बिले कृतकुण्डल उल्लवणकलनाविषो  
मनो भुजगः ।  
यस्योपशान्तिमगमचन्द्रवदुदितं तमव्ययं चन्द्रे”  
इति ।

अर्थः—अनेक प्रकार के कष्टरूप फल को देनेवाले इस  
संसार वृक्ष का निर्मूल करने का, केवल अपने मन का निग्रह  
करे यही केवल उपाय है। मन का उदय यह पुरुष के नाश  
का रूप है, और मन का नाश यह उस का बड़ा अभ्युदय है।  
ज्ञानी का मन नाश को प्राप्त होता है, और अज्ञानी का मन  
इस का बांधने वाला सांकल (जंजीर सिर) रूप है। जब  
तक एक परम तत्त्व के दृढ अभ्यास से अपने मन को नहीं  
जीता तब तक आधीरात में नाच करने वाले पिशाचादि के  
समान हृदय में नाच किया करता है।

जिम के चित्त का गर्व शांत हुआ है, तथा जिस ने इन्द्रियरूप  
शत्रु को वश में कर लिया है, उस की भोगवासनायें शीतकाल  
में हिम पड़ने से कमल के नाश के समान क्षय को प्राप्त हो  
जाती हैं। हाथ से हाथ दबा कर, दांतों से दांत को पीस कर  
और अङ्गों से अङ्ग मरोड़ कर भी प्रथम अपने मन को जीते।



वे ही पुरुष इस विभाव भ्रमण्डल में भाग्यवान्, बुद्धिमान् हैं और पुरुषों में भी ऐसी ही की गणना हो सकती है। हृदय रूपी चित्र में कणनाला बैठा हुआ ( सर्प ) सङ्कल्प विकल्प रूप जित का भयङ्कर विष है, ऐसा मनरूपी सर्प जित का मारा गया है, उस उदय पाये हुए पूर्णचन्द्रमा के समान निर्विकार पुरुष को मैं वन्दना करता हूँ।

“चित्तं नाभिः किलास्पेदं मायाचक्रस्य सर्वतः ।  
स्थीयते चेत्तदाक्रम्य तन्न किं चित्प्रबाधते” इति ॥  
गौडपादाचार्यैरप्युक्तम् ।

अर्थः—इस मायाचक्र की नाभि ( मध्य ) ठीक यह चित्त है। सब ओर से उस का आक्रमण कर जो स्थित हुआ है। वह किसी बाधा को प्राप्त नहीं होता।

श्री गौडपादाचार्य ने भी कहा है—

“मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वयोगिनाम् ।  
दुःखक्षयः प्रबोधश्चाप्यक्षया शान्तिरेवच” इति ॥  
अर्जुनेनोक्तम्—

अर्थः—सब योगिपुरुषों को भयशून्यता की प्राप्ति मन के निग्रह के अधीन है, उसी प्रकार दुःख की निवृत्ति, ज्ञान और असय शान्ति भी मन के निग्रह के ही अधीन है। अर्जुन ने भी ( भ० गी० अ० ६। श्लो ३४ ) कहा है—

“चञ्चलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि बलवद्दृढम् ।  
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ”  
इत्येतद्वचनं हठयोगविषयम् । अतएव वसिष्ठ  
आह—

अर्थः—हे कृष्ण ! इन्द्रियों को क्षुब्ध करनेहारा विचारसं

जीतने के अयोग्य, दृढ अर्थात् विषय वासनाओं से दुर्भेद्य मन अत्यन्त ही चञ्चल है। वायु के समान इन को रोकना मँदुष्कर जानता हूँ ॥ ३४ ॥

यह वचन हठयोग सम्बन्धी है, अर्थात् हठयोग से मन का रोकना अत्यन्त कठिन है, इस अभिप्राय से यह वचन अर्जुन ने कहा है। इस अभिप्राय से वसिष्ठ जी भी कहते हैं कि—

“उपविश्योपविश्यैकचित्तकेन मुहुर्मुहुः ।

न शक्यते मनो जेतुं विना मुक्तिमनिन्दितम् ॥

अङ्कुशेन विना मत्तो यथा दुष्टमतङ्गजः ।

विजेतुं शक्यते नैव तथा युक्त्या विना मनः ॥

मनोविलयहेतूनां युक्तीनां सम्यगीरणम् ।

वसिष्ठेन कृतं तावत्तन्निष्ठस्य वशे मनः ॥

हठतो युक्तितश्चापि द्विविधो निग्रहो यतः ।

निग्रहो धीक्रियाक्षाणां हठो गोलकनिग्रहात् ॥

कदा चिज्जायते कश्चिन्मनस्तेन विलीयते ।

अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसङ्गम एव च ॥

वासनासम्परित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम् ।

एतास्मा युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल ॥

सतीषु युक्तिष्वेतासु हठान्नियमयन्ति ये ।

चेतस्ते दीपमुत्सृज्य विनिध्नन्ति तमोऽनैः ॥

विमूढाः कर्तुमुद्युक्ता ये हठाचेतसो जयम् ।

ते निबध्नन्ति नागेन्द्रमुन्मत्तं विसतन्तुभिः” इति ॥

अर्थः—चित्त के स्वभाव को जानने वाले पुरुष, विना उत्तम युक्ति प्राप्त किये, केवल बारंबार आसन पर बैठने से इस मन को नहीं जीत सकते जैसे महामत्त हाथी विना अङ्कुश के



वश में नहीं हो सकता, उसी प्रकार यह मन भी उत्तम युक्ति के बिना वश में नहीं आ सकता । मन को वश करने की ठीक-युक्तियाँ ऋषिष्ठ जी ने निरूपण कियी हैं अतएव उन युक्तियों के मान करने वाले पुरुष के मन स्वयमेव अधीन हो जाता है। मन का निग्रह ( रोकना ) दो प्रकार का है—एक हठ द्वारा दूसरा युक्ति द्वारा तहां (नेत्र आदिक ५ ज्ञान इन्द्रिय, और वाणी आदि पांच कर्म इन्द्रिय, ये दश इन्द्रिय) इन्द्रियों के गोलक मात्र के निरोध करने से ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों का जैसे हठ से निग्रह किया होता है वैसे ही कदाचित् इस मन का भी हठ से निग्रह होगा ऐसी भ्रांति मूढ़ पुरुष को होती है । अब युक्ति से निग्रह को कहते हैं । युक्ति ४ प्रकार की है एक तो अध्यात्म-विद्या की प्राप्ति, दूसरी महात्माओं का समागम, तीसरी वामनाओं का परित्याग, और चौथी प्राणों के स्पन्द का निरोध है । ये ही चार युक्तियाँ उस मन के निरोध के लिये उपाय हैं । इन चार युक्तियों के विद्यमान हुए भी पुरुष चित्त को बलात्कार से निग्रह करता वह पुरुष अन्धकार को हठाने के लिये दीपक का परित्याग कर अन्धकार को आज्ञा से निवृत्त करता है । जो मूढ़ पुरुष हठ से चित्त को जीतने का उद्यम करता है, वह मानो पगले हाथी को कमल के सूत से बान्धता है ??

निग्रहो द्विविधः हठनिग्रहः क्रमनिग्रहश्चेति ।  
चक्षुःश्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियाणि वाक्पाण्यादि-  
कर्मेन्द्रियाणि च तत्तद्गोलकोपरोधमात्रेण  
हठान्निगृह्यन्ते । तद्दृष्टान्तेन मनोऽपि तथा  
निग्रहीष्यामीति मूढस्य भ्रान्तिर्भवति, न तु  
तन्निगृह्यन्ते । तद्गोलकस्य हृदयकमलस्य नि-

रोद्धमशक्यत्वात् । अतः क्रमनिग्रह एव  
योग्यः ।

अर्थः—हठ निग्रह और क्रम निग्रह इन भांति दो प्रकार का निग्रह तहां चक्षु आदि ज्ञान इन्द्रियों का और वाणी आदि कर्मेन्द्रियों का उस २ इन्द्रिय के गोलक को ( इन्द्रियों के रहने की जगह ) व्यापार रहित करने से जैसे हठ से निरोध किया जा सकता, वैसे ही मन के गोलक का निरोध भी मैं कहूंगा ऐसी मूढ़ पुरुष को भ्रांति होती है परन्तु उस तरह मन का निरोध हो नहीं सकता । क्यों कि जैसे आंख मूंदने से नेत्रेन्द्रिय का निरोध हो सकता वैसे मन के गोलक हृदय कमलका निरोध नहीं किया जा सकता । अतएव मन के निग्रहार्थ क्रम निग्रह ही योग्य है ।

क्रमनिग्रहे चाध्यात्मविद्याप्राप्त्यादय उपायाः  
सा च विद्या दृश्यमिध्यात्वं दृग्बस्तुनः  
स्वप्रकाशत्वं च बोधयति तथाच सत्येतन्मनः  
स्वगोचरेषु दृश्येषु प्रयोजनाभावं प्रयोजन-  
वति दृग्बस्तुन्यगोचरत्वं च बुद्ध्या निरिन्धना-  
ग्निवत् स्वयमेवोपशाम्यति । तथा च श्रूयते ।

अर्थः—क्रम निग्रह के लिये अध्यात्मविद्या की प्राप्ति आदि उपायों को ऊपर कथन किया है । तिस में अध्यात्म विद्या दृश्य का मिथ्यापन और द्रष्टा का स्वयं प्रकाशपन को जतलाती है; ऐसा करने पर यह मन, अपना विषय दृश्य पदार्थ, जिस का अध्यात्म विद्या से मिथ्यारूप निश्चय किया है, उस के प्रति जाने को मुझे प्रयोजन नहीं तथा जिस के प्रति जाने को मुझे प्रयोजन नहीं तथा जिस के प्रति जाने की आवश्यक-



कता है, वह द्रष्टा रूप वस्तु मेरा विषय नहीं, इस भाँति समझ कर यह मन, जैसे काष्ठ आदिक के अभाव में अग्नि स्वयं शान्त हो जाता वैसे ही स्वयं शान्त हो जाता है। श्रुति भी कहती है—

“यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनानुपजाभ्यति ।

तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनानुपजाभ्यति”  
इति ।

अर्थः—जैसे इन्धन के न रहने पर अग्नि अपने कारण में शान्त हो जाता है, उसी भाँति वृत्ति के क्षय में चित्त आत्मा में शान्त हो जाता है ।

योनिरात्मा । यस्तु बोधितमपि तत्त्वं न सम्य-  
ग् बुध्यते यश्च विस्मरति तयोरुभयोः साधु-  
सङ्गम एवोपायः । साधवो हि पुनः पुनर्बो-  
धयन्ति स्मारयन्ति च । यस्तु विश्रामदा-  
दिदुर्वीसनया पीड्यमानो न साधूननुवर्ति-  
तुमुत्सहते तस्य पूर्वोक्तविवेकेन वासनार्पि-  
त्याग उपायः । वासनानामतिप्रायत्न्येन त्व-  
क्तुमशक्यत्वे प्राणस्पन्दनिरोधनमुपायः ।  
प्राणस्पन्दनवासनयोश्चित्तप्रेरकत्वाच्चयोर्नि-  
रोधे चित्तशानतिरूपपद्यते ।

प्रेरकत्वं च वसिष्ठ आह—

अर्थः—परन्तु जो जड़वृद्धिवाला होन में आनन्दतत्त्व का बोध कराने पर भी उस का ग्रहण नहीं कर सकता, तथा जो ग्रहण कर तुल्य उसे भूल जाता करता ऐसे पुरुष के मन के निग्रह के लिये सन्पुरुषों का समागम ही उपायरूप है । यों

कि द्वालु सन्पुरुष ऐसे जड़मानवाले को बारबार बोध कराने हैं, तथा आत्मा का स्मरण कराया करने हैं । जो पुरुष विश्राम, धन मद, ऐश्वर्यमद आदि दृष्ट वासनाओं में पीड़ित होने में सन्पुरुष की शरण में जा कर उन को, प्रणाम श्रद्धा आदि उपायों से प्रसन्न करने में असमर्थ होते ऐसे पुरुषों के लिये पूर्वोक्त विवेक में वासना का त्याग रूप उपाय है । वासनाओं की अति प्रबलता होने से उन को जो नहीं छोड़ सकता उन के लिये प्राण वायु का निरोध रूप उपाय है । प्राण की गति और वासनार्पे चित्तको वेग में प्रेरणा करती हैं, अत एव उन दोनों के निरोध करने से चित्त शान्ति को पाता है ।

गतिवाला प्राण और वासना मन को वेग में प्रेरणा करती हैं, ऐसा श्री वसिष्ठ जी कहते हैं—

“द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य वृत्तिव्रततिधारिणः ।

एकं प्राणपरिस्पन्दो द्वितीयं दृढवासना ॥

सती सर्वगता संवित्प्राणस्पन्देन बोध्यते ।

संवेदनादनन्तानि ततो हृदयानि चेतसः” इति ॥

अर्थः—हे रामचन्द्रजी ! आप में से प्राप्त हुई वृत्तिरूप आत्माओं को धारण करने वाले चित्तरूप वृक्ष के दो बीज हैं । एक प्राण की गति और दूसरा दृढ़ वासना ।

यथा भस्मच्छलमग्निं लोहकारा इतिभ्यां ध-  
मन्ति तत्र च दहन्युत्पन्नवायुना सोऽग्निश्चैतन्नि  
तथा चित्तोपादानेन काष्ठस्थानीयेन ज्ञानेना-  
ऽऽवृता संवित्प्राणस्पन्देन बोध्यमाना चित्त-  
वृत्तिरूपेण प्रज्वलति । तस्माच्चित्तवृत्तिनाम-  
कात् संविद्वान्द्वारुपात् संवेदनादुदुग्मा-



न्युत्पद्यन्ते मेयं प्राणस्पन्देन प्रेरिता चित्तो-  
त्पत्तिः । अन्यांच स एवाऽऽह—

अर्थः—चित्त का उपादान ( बीज ) कारण रूप अविद्या  
से टूटा हुआ सर्वगत चैतन्य प्राण के वेग से प्रकट होता है ।  
उस के प्रकट होने से चित्त में से दुःख उत्पन्न होता है । अर्थात्  
जैसे भस्म से टूटे हुए अग्नि को लुहार धौकनी से धौकता है,  
तब धौकनी से उत्पन्न वायु से अग्नि में ज्वाला उत्पन्न होती है,  
उसी प्रकार काट के समान चित्त का उपादान कारण रूप  
अज्ञान से आवृत चैतन्य प्राण वायु से स्फुट हो चित्तवृत्ति रूप  
से जला करता । उस चित्त संवित् नाम की ( अज्ञानावृत चै-  
तन्य ) की ज्वाला रूप आग से अनेक दुःख उत्पन्न होते हैं ।

इस भान्ति प्राण की गति द्वारा प्रेरित चित्त की उत्पत्ति  
बतलायी गयी । वासनाजन्य चित्त की उत्पत्ति का भी श्री व-  
सिष्ठ मुनि कथन करते हैं—

“भावसंचित्प्रकटितामनुभूतां च राघव ? ।

चित्तस्योत्पत्तिमपरां वासनाजनितां शृणु ॥

दृढाभ्यस्तपदार्थकभाचनादतिचञ्चलम् ।

चित्तं सञ्जायते जन्मजरामरणकारणम्” इति ॥

न केवलं प्राणवासनयोश्चित्तप्रेरकत्वं किं तु  
परस्परप्रेरकत्वमप्यस्ति । तदाह वसिष्ठः—

अर्थः—हे रामचन्द्रजी ! पदार्थ के ज्ञान से प्रकट हुए,  
अनुभव में आये हुए, चित्त की दूसरी वासनाजन्य उत्पत्ति  
का तुम श्रवण कर्ते दृढता से संवित विषय की वासना से जन्म,  
बुढ़ापा, और मरण का कारण इस भान्ति अति चञ्चल चित्त  
उत्पन्न होता है ।

केवल प्राण और वासना ही चित्त को प्रेरणा करनेवाले  
नहीं हैं प्रत्युत वे दोनों भी परस्पर एक दूसरेको प्रेरणा करते हैं ।  
इसी प्रकार वसिष्ठ जी भी कहते हैं—

“वासनावशतः प्राणस्पन्दस्तेन च वासना ।

क्रियते चित्तबीजस्य तेन बीजाङ्कुरक्रमः” इति ॥

अतएवान्यतरनाशेनोभयनाशमप्याह ।

अर्थः—वासना के अधीन प्राण की गति है, और प्राण  
के गति के कारण वासना फुरती है, इस भान्ति चित्त के बीज  
रूप वासना और प्राणव्यापार का बीजाङ्कुर के समान क्रम है ।  
इसी कारण दोनों में से एक के नाश होने से दूसरे का नाश  
हो जाता ऐसा वसिष्ठ जी कहते हैं—

“द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य प्राणस्पन्दवासने ।

एकस्मिँश्च तयोः क्षीणे चिप्रं द्वे अपि नश्यत” इति ॥

तयोर्नाशोपायं नाशफलं चाऽऽह—

अर्थः—गतिवाला प्राण और वासना ये दोनों चित्तरूपी  
वृक्ष के बीज हैं । इन दोनों में से एक का क्षय होने से तत्काल  
दोनों का क्षय हो जाता है ॥

इन दोनों के नाश का उपाय और नाश के फल को श्री  
वसिष्ठ जी कहते हैं—

“प्राणायामदृढाभ्यासैर्युक्त्या च गुरुदत्तया ।

आसनाशनयोगेन प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥

असङ्गव्यवहारित्वाद्भवभावनवर्जनात् ।

शरीरनाशवर्तित्वाद्वासना न प्रवर्तते ॥

वासनासंपरित्यागाच्चित्तं गच्छत्यचित्तताम् ।

प्राणस्पन्दनिरोधाय यथेच्छमि तथा कुरु ॥



एतावन्मात्रकं मन्ये रूपं चित्तस्य राघव ? ।  
 यद्भावने वस्तुनोऽन्तर्वस्तुत्वेन रसेन च ॥  
 यदा न भाव्यते किञ्चिद्वेयोपादेयरूपि यत् ।  
 स्थायते सकलं त्यक्त्वा तदा चित्तं न जायते ॥  
 अवासनत्वात्सततं यदा न मनुते मनः ।  
 अमनस्ता तदोदेति परमोपशमप्रदा” इति ॥  
 अमनस्तानुदये शान्त्यभावमाह—

अर्थः—प्राणायाम के दृढ अभ्यास से, श्रीसद्गुरु से प्राप्त  
 कियी हुई युक्ति द्वारा आमन जय और नियमित आहार से  
 प्राण की गति रोकी जा सकती है, निःसङ्ग व्यवहार से जगत् से  
 सत्यत्व बुद्धि को त्यागने से और शरीर के विनाशपन को  
 बार २ स्मरण करने से दुष्ट प्राण की गति के निरोध से चित्त  
 अचित्तपन को प्राप्त होता है । अतएव हे राम ! इन दो उपायों  
 के करने की इच्छा हो तो करो । किसी भी पदार्थ को मन्त्र  
 मानकर उस को सेवन करना यही चित्त का स्वरूप है, इस  
 भाँति मैं मानता हूँ यह वस्तु तो सुख का हेतु है, इस लिये यह  
 तो ग्रहण करने योग्य है, और यह तो सुख का हेतु नहीं है  
 इस लिये अग्राह्य है इस प्रकार जब किसी पदार्थ विषय  
 ग्राह्य अग्राह्यकी भावना न हो ऐसा ही जब सब अनान्य वस्तुओं  
 के त्याग से रह सकता है तब चित्त का उदय नहीं होता  
 चित्त निर्वामन होने से जब मङ्गल्य विकल्प नहीं करता तब  
 मनस्कता का उदय होता है जो परमशान्ति को देनेवाला है  
 जब तक मन का अपनभाव नहीं होता तब तक शान्ति  
 नहीं होती, ऐसा वसिष्ठ जी कहते हैं—

“चित्तयश्चदृढाक्रान्तं न मित्राणि न बान्धवाः ।

शक्नुवन्ति परित्रातुं गुरवो न च मानवा” इति ॥

अर्थः—जिस पुरुष को चित्तरूपी यक्ष ने अपने अधीन  
 कर रक्खा है, उस पुरुष की रक्षा मित्र, बान्धव, माता, पिता,  
 आदि गुरुजन और अन्य मनुष्य भी नहीं कर सकते अर्थात्  
 हम में से कोई भी उस की रक्षा करने में समर्थ नहीं है ।

आसनाशनयोगेनेति यदुक्तं तत्राऽऽसनस्य  
 लक्षणमुपायं फलं च त्रिभिः सूत्रैः पतञ्जलिः  
 सूत्रयामास ।

अर्थः—इस के पहिले आसन जय और नियमित आहार  
 प्राण जय का कारण रूप से गिना गया है । उस में से आसन  
 का लक्षण और उन का उपाय पतञ्जलि मुनि ने तीन सूत्रों  
 द्वारा कहा—

“स्थिरसुखमासनम्” “प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमा-  
 पत्तिभ्याम्” “ततो ह्यन्धानभिघातः” इति ॥

अर्थः—जिस प्रकार बैठने में शरीर के अवयवों को व्यथा  
 न हो और शरीर स्थिर रहे उस का नाम “आसन” है लौकिक  
 कार्यों के लिये प्रयत्न की शिथिलता और शेष की धारणा से  
 आमन जय सिद्ध होता है । आमन सिद्धि के बाद सुखदुःख  
 का नाश होता है ।

पदुसकस्वस्तिकादिना यादृशेन देहस्थापनरू-  
 पेण यस्य पुरुषस्यावयवव्यथानुत्पत्तिल-  
 क्षणं सुखं देहचलनराहित्यलक्षणं स्थैर्यं च  
 सम्पद्यते तस्य तदेव मुख्यमासनम् । तस्य च  
 प्रयत्नशैथिल्यं लौकिक उपायः । गमनगृहकृ-  
 त्यतीर्थयात्रास्नानयागहोमादिविषयाः यः



प्रयत्नो मानस उत्साहस्तस्य शैथिल्यं कर्त-  
व्यम् । अन्यथा स उत्साहो बलाद्देहमुत्था-  
प्य यत्र कापि प्रेरयति । अलौकिकोपायश्च  
फणासहस्रेण धरणीं धारयित्वा स्थैर्येणाव-  
तिष्ठते योऽयमनन्तः स एवाहमस्मीति ध्यानं  
चित्तस्थानन्ते समापत्तिः । तथा यथोक्तास-  
नसम्पादकमदृष्टं निष्पद्यते । सिद्धे चाऽऽस-  
ने शीतोष्णसुखदुःखमानामानादिद्वन्द्वैर्यथा  
नाभिहन्यते तथाविधस्य चाऽऽसनस्य योग्यो  
देशः श्रूयते ।

अर्थः—शरीर को स्थापन करनेवाला पद्मक स्वामि  
आदि जैसे आसन से जिस पुरुष को अवयव में व्यथा न होने-  
रूप सुख होता, तथा देह के अवलपन रूप स्थिरता प्राप्त होती  
है, उस पुरुष को वह मुख्य आसन समझना । इस आसन को  
स्थिर होने का लौकिक उपाय व्यावहारिक कार्यों में प्रयत्न-  
हित होना है । गमन, गृहकृत्य, तीर्थयात्रा, स्नान, याग, और  
होमादि विषय सम्बन्धी जो प्रयत्न अर्थात् मानस उत्साह उन  
की शिथिलता करनी योग्य है । जो व्यावहारिक कार्य में उ-  
त्साह रहित न होय तो, यह उत्साह उसे बलात्कार से उठा का  
जहां कहीं प्रेरणा करती है । 'शेष नाग जो' अपनी शरीर-  
फणाद्वारा पृथिवी को धारण कर स्थिरता से ठहरे हैं, वह भी  
भगवान् में हैं इस प्रकार का ध्यान यह आसन जय का अलौ-  
किक उपाय है । इस उपाय के करने से आसन स्थिर करने  
में समर्थ जीव का अदृष्ट उत्पन्न होता है । आसन सिद्ध होने में  
शीत, उष्ण, सुख, दुःख, मान, अपमान आदि द्वन्द्वधर्मों से आ-

न जय करने वाले पुरुष पूर्व के समान पीड़ित नहीं होता । ऐसे  
आसन के लिये योग्य स्थल भी श्रुति कहती है—

"विविक्तदेशे च सुखासनस्थः शुचिः सम-  
ग्रीवशिरःशरीरः" इति ।

"समे शुचौ शर्करवहिवाल्मुकाविवर्जिते श-  
ब्दजलाशयादिभिः ॥

मनोऽनुकूले नतु चक्षुःपीडने गुहानिवाताश्र-  
यणे प्रयोजयेत्" इति च ॥

सोऽयमासनयोगः । अशनयोगस्तु मिताहारत्वम् ।

अर्थः—सम, पवित्र, कङ्कड, अग्नि, और बालू से रहित,  
कोलाहल तथा जिस की खलखलाहट की आवाज होती हो  
ऐसे जलाशय से रहित, मन के अनुकूल और मच्छर से रहित,  
ऐसा निर्जन गुहा आदिक निर्वात स्थान में आराम से बैठ कर,  
जिस ने गर्दन सीधा, मस्तक और शरीर सीधा रक्खा है  
ऐसे पवित्र पुरुष को योगाभ्यास का आरम्भ करना चाहिये ।  
इस प्रकार आसन योग का कथन किया है । अब अशन ( भो-  
जन ) योग अर्थात् मिताहार का कथन करते हैं ।

"अत्याहारमनाहारं नित्यं योगी विवर्जयेत्"  
इति श्रुतिः ।

भगवताऽप्युक्तम् ।

अर्थः—अति आहार और उपवास योगी नित्य ही, सा-  
गरे ऐसा श्रुति का वचन है । भगवान् ने भी कहा है—

"नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।

न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।



युक्तस्वभावसंभरणं योगं भवति दुःखहा”  
इति ॥

विशेषतः प्राणायामेन मनोविनाशः भव-  
ता नारीसम्भावते ।

अर्थ—इ योगी जो अधिक भोजन करता या भोजन का  
न्यूनयोग्याय करता है, जो बहुत सोया करता है या जागता है  
रहता है उस को योग नहीं प्राप्त होता है । उचित आहार और  
विचार से रहता है, कर्मों में योग्य सीति से वर्तता है और योग्य  
काष्ठ में सोता एवं जागता है उस पुरुष का योगाभ्यास उस  
के दुःख का विनाश देता है । जिस ने आसन का जप किया है,  
उस के मन का नाश प्राणायाम से होता है ऐसा श्रुताम्ब-  
रसास्वाध्यायी कहते हैं—

“ विरुद्धं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि  
मनसा संनिवेद्य ।

ब्रह्मादृपेन प्रतरंत विद्वान् सोतांश्च सर्वाणि  
भगवद्भानि ।

प्राणान्प्रपीड्येह स युक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे ना-  
सिकपोः श्वसीत ।

दुष्टाश्वमिव बाहमेनं विद्वान्मनो धारये-  
ताप्रमत्तः” इति ।

अर्थ—हृदय, गर्दन, और मस्तक जिस में ऊंचे रहें इस भा-  
वि शरीर को समान रख मन सहित इन्द्रियों को हृदय में सं-  
निविष्ट कर विद्वान् पुरुष, प्रणव रूप जीका पर सवार हो  
सार नदी के भय देनेवाले सब प्रवाहों को पार कर जाता  
है, युक्त चेष्टा वाले उस पुरुष को प्राणायाम कर प्राण क्षीण

न प्राप्त हो, तब २ धीरे २ नासिका से प्राण को बाहर कर-  
ना चाहिये ( वास बाहर करे ) बदगास घोंडे वाले सारथी के  
मान विद्वान् पुरुष भावधानता से मन को बश में करे ॥

योगी द्विविधः विद्यामदायासुरसम्पत्ति-  
तस्तत्सहितश्चेति । तयोराशस्य ब्रह्मध्याने-  
न मनसि निरुद्धे सति तन्मन्तरीयकतया  
प्राणो निरुध्यते । तं प्रति विरुद्धतमिति मन्त्रः  
पठितः । द्वितीयस्याभ्यासेन प्राणे निरुद्धे त-  
न्मन्तरीयकतया मनो निरुध्यते तं प्रति प्राणा-  
न्प्रपीड्येति मन्त्रः प्रवृत्तः । प्राणपीडनप्रका-  
रो वक्ष्यते । तेन च पीडनेन युक्तचेष्टो भवति ।  
मनश्चैष्टाविद्यामदादयो निरुध्यन्ते प्राणानिरो-  
धेन चित्तदोषे निरोधे दृष्टान्तोऽन्यत्र श्रूयते ।

अर्थ—विद्यामदादि आसुरी सम्पत्ति रहित और आसु-  
री सम्पत्ति युक्त यों दो प्रकार के योगी होते हैं उनमें से प्र-  
थम आसुरी सम्पत्ति रहित योगी जब ब्रह्म के ध्यान से मन-  
का निरोध कर चुकता, ‘तब उस के प्राण का भी स्वयं निरोध  
हो जाता है । क्योंकि कि मन और प्राण सदा साथ ही रहता है  
इस प्रकार के योगी को उद्देश कर—“विरुद्धत” मन्त्र पढ़ा है,  
और दूसरा जो आसुरी सम्पत्ति युक्त योगी है, उस से पहिले  
मनका निरोध नहीं हो सकता, अत एव जब वह प्राणायाम के  
अभ्यास से प्राण का निरोध करता, तब उसका मन स्वयं निरोध  
को प्राप्त होता है इस योगी को उद्देश कर “प्राणान्प्रपीड्य” यह  
मन्त्र पढ़ा है । प्राणायाम का प्रकार आगे कहेंगे । प्राणायाम  
में अधिकारी का शरीर इन्द्रिय का व्यापार नियम में आ जाता



है। विधामद आदि को मन का व्यापार भी शान्त हो जाता है। प्राण के निरोध से चित्त के दोष का निरोध होनेमें दृष्टान्त श्रुति में इस प्रकार है—

“यथा पर्वतधातूनां दहन्ते दहनान्मलाः ।  
तथेन्द्रियकृता दोषा दहन्ते प्राणनिग्रहात्” इति ॥  
अत्रोपपत्तिर्वसिष्ठेन दर्शिता—

अर्थः—जैसे पर्वत में से निकले हुए सुवर्ण आदि धातुओं के तपाने से उन का मल जर जाता है, उसी भांति प्राण के निग्रह से इन्द्रिय और मन का दोष जर जाता है।

प्राण के निरोध से मन का निरोध होने में युक्ति श्री व. सिष्ठ जी ने दिखलायी है—

“यः प्राणपवनस्पन्दश्चित्तस्पन्दः स एव हि ।

प्राणस्पन्दक्षये यन्नः कर्तव्यो धीमतोच्चकैः” इति ॥

अर्थः—जैसे प्राण वायु का स्पन्दरूप व्यापार है वही मन का व्यापार है। इस लिये बुद्धिमान् पुरुष प्राण वायु के निग्रह के लिये उत्कृष्ट यत्न करे।

मनोवाक्चक्षुरादीन्द्रियदेवताः स्वस्वव्यापारं  
करिष्याम इति व्रतं धृत्वा श्रमरूपेण मृत्युना  
ग्रस्ताः । स च मृत्युः प्राणं नाऽऽप्नोत् । ततो  
निरन्तरमुच्छ्वासनिःश्वासौ कुर्वन्नपि प्रा-  
णो न श्राम्यति । तदा विचार्य देवताः प्रा-  
णरूपं प्राविशन् । सोऽयमर्थो वाजसनेयिभि-  
राम्नायते—

अर्थः—मन, वाणी, चक्षु आदि इन्द्रियों को देवाण  
“स्वयं अपना २ व्यापार निरन्तर करेंगे” ऐसा व्रत धारण का

मैं वे श्रमरूप मृत्यु अधीन होते, अर्थात् श्रम के वशतः उन का व्यापार बन्द हो जाता है। परन्तु वह श्रमरूप मृत्यु, प्राण को नहीं पहुँच सकता है। इससे प्राणवायु निरन्तर श्वा-  
सोच्छ्वासरूप व्यापार करता हुआ भी नहीं थकता तब चक्षु  
आदिक के देवगण विचार कर प्राण में प्रवेश कर गये यह अर्थ  
बृहदारण्यक उपनिषद् में कथन किया है—

“अयं वै नः श्रेष्ठो यः सञ्चरंश्चासञ्चरंश्च न  
व्यथते यो न रिष्यति हन्तास्यैव सर्वे रूपम-  
सामेति एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्तस्मादेत  
एतेनाऽऽख्यायन्ते प्राणाः” इति ॥

अर्थः—मन और नेत्र आदि इन्द्रियों ने विचार किया कि  
यह प्राण हम में श्रेष्ठ है जो सांस लेने रूप व्यापार करने पर  
पीडा नहीं अनुभव करता, हम और नाश को भी नहीं प्राप्त  
होता, इस लिये सब प्राण रूप हुए। प्राणरूप हुए इस कारण  
से मन इन्द्रियादि सब प्राण ही कहलाते हैं।

अत इन्द्रियाणां प्राणरूपत्वं नाम प्राणाधी-  
नचेष्टावत्त्वम् । तच्चान्तर्धामित्रात्मणे सूत्रा-  
त्मप्रस्तावे श्रूयते—

अर्थः—प्राण के अधीन अपने व्यापार के होने से इन्द्रियां  
प्राण कहलाती हैं, यह बात अन्तर्यामि ब्राह्मण में “सूत्रात्मा”  
के प्रसङ्ग में कही गयी है—

“वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम  
सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च  
भूतानि सदृशानि भवन्ति । तस्मादे गौतम !  
पुरुषं प्रेतमाहुर्व्यसं सिद्धतास्याङ्गीनीति । वा-



युना हि गीतम सूत्रेण संदृग्धानि भवन्ति”  
इति ॥

अर्थ:—हे गीतम ! वायु ही सूत्र है । इस वायुरूप सूत्र द्वारा यह लोक परलोक और प्राणीगण बन्धे हुए हैं । इसी लिये ( मरने पर ) 'इस के अङ्ग शिथिल हो गये' इस भांति पुरुष को कहते हैं । हे गीतम ! वायुसे ही शरीर के सब अङ्ग परस्पर सङ्गठित हैं ।

अतः प्राणस्पन्दनयोः सहभाषित्वात्प्राणनि-  
ग्रहे मनो निगृह्यते ।

अर्थ:—प्राण और मन की गति सदा साथ रहती है इस लिये प्राण के निग्रह करने से मन का निग्रह होता है ।

ननु सह स्पन्दो न युक्तः सुषुप्तौ चेष्टमाने  
ऽपि प्राणे मनसोऽचेष्टमानत्वात् ॥

अर्थ:—शङ्का,—मन और प्राण की साथ गति का होना सम्भव नहीं होता क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में प्राण गति वाला होने पर भी मन व्यापार रहित होता है ।

न । विलीनत्वेन तदानीं मनस एवाभावात् ।

अर्थ:—समाधान—इस समय मन के लय को प्राप्त होने पर मन का ही अभाव है इस लिये यह शङ्का सम्भाव नहीं ।

ननु क्षीणे प्राणे नासिकयोः श्वसीतेति व्या-  
हतम् । नहि क्षीणप्राणस्य मृत्तस्य श्वासं क-  
चित् पश्यामः । नापि श्वसतो जीघतः प्राण  
क्षयोऽस्ति ।

अर्थ:—शङ्का, प्राणक्षीण होने पर नाक से सांस लेने पर परस्पर विरुद्ध है क्योंकि मरे हुए मनुष्यका प्राण श्वस को

हो जाता है परन्तु उस के श्वास हम कभी नहीं देखते हैं । उसी भांति जीवित मनुष्य जो श्वास लेता है उस के प्राण का क्षय होता नहीं इसलिए पुरोक्त श्रुति वचन में परस्पर विरोध आता है ।

मैवम् । अनुत्पणत्वस्य क्षयत्वेनात्र विवक्षि-  
तत्वात् । यथा खननच्छेदनादिषु व्याप्रिय-  
माणस्य पर्वतमारोहनः शीघ्रं धावतो वा  
श्वासवेगोयावान् भवति न तावांस्त्वव-  
स्थितस्याऽऽसीनस्य वा विद्यते । तथा प्रा-  
णायामपाटवोपेतस्य तस्याल्पः श्वासो  
भवति । एतदेवाभिप्रेत्य श्रूयते ।

अर्थ:—समाधान—वेग की आति मन्दता होनी यह प्राण-  
का क्षय है इस स्थल में समझना । जैसे खोदने में या काटने में  
लगे हुए मनुष्य का श्वास जितना वेगवाला होता, उसी प्रकार  
पर्वत पर चढ़ने वाले, या दौड़ते हुए मनुष्य का श्वास जितना  
वेगवाला होता, उतना खड़े या बैठे हुए मनुष्य का श्वास वेग-  
वाला नहीं होता, उसी भांति प्राणायाम में कुशलता पाये हुए  
पुरुष का श्वास इस्से भी न्यून वेगवाला होता है । इसी अभि-  
प्राय से श्रुति में कहा है—

भुत्वा तन्नाऽऽयतप्राणः शनैरेव समुच्छ्वसेत्”  
इति ।

अर्थ:—प्राण को नियम में लाने के लिये धीरे २ सांस लेवे ।  
यथा दुष्टैरश्वैरुपेतो रथो मार्गं त्यक्त्वा यत्र  
कापि नीयते स च सारथिना दृढमेव रज्जु-  
ष्वकृष्य मार्गेषु पुनर्धार्यते तथेन्द्रियैर्वासना-



दिभिरितस्ततो नीयमानं मनः प्राणरज्जौ दृढं  
धारितायां धार्यते । प्राणान्प्रपीड्येति यदुक्तं  
तत्र प्राणपीडनप्रकारोत्र श्रूयते—

अर्थः—जैसे बरसात घंटों में जुता हुआ गन्ध अपने गन्ध  
को छोड़ कर उधर उधर घसीटा जाता है । परन्तु मास्यी क-  
गाम द्वारा उन घंटों को बलान्कार से खींच कर फिर गन्ध को  
गन्ध पर लाता है इसी भांति इन्द्रियां वामना द्वारा मन को  
उधर उधर विषयों में घसीटती हैं । परन्तु जो प्राण रूषी ल-  
गाम को खींच रक्खा हो तो, वह मन किसी विषय में जा नहीं  
सकता । प्राणायाम का प्रकार अन्य श्रुतियों में कथन किया है—

“सव्याहृति सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह ।  
त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणामामः स उच्यते ॥  
प्राणायामास्त्रयः प्रोक्ता रेचकपूरककुम्भकाः ।  
उत्तिष्ठन् वायुमाकाशं शून्यं कृत्वा निरात्मकम् ॥  
शून्यभावेन युञ्जीयाद्रेचकस्येतिलक्षणम् ।  
वक्रेणोत्पलनालेन तोयमाकर्षयेन्नरः ॥  
एष वायुर्ग्रहीतव्यः पूरकस्येतिलक्षणम् ।  
नोच्छ्वसन् च निःश्वासेनैव गात्राणि चालयेत् ।  
एवं तावन्नियुञ्जीत कुम्भकस्येतिलक्षणम्” ॥  
इति ॥

अर्थः—प्रणव व्याहृति और शिरोमन्त्र इन सब के सहि-  
त गायत्री को प्राण गति रोक कर तीन बार पठे इसी को प्रा-  
णायाम कहते हैं ॥ पूरक, कुम्भक और रेचक इस भांति ३ प्र-  
कार का प्राणायाम होता है । शरीरस्थित वायु को बाहर  
निकालना वायु को उंचा चढ़ा कर शरीर गत आकाश को वा-

यु रहित कर उस ( वायु ) को पुनः जरा भी शरीर में जाने  
द्वारा बिना शरीर को यथाशक्ति वायु रहित रखना इस को रे-  
चक प्राणायाम कहते हैं । जैसे कोई कमल के दण्ड के एक  
छोर को पानी में रख कर और दूसरे छोर को अपने मुख में  
रख पानी को खींचता है उसी भांति नासिका के छिद्र द्वा-  
रा बाहर के वायु को भी तब खींचना इस को पूरक प्राणा-  
याम कहते हैं, श्वास उच्छ्वास न लेवे और शरीर के अवयवों  
को न हिलाता हुआ वायु को रोक रखना इस को कुम्भक  
प्राणायाम कहते हैं ।

अत्र शरीरान्तर्गतं वायुं बहिर्निःसारयितु-  
मुत्तिष्ठन् शरीरमाकाशं शून्यं निरात्मकं वा-  
युरहितं कृत्वा स्वरूपमपि वायुमप्रवेद्य शून्य-  
भावेनैव नियमयेत् । तदिदं रेचकं भवति ।  
कुम्भको द्विविधः । आन्तरो बाह्यश्च । तदुभ-  
यं वसिष्ठ आह ।

अर्थः—शरीर में के वायु को बाहर निकालने के लिये  
शरीर को खींचे, शरीर गत आकाश को वायु से खाली कर  
रखे और बाहर से वायु को भीतर न आने दे । इस को रे-  
चक प्राणायाम कहते हैं । कुम्भक प्राणायाम दो प्रकार का है  
एक आन्तर कुम्भक, दूसरा बाह्य कुम्भक है । इन दोनों का  
वसिष्ठ जी ने कहा है—

“अपानेऽस्तं गते प्राणो यावन्नाभ्युदितो हृदि ।  
तावत्सा कुम्भकावस्था योगिभि र्याऽनुभूयते ॥  
बहिरस्तं गते प्राणो यावन्नायन उद्गतः ।  
तावत्पूर्णा समावस्था बहिष्ठं कुम्भकं विदुः” इति ॥



अर्थ:—अपान वायु के शान्त होने पर जब तक प्राण वायु का हृदय देश में उदय नहीं होता तब तक “आन्तरकुम्भक” अवस्था कहलाती है इसी अवस्थाक अनुभव योगी जन करते हैं। बाहर प्रदेश में प्राण वायु के शान्त होने पर जब तक अपान का उदय नहीं होता है तब तक पूर्ण और ‘सम’ अर्थात् निःश्वास, उच्छ्वास रूप व्यापार रहित प्राण की अवस्था है, इस को बाह्य कुम्भक कहते हैं—

तत्रोच्छ्वास आन्तरकुम्भकविरोधी, निःश्वासो बाह्यकुम्भकविरोधी, गात्रचालनमुभयविरोधी, तस्मिन्सति निःश्वासोच्छ्वासयोरन्यतरस्यावश्यम्भावित्वात् । पतञ्जलिरप्यास-नानन्तरभाविनं प्राणायामं सूत्रयामास ।

अर्थ:—उच्छ्वास आन्तरकुम्भक का विरोधी है, निःश्वास बाह्य कुम्भक का विरोधी है । और शरीर का हिलाना दोनों कुम्भक का विरोधी है । क्यों कि जो शरीर चलायमान हो तो निःश्वास या उच्छ्वास में से एक एक हुए बिना न रहे । श्रीपतञ्जलि भगवान् ने भी आसन जय होने के पीछे अवश्य कर्तव्य प्राणायाम का निरूपण सूत्र द्वारा किया है—

“तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः” इति ॥

अर्थ:—आसन जय के अनन्तर निःश्वास और उच्छ्वास की गति को जो अवरोध होता है उसे ‘प्राणायाम’ कहते हैं ।

ननु कुम्भके गत्यभावेऽपि रेचकपूरकयोश्चोच्छ्वासनिःश्वासगती विद्येते इति चेन्न ।

अर्थ:—यद्यपि कुम्भक में प्राण की गति नहीं । परन्तु

रेचक पूरक में तो प्राण की गति है, इस लिये रेचक और पूरक को प्राणायाम नाम कैसे होगा ?

अधिकमात्राभ्यासेन स्वभावसिद्धायाः सम-प्राणगतेर्विच्छेदात् । तमेवाभ्यासं सूत्रयति ।

अर्थ:—अधिक मात्राओं से अभ्यास करने से स्वाभाविक जो प्राण की गति है, सो न्यून वेगवाली हो जाती है । इस अभ्यास को श्री पतञ्जलि भगवान् सूत्रों द्वारा कहते हैं ।

“बाह्याऽभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्दशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः” इति ।

अर्थ:—बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति, और स्तम्भवृत्ति ये तीन प्रकार के प्राणायाम हैं । जो देश, काल, और मात्रा की संख्या से दीर्घ और सूक्ष्म प्रतीत होते हैं ।

रेचको बाह्यवृत्तिः । पूरक आन्तरवृत्तिः । कुम्भकः स्तम्भवृत्तिः । तत्रैकैको देशादिभिः परीक्षणीयः ।

अर्थ:—बाह्यवृत्ति प्राणायाम को रेचक कहते आभ्यन्तरवृत्ति प्राणायाम को पूरक और स्तम्भवृत्ति प्राणायाम को कुम्भक कहते हैं । तिनमें से हर एक प्राणायाम की पथार्थ सिद्धि के लिये देश, काल और मात्रा की परीक्षा करनी योग्य है ।

तद्यथा स्वभावसिद्धे रेचके हृदयाभिर्गत्य नासाग्रसंमुखे द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते श्वासः समाप्यते । अभ्यासेन तु क्रमेण नाभेराधाराद्वा वायुर्निर्गच्छति । चतुर्विंशत्यङ्गुलपर्यन्ते षट्त्रिंशदङ्गुलपर्यन्ते वा समाप्तिः । अत्र रेचके



प्रयत्नातिशये सति नाभ्यादिप्रदेशक्षोभे-  
णान्तर्निश्चेतुं शक्यम् । बहिस्तु सूक्ष्मं नृत्वं  
पृथ्वा तच्चालनेन निश्चेतव्यम् । सेवं देशपरीक्षा ।

अर्थः—यह इस प्रकार है कि मनुष्य को अभ्यास विना  
स्वाभाविक रेचक होता है, उस समय प्राण वायु हृदय में से  
उठ कर नाक के छेद से बाहर निकल कर १२ अङ्गुल पर  
शान्त हो जाता है । और भली भान्ति अभ्यास करने से क्र-  
मशः नाभि से या मूलाधार से प्राण उठ कर नासिका से बा-  
हर के सामने प्रदेश में नाक से २४ अङ्गुल या ३६ अङ्गुल तक  
जा कर वहां शान्त होता है । रेचक प्राणायाम में जब  
अधिक प्रयत्न होता है, तब अन्तर में नाभि आदि देश के क्षोभ  
से उस स्थान से प्राण उठता है, ऐसा निश्चय होता है ।  
और बाह्य देश में नाक से २४ अङ्गुल या ३६ अङ्गुल दूर पर  
नाक के सामने बारीक कपास ( रुई ) रखे और जब मांस  
लेने से वह हिले तो जानना कि उस जगह पवन समाप्त होता  
है । ऐसा निश्चय होता है और इसी को देश परीक्षा कहते हैं ।

रेचककाले प्रणवस्याऽऽवृत्तयो दशविंशति-  
त्रिंशदित्यादिकालपरीक्षा । अस्मिन्मासे  
प्रतिदिनं दश रेचका, आगामिमासे विंश-  
तिः, उत्तरमासे त्रिंशदित्यादि कालपरी-  
क्षाभिः । संख्यापरीक्षा यथोक्तदेशकालविशि-  
ष्टाः प्राणायामा एकस्मिन्दिने दश विंशति-  
त्रिंशदित्यादिभिः संख्यापरीक्षा । पूरके-  
ऽप्येवं योजनीयम् । यद्यपि कुम्भके देश-  
ध्याप्तिविशेषो नावगम्यते तथाऽपि कालसं-

सङ्ख्याव्याप्तिरवगम्यत एव । यथा घनीभूत-  
स्तूलपिण्डः प्रसार्यमाणो दीर्घोऽदुर्लक्ष्यतया सू-  
क्ष्मश्च भवति तथा प्राणोऽपि देशकालसङ्-  
ख्याधिक्येनाभ्यस्यमानो दीर्घोऽदुर्लक्ष्यतया  
सूक्ष्मश्च सम्पद्यते । रेचकादिभ्यास्त्रिभ्योऽन्यं  
प्रकारं सूत्रयति ।

अर्थः—रेचक समय प्रणव की दश आवृत्ति हो बीस आ-  
वृत्ति हो ३० आवृत्ति हो इत्यादि क्रम से काल की परीक्षा  
करके इसी प्रकार रेचक इस मास में प्रति दिन दश हो  
उसके बाद दूसरे मास में प्रतिदिन बीस करे फिर ३रे महीने  
में प्रति दिन ३० करे इत्यादि क्रम से सङ्ख्या परीक्षा करे ।  
पूरक में भी इसी तरह समझ लेना । यद्यपि कुम्भकमें देशपरी-  
क्षा बन नहीं सकती तथापि कालपरीक्षा और सङ्ख्यापरीक्षा  
हो सकती है जैसे ओटी हुई रुई की गोली चरखीमें कात नेसे  
बहुत बारीक जो, देखनेमें न आवे और लम्बी हो जाती है ।  
उसीतरह प्राण भी अधिक देश, अधिक संख्या के अ-  
भ्यास करने से लम्बा और बहुत ही सूक्ष्म ही जाता है । रेच-  
क आदिक त्रिविध प्राणायाम से भिन्न अन्य प्राणायाम को  
भगवान् पतञ्जलिने सूत्र द्वारा कहा—

“वाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः” इति ।  
यथाशक्ति सर्वं वायुं विरचयानन्तरं क्रि-  
यमाणो बहिष्कुम्भको यथाशक्ति वायु-  
मापूर्यान्तरं क्रियमाणोऽन्तःकुम्भक इति  
रेचककुम्भकावनादृत्य केवलः कुम्भकोऽ-  
भ्यस्यमानः पूर्वत्रयापेक्षया चतुर्थो भवति ।



निद्रातन्त्रादिप्रबलदोषप्रयुक्तानां रेचकादि-  
प्रथमम् । दोषरहितानां चतुर्थं इति विवेकः ।  
प्राणायामफलं सूत्रयति ॥

अर्थः—“जिस में बाह्य विषय और आभ्यन्तर विषयों का  
परित्याग हो वह चौथा प्राणायाम है”

यथा शक्ति कोष्ठ में के सारे वायु को नाक के छेद के-  
रास्ते बाहर निकाल जो कुम्भक किया जाता है उस का नाम  
“बहिः कुम्भक” है । यथाशक्ति वायु को शरीर में भर कर  
जो कुम्भक किया जाता है वह अन्तःकुम्भक है । इन दोनों  
को छोड़ कर केवल जां कुम्भक का अभ्यास किया जाता है ।  
वह पूर्वोक्त तीन प्राणायाम से विलक्षण ४ था प्राणायाम है ।  
जिन पुरुष में निद्रा तन्द्रा आदि दोषों की प्रबलता होती उ-  
स को पूर्वोक्त रेचक आदि तीन प्राणायाम का अभ्यास  
करना चाहिये । और जिस में वैसे दोषों का बल न हो उस  
पुरुष को कुम्भक प्राणायामका अभ्यास करना चाहिये ।  
प्राणायाम का फल महर्षि पतञ्जलि ने सूत्र में कहा है—

“ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्” इति ।

प्रकाशस्य सत्त्वस्याऽऽवरणं तमोनिद्रालस्या-  
दिहेतुस्तस्य क्षयो भवति । फलान्तरं सूत्रयति ।

अर्थः—‘प्राणायाम के अभ्यास से बुद्धिसत्त्व को ढाकने-  
वाला तमोगुण जो निद्रा आलस्यादि दोषों का कारण है वह  
क्षय हो जाता है ।

“धारणासुच योग्यता मनसः” इति ।

आधारनाभिचक्रहृदय भ्रूमध्यब्रह्मरन्धादि-  
देशविशेषे चित्तस्य स्थापनं धारणा ।

अर्थः—‘जिससे, मन, धारणा के अभ्यास के लिये यो-  
ग्यता वाला होता है ॥

मूलाधार नाभि हृदय भौं का बीच ब्रह्मरन्ध्र आदि देशों  
में चित्त को लाकर स्थापन करना इस को धारणा कहते हैं ॥

“देशबन्धश्चित्तस्य धारणा इति सूत्रणात् श्रुतिश्च ।

अर्थः—नाभि आदि स्थानों में चित्त को स्थिर करने  
का नाम धारणा कहते हैं । श्रुति भी कहती है ।

“मनः सङ्कल्पकं ध्यात्वा सङ्क्षिप्याऽऽत्मनि  
बुद्धिमान् ।

धारयित्वा तथाऽऽत्मानं धारणा परिकीर्तिता”  
प्राणायामेन रजोगुणकारिताच्चाञ्चल्यात्तमो-  
गुणकारितादालस्यादेश्च निवारितं मनस्त-  
स्यां धारणायां योग्यं भवति ।

अर्थः—बुद्धिमान् पुरुष सङ्कल्प विकल्प वाले मन को  
एकाग्र कर अपने आत्मा में स्थापन करे और आत्मा को ही-  
रति द्वारा धर रखे उस को धारणा कहते हैं ।

प्राणायाम द्वारा रजोगुण कारित चञ्चलता से और तमो-  
गुण से हुए आलस्य आदि दोष से निवारित मन धारणा करने  
में योग्यता वाला होता है ।

“प्राणायामदृढाभ्यासैर्युक्त्या च गुरुदत्तया”

इत्यत्रत्येन युक्तिशब्देन योगिजनप्रसिद्धं शि-  
रोरूपमेरुचालनम्, जिह्वाग्रेण घण्टिकाक्रमणं  
नाभिचक्रे ज्योतिर्ध्यानं विस्मृतिप्रदौषधसेवा  
चेत्येवमादिकं गृह्यते ।

अर्थः—इस श्लोक में युक्ति अर्थात् शिरोरूप मेरु दण्ड का



निद्रा के नाश में यत्निता ( तानु के उपर जो छोटी सी जीप होती है ) को भ्रमण अर्थात् घुमाना, नाभिचक्र में ज्योति का ध्यान देह के अभिमान को भुलाने वाली औपायिकों का सेवन इत्यादि युक्तियाँ समझनी ।

तदेवमध्यात्मविद्यासाधुसङ्गमवासनाक्षणप्राण-  
निरोधाश्चित्तनाशोपाया दर्शिताः । अथ तदु-  
पायभूतं समाधिं वक्ष्यामः । पञ्चभूष्युपेतस्य  
चित्तस्य भूमिचयत्यागेनावशिष्टं भूमिद्वयं  
समाधिः । भूमयश्च योगभाष्यकृता दर्शिताः,

अर्थः—तो इस भांति अध्यात्मविद्या, साधु सङ्गम वामना-  
सय और प्राणायाम, ये चित्त के नाश के उपाय दिखलाये ।  
अब मनोनाश का उपाय समाधि को कहेंगे । चित्त की जो  
पाँच भूमिका या अवस्था है उन में से पहिली तीन भूमिका  
ओं को छोड़कर बाकी दो भूमिका को समाधि कहते हैं ।  
चित्त की भूमिकाओं का योगभाष्यकार श्रीव्यास जी ने दि-  
खलाया है ।

“क्षिप्तं मृदं विशिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्त-  
भूमयः ” इति ।

अर्थः—चित्त की पाँच अवस्था या भूमिका होती हैं । १  
क्षिप्त २ मृद, ३ विशिप्त, ४ एकाग्र और ५ वी निरुद्ध है ।

आसुरसम्प्लोकशान्त्रदेहवासनासु वर्तमानं  
चित्तं क्षिप्तं, निद्रातन्द्रादिप्रस्तं मृदं, कादा-  
चिन्कध्यानयुक्तं क्षिप्ताद्विशिष्टतया विशिप्तम ।  
तत्र विशिप्तमृदयोः समाधिर्नास्ति । वि-  
क्षिप्तं तु चेतांसि विक्षेपोपमर्जनाभूतः समा-

धिर्योगपक्षे न वर्तते । विक्षेपान्तर्गतया दह-  
नान्तर्गतया जवत्सद्य एव विनश्यति । यस्त्वे-  
काग्रं चेतांसि सद्भूतमर्थं प्रयोनयति क्षिणोति  
च क्लेशान्कर्मबन्धनानि श्लथयति, निरोधम-  
भिमुखाकराति स सम्प्रज्ञातो योग इत्याख्या-  
यते । सर्ववृत्तिनिरोधे त्वसंप्रज्ञातसमाधिः ।  
तत्र सम्प्रज्ञातसमाधिभूमिकामेकाग्रतां सू-  
त्रयति—

अर्थः—जिन में से आसुरी सम्पत्ति लोकवासना, शास्त्र  
वासना, और देहवासना में प्रवृत्ति वाले पुरुषका चित्त “क्षिप्तं”  
कहलाता है । निद्रा तन्द्रा आदिक दोषों के बश हुए चित्त को  
मृद कहते हैं । किसी समय ध्यान युक्त चित्त क्षिप्त में श्रेष्ठ होने से  
“विशिप्त” कहलाता है । तिनमें से चित्त की क्षिप्त और मृद अ-  
वस्था में तो समाधि की शङ्का भी नहीं सम्भव होती है । वि-  
क्षिप्त अवस्था में विक्षेप अधिक और समाधि गौण होने से  
अग्निमें रखे बीज के समान तत्काल नष्ट हो जाता है । एकाग्र-  
चित्त होने में जो समस्त असत्य वस्तु ( आत्मा ) को प्रकाश  
करती क्लेशों का क्षय क्लेशों की कवन्धनों को हीन करती  
और निरोध को सम्मुख आध्यात्मिको सम्प्रज्ञान योग कहते-  
हैं तदां श्रीपतञ्जलि भगवान्

समाधि की भूमिकारूप  
एकाग्रता को सूत्रद्वारा कथन कचर्त्य सो

“शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययान्तीचित्तस्यैकाग्रता-  
परिणाम” इति ।

शान्तोऽनीतः । उदितो वर्तमानः । प्रत्यय-  
श्चित्तवृत्तिः अनीतप्रत्ययो यं पदार्थं गृह्णाति



तमेव वेदादितोऽयुक्तोपात्तान्भी तुल्यो भवतः ।  
तादृशाभिस्य परिणाम एकाग्रतेत्युच्यते ।  
एकाग्रताभिर्वृद्धिलक्षणं समाधिं सूत्रयति ॥

अर्थः—चित्त की शान्तवृत्ति और उदित वृत्ति चित्त की समान वृत्ति वा ज्ञान है (किन्तु एकाग्रता रूप परिणाम है) शान्त एवं उदित वृत्ति जब एक विषय को ग्रहण करे उस समय उस चित्त का एकाग्रता रूप परिणाम कहलाता है । अर्थात् प्रथम उसी हुई वृत्ति जिस पदार्थ को ग्रहण करेता उसी पदार्थ को यदि वर्तमान वृत्ति ग्रहण करे तो वह भूत वृत्ति और वर्तमान वृत्ति तुल्य विषयक गिनी जाती है । इस प्रकार के चित्त के परिणाम को एकाग्रता परिणाम कहते हैं ।

एकाग्रता की, अभिवृद्धिरूप समाधि को भगवान् पतञ्जलि कहते हैं—

“सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयो चित्तस्य समाधिपरिणाम इति ।

अर्थः—चित्त के सर्वार्थता धर्मका तिरोभा और एकाग्रता धर्म का प्रादुर्भाव समाधि परिणाम में लाता है—

रजोगुणेन चाल्पमन्त्रं क्रमेण सर्वान्  
पदार्थान् वृद्धाः पांच अवस्था रजोगुणस्य निरा-  
धाय क्रियमाणं, ४ एकाग्र प्रयत्नविशेषेण दि-  
ने दिने संप्लष्टोक्तं भवति । एकाग्रता चादि-  
ति तादृशाभिः निःपरिणामः समाधिरित्यु-  
च्यते । तस्य आधेरष्टाङ्गेषु यमनियमास-  
नप्राणायामप्रत्याहाराः पञ्च बहिरङ्गाः नि ।  
तत्र यमान् सूत्रयति ॥

अर्थः—रजो गुण से चञ्चल हुआ चित्त क्रमशः सब पदा-  
र्थों को ग्रहण करता है । इस रजोगुण के निराध के लिये यो-  
गियों द्वारा किये जाने वाले प्रयत्नसे प्रतिदिन सब विषयों को-  
ग्रहण करनेवाली वृत्ति क्षीण होती है । और योगी के एका-  
ग्रता का उदय होता है । इस प्रकार के चित्त परिणाम को  
समाधि कहते हैं । समाधि के अङ्गों में यम नियम आसन प्राणा-  
ध्यान और समाधि अन्तरंग में परिगणित हैं । तहां यमों  
को सूत्र द्वारा कहते हैं—

“अहिंसासत्यास्तेयव्रतचर्मापरिग्रहा यमाः”

हिंसादिभ्यो निषिद्धधर्मभ्यो योगिनं यमय-  
न्ति यमाः । तत्र नियमान् सूत्रयति—

अर्थः—अहिंसा, सत्य, अस्तेय ( दूसरे की वस्तु की इच्छा  
न करनी ) व्रतचर्म, ( उपस्थ इन्द्रिय का संयम ) अपरिग्रह,  
( शरीर निर्वाह के लिये आवश्यक पदार्थों के सिवाय अधिक  
पदार्थ की अपेक्षा न रखनी, ये पांच यम हैं ।

हिंसादि निषिद्ध धर्मों से योगी को जो रोकता है इस लिये  
इस को यम कहते हैं । नियमों को कहने वाला सूत्र यह है—

“शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधाना-  
नि नियमाः” इति ।

जन्महेतोः काम्यधर्मास्त्रिवर्त्य मोक्षहेतो नि-  
ष्कामधर्मे नियमयन्ति प्रेरयन्तीति नियमाः ।

यमनियमयोरनुष्ठानवैलक्षण्यं स्मर्यते—

अर्थः—पवित्रता, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ( प्रणवादि जप  
तथा अध्यात्मशास्त्र का पढ़ना ) और ईश्वर भक्ति ये नियम हैं ।



जन्म देने वाले काम्य कर्मों से रोक कर योगी को निष्काम कर्म में प्रेरणा करते हैं इस लिये शौच आदिक नियम कहलाते हैं। यम तथा नियमों के अनुष्ठान में तारतम्य स्मृति में दिखलाते हैं।

“यमान्सेवेत सततं न नित्यं नियमान् युधः।

यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान् भजन्” ॥

अर्थ:—बुद्धिमान् मनुष्य निरन्तर यमों का सेवन करे सदा नियमों के सेवन की यम जितनी ओक्षा नहीं। क्योंकि यमों को न सेव कर केवल नियमों का ही जो सेवन करता है उस ( योगी ) का योगमार्ग से पतन होता है।

“पतति नियमवान्यमेवसक्तो न तु यमवान्नि-  
यमालसोऽवसीदेत्।

इति यमनियमौ समीक्ष्य बुद्ध्या यमबहुलेष्वनु-  
सन्दधीत बुद्धिम्” इति ॥

यमनियमफलानि सूत्रयति—

अर्थ:—यम मे की आसक्ति ( प्रीति ) को त्याग कर केवल नियम को ही सेवन करने वाला योगमार्गसे भ्रष्ट होता है और जो यथाविधि यमों को सेवता पर नियमों का सेवन करने में प्रमाद वाला होता है वह दुःखित नहीं होता अर्थात् योगमार्ग से पतित नहीं होता है। इस भ्रान्ति यम और नियमों को बुद्धि से विचार कर विशेषतः यमों के पालन में वृत्ति को लगावे।

यम और नियमों के फल को भगवान् पतञ्जलि ने सूत्र द्वारा कथन किया है:—

“तत्संनिधौ वैरत्यागः” “क्रियाफलाश्रयत्व-

म्” “सर्वरत्नोपस्थानं” “वीर्यलाभः” “शौ-  
चात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः” सत्त्वशुद्धि-  
सौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वा-  
नि च” संभवति। “सन्तोषादनुत्तमसुखला-  
भः। कायेन्द्रियशुद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।  
स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः। समाधिसि-  
द्धिरीश्वरप्रणिधानात्” इति।

आसनप्राणायामौ व्याख्यातौ। प्रत्याहारं  
सूत्रयति।

अर्थ:—अहिंसा की भावना दृढ होने से उस अहिंसक योगी के समीप बसनेवाले सर्प, नेउल, मूस, मार्जार आदि परस्पर विरोधी प्राणियों का भी वैरभाव छुट जाता है। सत्य की सिद्धि होने से वाणी द्वारा अन्य को क्रिया तथा उस के फल देने का सामर्थ्य आता है। अस्तेय की सिद्धि से योगी की इच्छा न होने पर भी सर्व रत्नों की प्राप्ति होती है। ब्रह्म चर्य की सिद्धि होने से विरति शम सामर्थ्य की या जनन आदि के भय का अभाव रूप लाभ होता है। अपरिग्रह वृत्ति के स्थिर होने से योगी, भूत, भविष्यत् और वर्तमान जन्म के वृत्तान्तको कह सकता है। वाह्य शौच के अभ्यास से अपने शरीर में ग्लानि उपजती और अन्य के संसर्ग की इच्छा नहीं होती है। अन्तः शौच से सत्त्वशुद्धि, मन की प्रसन्नता, उस की एकाग्रता, इन्द्रिय का जय आत्मदर्शन की योग्यता होती है। सन्तोष से सर्वोत्तम सुख का लाभ होता है। तप से अशुद्धि का क्षय होने से अणिमा आदि कायसिद्धि तथा दूरका सुनना दूरका देखना आदि इन्द्रियसिद्धियां होती हैं। इष्ट मन्त्रादि



क. कल्याण स्थापना से हुए देवता का दर्शन और माते साथ भाषण आदि हो सकता है। सब कर्मों को ईश्वर के नाम अर्पण करना रूप भक्ति से समाधि की सिद्धि होती है।

भाषण और पाणायाम इन दोनों कर्मों का निष्पन्न फल मिले किया गया, प्रत्याहार का निष्पन्न जगले सुष से किया जाता है।

“स्वस्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः” इति।

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा विषयास्तेभ्यो निवर्तिताः श्रोत्रादयश्चित्तस्वरूपमनुकुर्वन्तीत्यवतिष्ठन्ते। श्रुतिश्च भवति।

अर्थ:—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, इन पांच विषयों से विमुख होकर श्रोत्र आदिक इन्द्रियां चित्त के स्वरूप का अनुसरण करती हैं ऐसी प्रतीति होती है इस को प्रत्याहार कहते हैं। श्रुति में भी लिखा है।

“शब्दादिविषयाः पञ्च मनश्चैवातिव्यवहृतम्।  
चिन्तयेदात्मनो रश्मीन् प्रत्याहारः स उच्यते॥  
शब्दादयो विषया येषां श्रोत्रादीनां ते श्रोत्रादयः पञ्च मनःपष्ठानामेतेषामनात्मरूपेभ्यः  
शब्दादिभ्यो निवर्तनमात्मरश्मिभवेन चिन्तनं प्रत्याहारः स इत्यर्थः। प्रत्याहारफलं सुप्रयति।

अर्थ—शब्दादि पांच जिनके विषय हैं, ऐसी श्रोत्र आदि पांच इन्द्रियों को तथा और चपट मन को अपने विषयों में रोक कर उन को आत्मा के निरण रूप से चिन्तन करना इस को प्रत्याहार कहते हैं।

प्रत्याहार का फल सूत्र से कहते हैं—

“ततः परमा चक्षतेन्द्रियाणाम्” इति।

धारणाध्यानसमाधींश्चिन्तिः सुप्रयति।

अर्थ:—प्रत्याहार से इन्द्रियां अत्यन्त बलीभूत हो जाती हैं। धारणा ध्यान और समाधि इन तीनों का सूत्रों में कथन करते हैं।

“देशबन्धश्चित्तस्य धारणा”। “तत्र प्रत्यगैकतानता ध्यानम्”। “तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः” इति॥

आधारादिदेशाः पूर्वमुक्ताः। देशान्तरं श्रूयते।

अर्थ:—चित्त को मूलाधार आदि देशविषय स्थिर कार रखने का नाम धारणा है। वृत्तिका एक ही तत्त्व में प्रवाह का नाम ध्यान है। यह ध्यान जिस समय ध्येयाकार हो कर सदा रहित के समान हो जाता उस को समाधि कहते हैं।

धारणा आदि का मध्य नालिकाग्र मूलाधार आदि बाह्य और आभ्यन्तर देशों का कथन पहिले ही किया गया है। उस विषय अन्य देशों का कथन श्रुति कहती है।

“मनःसंकल्पकं ध्यात्वा संक्षिप्त्वात्मनि युजिमान्।  
धारयित्वा तथाऽऽत्मानं धारणा परिकीर्तिता”॥

यत्सर्ववस्तुसंकल्पकं मनः तदात्मानमेव संकल्पयतु न त्वन्यादिसेवं विधः प्रयत्न आत्मनि संक्षेपः। प्रत्यगस्यैकतानता तत्त्वैकविषयः प्रवाहः। स च द्विविधः विच्छिन्नविच्छिन्न जायमानः सन्ततश्चाति। तानुगीकमेण ध्यानसमाधी भवतः। तदुभयं सर्वा-



बुभुवयोगिना दर्शितम् ।

अर्थः—सर्व वस्तुओं में संकल्प करने द्वारा मन को  
आत्मा का ही चिन्तन करे अन्य विषय का चिन्तन को  
हृद विचार से मन को अन्य विषय से अलग रखनेवाला बुद्धि  
मान् पुरुष जिस मन को बार २ आत्मा में ही लगाने के वि-  
षय करता उस को धारणा कहते हैं ।

चित्त का तत्त्वविषयक प्रवाह दो प्रकार का है । एक तो  
मन्य में निजार्थ्य दृष्टि से किसी २ समय विच्छेद को प्राप्त  
होता है । दूसरा अविच्छिन्न है । विच्छिन्न प्रवाह को ध्यान  
कहते और अविच्छिन्न या सन्तत प्रवाह को समाधि कहते हैं ।  
इन ध्यान और समाधि दोनों का निरूपण सर्वानुभव योगी ने  
किया है—

“चित्तैकाग्र्याद्यतो ज्ञानमुक्तं समुपजायते ।

तत्साधनमतो ध्यानं यथावदुपदिश्यते ॥

विनाश्य विकृतिं कृन्त्यां सम्भवन्नन्यथक्रमान् ।

परिशिष्टं च सन्मात्रं चिदानन्दं विचिन्तयेत् ॥

ब्रह्माकारमनोवृत्तिप्रवाहोऽहंकृतिं विना ।

सम्प्रज्ञानसमाधिः स्याद्व्यानाभ्यासप्रकर्षतः” इति ।

तं च भगवत्पादा उदाजह्रुः—

अर्थः—पूर्वोक्त ज्ञान, चित्त की एकाग्रता से प्राप्त होता है ।

इन नियमों एकाग्रता का साधनभूत ध्यान का यथाविधि उपदेश  
किया जाता है । देहादि कार्य प्रपञ्च जो क्रम से उत्पन्न  
होता है उस में उल्लेख क्रम से कार्य का कारण में लय कर  
कर रहे मन चित्त और आनन्द स्वरूप आत्मा का चिन्तन  
करना ध्यान कहलाता है । और अहङ्कार से रहित ब्रह्माकार

मनोवृत्ति के प्रवाह को सम्प्रज्ञानसमाधि कहते हैं । यह स-  
माधि ध्यान के अभ्यास के परिपाक से सिद्ध होती है ।

इस समाधि का स्वरूप भगवान् शङ्कराचार्य ने उपदेश-  
माहरी में यों कहा है—

“दृशिस्वरूपं गगनोपमं परं सकृद्विभातं त्व-  
जमकमक्षरम् ।

अलंपकं सर्वगतं यदद्वयं तदेव चाहं सततं  
विमुक्त ओम् ॥

दृशिस्तु शुद्धोऽहमविक्रियान्मको न मेऽस्ति  
कश्चिद्विषयः स्वभावतः ।

पुरस्तिरश्चोर्ध्वमधश्च सर्वतः सम्पूर्णभ्रूमा त्वज  
आत्मनि स्थितः ॥

अजोऽमरश्चैव तथाऽजरो मृतः स्वयम्प्रभः  
सर्वगतोऽहमद्वयः ।

न कारणं कार्यमतीव निर्मलः सदैव तृप्तश्च  
ततो विमुक्त ओम्” इति ॥

अर्थः—जो चैतन्य स्वरूप, आकाश के समान सर्वव्या-  
पक है, सब से श्रेष्ठ है, सदा प्रकाश स्वरूप है, जन्म मरण  
रहित है, एक है, अक्षर है, निर्लेप है, सर्वगत, और भेद रहित  
है, उस सदा मुक्त अङ्कार का लक्ष्यार्थ रूप मैं हूँ । मैं विकार  
रहित शुद्ध चैतन्य हूँ, वस्तुतः कोई भी मेरा विषय नहीं क्योंकि  
कि मुक्त से अतिरिक्त अन्य पदार्थ ही नहीं, आगे, पीछे, उपर  
नीचे, सर्वत्र मैं पूर्ण व्यापक हूँ, और अजन्मा मैं अपने स्वरूप  
में ही स्थित हूँ, मैं जन्म रहित हूँ, अक्षर और अमृत हूँ, स्वयं  
प्रकाश, सर्वगत, और द्वैतभाव रहित हूँ, कारण और कार्य मे



दोनों मुख में हैं नहीं, मैं अत्यन्त निर्मल हूँ, मैं नित्यनम, व्यापक और मुक्त हूँ।

ननु सम्प्रज्ञातसमाधिरङ्गी स कथं ध्यानानन्तर-  
भाविनोऽष्टमाङ्गस्य समाधेः स्थान उदाह्रियते।

अर्थः—शङ्का—जो सम्प्रज्ञात समाधि को अङ्गी मानने हो तो, उस को योग के ८ अङ्गों में से सात वां अङ्ग ध्यान के पीछे आठवा अङ्ग के स्थान में क्यों गिनते हो ?

नायं दोषः। अत्यन्तभेदाभावात्। यथा वेद-  
मधीयानो माणवकः पदे पदे स्वल्पपुनः स-  
मादधाति। अधीतवेदः सावधानो न स्वल्प-  
ति। अध्यापको निरवधानस्तन्द्गी कुर्वन्नपि  
न स्वल्पति तथा विषयैक्येऽपि परिपाकता-  
रतम्येन ध्यानसमाधिसंप्रज्ञातानामवान्तर-  
भेदोऽवगन्तव्यः। धारणादित्रयं मनोविषय-  
त्वात्संप्रज्ञातेऽन्तरङ्गम्। यमादिपञ्चकं तु  
बहिरङ्गम्। तदेतत्सूत्रयति—

अर्थः—समाधान—ध्यान और समाधि में अत्यन्त भेद नहीं, इस से उस भांति गणना कियी है। जैसे वेद पढ़ने वाले विद्यार्थी पद २ में भूलता २ पुनः उस को सुधारता जाता है, जैसे वेदज्ञ पुरुष सावधानी से पढ़ते हैं, और भूल नहीं करते और जैसे वेद पढ़ाने वाले कदाचित् प्रमाद कर जावें या अर्धनिद्रा में हों तौ भी वेदाध्ययन में भूल नहीं करते हैं। उसी तरह ध्यान सम्प्रज्ञात समाधि और असंप्रज्ञात समाधि का विषय एक होने पर भी परिपाक में तारतम्य के कारण उन का परस्पर भेद समझना चाहिये। यम नियम,

आसन, साणायाम, और प्रत्याहार ये समाधि के बहिरङ्ग (बाहरी) साधन हैं बाकी तीन अन्तरङ्ग (भीतरी) साधन हैं। उस को सूत्र से कहते हैं—

“अथमन्तरङ्गं पूर्वभ्यः” इति।

ततः केनापि पुण्येनान्तरङ्गे प्रथमे लब्धे बहि-  
रङ्गलाभाय नातिप्रयासः कर्त्तव्यः। यद्यपि  
पतञ्जलिना भौतिकभूततन्मात्रेन्द्रियाहङ्कारा-  
दिविषयाः संप्रज्ञातसाविकल्पसमाधयो ब-  
हुधा प्रपञ्चितास्तथाऽपि तेषामन्तर्धाना-  
दिसिद्धिहेतुतया मुक्तिहेतुसमाधिविरोधि-  
त्वान्नास्माभिस्तत्राऽऽदरः क्रियते। तथा च  
सूत्रितम्।

अर्थः—पूर्वअङ्गों में से तीन अन्तरङ्ग हैं, इस लिये किसी पुण्यके योग से प्राप्त हुए गुरुप्रसाद से प्रथम अन्तरङ्ग साधन प्राप्त हो तो पीछे बहिरङ्ग साधन के लिये अति प्रयास करने का प्रयोजन नहीं रहता। यद्यपि पांच भूतों का कार्य स्थूल पांच भूत, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध, ये ५ तन्मात्रायेँ, इन्द्रियाँ और अहङ्कारादि जिस के विषय हैं, ऐसे अनेक प्रकार के सविकल्प सम्प्रज्ञात समाधियों का पतञ्जलि मुनि ने विस्तार पूर्वक निरूपण किया है। परन्तु वे समाधियाँ अन्तर्धान आदि सिद्धियों का कारण रूप होने से, मुक्ति के कारण रूप समाधि में विरोधी हैं। अतएव हम वैसे समाधि के निरूपण का आदर नहीं करते। भगवान् पतञ्जलि भी कहते हैं—

“ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः”  
इति। “स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाऽकरणं पु-



नरानिष्टप्रसङ्गात्” इति च ॥

स्थानिनां देवाः । उद्दालको देवैरामन्त्रिताऽप्यवज्ञाय देवान्निर्विकल्पसमाधिमेव चकारेत्युपाख्यायते । प्रश्नोत्तराभ्यामप्येवमेवावगम्यते—

श्रीरामः—

अर्थः—दिव्य शब्द दिव्य गन्ध इत्यादि ज्ञानरूप पूर्वोक्त सिद्धिषां समाधि में विग्रहरूप हैं । और व्युत्थान काल में वे सिद्धिरूप हैं । देवताओं की प्रार्थना में आसक्ति तथा आश्चर्य नहीं करना क्यों कि उससे फिर अनिष्ट का प्रसङ्ग हो जाता श्री उद्दालक मुनि को इन्द्र आदि देवताओं ने स्वर्ग में आने के लिये आमन्त्रण किया और उद्दालक जी ने देवताओं की अवज्ञा कर निर्विकल्प समाधि को किया ऐसी कथा योग वामिष्ठ में हैं । श्री रामचन्द्र और वसिष्ठ के प्रश्नोत्तर से भी यही समझा जाता है । श्री रामचन्द्र जी प्रश्न करते हैं कि—

“जीवन्मुक्तशरीराणां कथमात्मविदांवर ? ।

शक्तयो नेह दृश्यन्त आकाशगमनादिकाः” ।

वसिष्ठः—

अर्थः—हे आत्मवेत्ताओं मे श्रेष्ठ ? [ वसिष्ठ ] जीवित ही जिस ने अपने शरीर के अभिमान का त्याग किया है अर्थात् जीवन्मुक्त आत्मज्ञानी पुरुषों की आकाश से जाने इत्यादि सिद्धियां क्यों नहीं देखने में आती हैं ! इस पर वसिष्ठ जी बोलें—

“अनात्मविदमुक्तोऽपि न भोविहरणादिकम् ।

अणिमाद्यष्टसिद्धीनां सिद्धिजालानि वाञ्छति ॥

“द्रव्यमन्त्रक्रियाकालयुक्त्याऽऽप्नोत्येव राघव ? ।

नाऽऽत्मज्ञस्यैव विषय आत्मज्ञोऽह्यात्ममात्रदृक् ॥

आत्मनाऽऽत्मनि संतृप्तो नाविद्यामनुधावति ।

यं केचन जगद्भावास्तानविद्यामयान्विदुः ॥

कथं तेषु किलाऽऽत्मज्ञस्त्यक्ताविव्यो निमज्जति ।

द्रव्यमन्त्रक्रियाकालशक्तयः साधु सिद्धिदाः ॥

परमात्मपदप्राप्तौ नोपकुर्वन्ति काश्चन ।

सर्वेच्छाजालसंशान्तावात्मलाभोदयो हि यः ॥

स कथं सिद्धिवाञ्छायां मग्नचित्तेन लभ्यते ।

“न केचन जगद्भावास्तत्त्वज्ञं रञ्जयन्त्यपि” इति ॥

नागरं नागरीकान्तं कुग्रामललना इव” इति ॥

“अपि शीतरुचावर्कं सुतीक्ष्णं चेन्दुमण्डले ।

अप्यधः प्रसरत्यग्नौ जीवन्मुक्तो न विस्मयी ॥

चिदात्मन इमा इत्थं प्रस्फुरन्तीह शक्तयः ।

इत्यस्याऽऽश्चर्यजालेषु नाभ्युदेति कुतूहलम्” ॥

“यस्तु वा भावितात्माऽपि सिद्धिजालानि वाञ्छति ।

स सिद्धिमाधकैर्द्रव्यैस्तानि साधयति क्रमात्”

इति ॥

अर्थः—आत्मज्ञान रहित पुरुष मुक्त न होने पर भी आकाश में विहार करना आदिक का और अणिमा आदि आठ सिद्धिओं के सिद्धि जाल की इच्छा करता है । मणि, औषध, आदि प्रत्येक की शक्ति से, मन्त्र के सामर्थ्य से योगाभ्यास आदिक क्रियाशक्ति से, और उस के परिपाक के हेतु रूप काल के बल से पुरुष आकाश में विहार करना इत्यादि सिद्धिओं को हे रामचन्द्र जी ! प्राप्त होता है, परन्तु सिद्धिओं को प्राप्त करना आत्म ज्ञानी का विषय नहीं । केवल आत्मा



कः ही माता-पिता करने वाला आत्म ज्ञानी कहलाता है । जो स्वयं अपने आत्मा में ही तृप्त रहता वह अविद्या के कार्यों पीछे नहीं दौड़ता । तत्त्वविद पुरुष, जगत् के जितने पदार्थ हैं उन को अविद्या का कार्य समझता है । अतएव आत्मज्ञ पुरुष या जिन ने अविद्या का त्याग किया है, वह जगत् के पदार्थों में आसक्ति क्यों कर रखे ? नहीं रखता है ।

द्रव्य शक्ति, मन्वशक्ति, क्रियाशक्ति, और कालशक्ति, ये सब पूरी तरह सिद्धि देनेवाली हैं, परन्तु ये शक्तियां परम पद की प्राप्ति में किसी प्रकार की सहायता करने वाली नहीं हैं । सब इच्छा शान्त हो जाने से जो आत्मलाभ होता है, वह लाभ, सिद्धिजाल में फंसे पुरुष को क्यों कर मिल सकता ? नहीं मिलता है । जैसे नगर में बसने वाली स्त्री का बल्लभ नगरवासी पुरुष को कुग्राम में बसने वाली स्त्रिया प्रसन्न नहीं कर सकती, उसी भांति जगत् का कोई भी पदार्थ तत्त्वज्ञानी महात्मा को खुश नहीं कर सकता । कदाचित् सूर्य नारायण शीतल किरण वाला हो जावे चन्द्रमा का मण्डल अति उष्ण हो जावे, और अग्नि की ज्वाला की ऊंची गति बन्द हो कर नीची हो जावे तौ भी जीवन्मुक्त पुरुष विस्मय को प्राप्त नहीं होता । परमात्मा की अनेक शक्तियां इस भांति स्फुरित होती हैं, ऐसा जान कर उस को आश्चर्य कारक पदार्थों में कौतुक नहीं होता । जिन सिद्धिओं की वाञ्छा वाला पुरुष सिद्धियों की इच्छा करता वह सिद्धि को देनेवाले द्रव्यों से क्रमशः सिद्धियां सम्पादन करता है ॥

आत्मविषयस्तु सम्प्रज्ञातसमाधिर्वासनाक्ष-  
यस्य निरोधसमाधेश्च हेतुस्तस्मात्तत्राऽऽदरः

कृतोऽस्माभिः ॥

अथ पञ्चभूमिरूपो निरोधसमाधिर्निरूप्यते ।

तं च निरोधं सूत्रयति—

अर्थः—आत्म विषयक सम्प्रज्ञात समाधि, वासनाक्षय और निरोध समाधि का हेतु है, अत एव इस समाधि का यहां हमने आदर किया है । अब पञ्चभूमिकारूप निरोध समाधिका निरूपण किया जाता है । इस समाधि को पतञ्जलि मुनि सूत्र से कहते हैं ।

“व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ  
निरोधक्षणाचित्तान्वयोनिरोधपरिणामः” इति ॥

व्युत्थानसंस्काराः समाधिविरोधिनस्ते चो-  
द्दालकस्य समाधावुदाहृताः ॥

अर्थः—‘चित्त के व्युत्थान संस्कार का निरोध और निरोध संस्कार का प्रादुर्भाव होता है, तथा चित्त उत्तरोत्तर क्षण में निरोध की ओर ही बढ़ता है इस प्रकार के चित्त, के परिणाम को निरोध परिणाम कहते हैं । चित्त का व्युत्थान संस्कार समाधि में विरोधी होता है, उस को उद्दालक की समाधि में योगवासिष्ठ में दिखलाया है ॥

“कदाऽहं त्यक्तमनने पदे परमपावने ।

चिरं विश्रान्तिमेष्यामि मेरुशृङ्ग इवाम्बुदः ॥

इति चिन्तापरवशो बलादुद्दालको द्विजः ।

पुनः पुनस्तूपविश्य ध्यानाभ्यासं चकार ह ॥

विषयैर्नीयमाने तु चित्ते मर्कटचञ्चले ।

न स लेभे समाधानप्रतिष्ठां प्रीतिदायिनीम् ॥

कदाचिद्वायसंस्पर्शपरित्यागादनन्तरम् ।



तस्यागच्छचित्तकपिरान्तरस्पर्शसञ्चयात् ॥  
 कदाचिदान्तरस्पर्शाद्वाह्यं विषयमाददे ।  
 तस्यागच्छचित्तमनो यानि कदाचित्तत्रस्तपश्चिन्त ॥  
 कदाचिदुदिताकभिं तेजः पश्यति विस्तृतम् ।  
 कदाचित्केवलं व्योम कदाचिन्निविडं तमः ॥  
 आगच्छता यथा कामं प्रतिभासान्पुनः पुनः ।  
 अच्छिन्नमनसा शूरः खड्गेनेव रणे रिपून् ॥  
 विकल्पौघे समालूने सोऽपश्यद्धृदयाम्बरे ।  
 तमश्छन्नविधेकार्कं लोलं कज्जलमंचकम् ॥  
 तमप्युत्सादयामास सम्पूजानविवस्वता ।  
 तमस्युपरते स्वान्ते तेजःपुञ्जं ददर्श सः ॥  
 तल्लुलाव स्थलाब्जानां वनं बाल इव द्विपः ।  
 तेजस्युपरते तस्य घूर्णमानं मनो मुनेः ॥  
 निशाब्जवदगान्निद्रां तामप्याशु लुलाव सः ।  
 निद्राव्यपगमे तस्य व्योम संवित्समुच्चयौ ॥  
 व्योमसंविदि नष्टायां मूढं तस्याभवन्मनः ।  
 मोहमप्येष मनसस्तं समार्ज महाशयः ॥  
 तमस्तेजस्तमोनिद्रामोहादिपरिवर्जिताम् ।  
 कामप्यवस्थामासाद्य विशश्राम मनः क्षणम् ॥  
 इति ॥

अर्थः—सङ्कल्प विकल्प रहित परम पावन श्री परमात्मा के स्वरूप में ही जैसे बुधेरु पर्वत की चोटी पर मेघ स्थिर रहता है, उसी भांति मैं कब तक विश्रान्ति पाऊंगा ? ऐसी चिन्ता के बश हो उदालक नामक ब्राह्मण बारबार बलात्कार से ध्यान का अभ्यास करते थे मरकट की नाई चञ्चल चित्त

को जब विषयों ने आकर्षण किया, तब उन को सुख जनक समाधि में स्थिरता प्राप्त न हुई । किसी समय उन का चित्त रूप बन्दर बाह्य विषयों के सङ्ग को छोड़ कर आन्तर विषयों में जाता था उसी भांति कभी आन्तर विषयों को छोड़ उन का मन बाह्य विषयों में जाता, जैसे भयभीत चिड़िया, एक पेड़ पर से दूसरे पेड़ पर, उस पर से तीसरे पर, इस भांति भटकती उसी प्रकार उन का मन एक विषय को छोड़ कर दूसरे विषय में उस में से तीसरे विषय में यों भटका करता था वह ब्राह्मण ध्यान कर अभ्यास करते समय अपने भीतर उदय को प्राप्त हुआ सूर्य की नाई विस्तारवाले तेज को अनुभव करते, कभी केवल आकाश को देखते, कभी गाढ अन्धकार को देखते, जैसे शूर वीर पुरुष युद्ध में तलवार से शत्रुओं को काटता हुआ चला जाता उसी भांति उदालक मुनि अन्तर में क्रमशः जो २ आभास प्रकट होता, उन को मन से लय करते जाते हैं । जब बहुत विकल्पों को शमन किया तब उन ने विवेक रूप सूर्य को ढाकने वाले काजल समान अन्धकार को अपने भीतर देखा । उस को भी यथार्थ ज्ञान रूप सूर्य से शान्त किया तब अन्धकार दूर होने पर वह अपने भीतर में तेज का ढेर देखने लगे । उस को भी स्थल के कमल वन को जैसा वच्चा हाथी काट डालता तैसे चित्त द्वारा छेद डाले, तब तेज के उपराम होने पर रात जैसे कमल निद्रा के नश होता वैसे उन का मन निद्रा के बश हुआ अर्थात् उस को भी शीघ्र उड़ा दिया । उस के बाद उन के अन्तर में आकाश का भान हुआ । वह भी नष्ट हुआ, तब उन का मन मोह मुक्त हुआ । उस मोह को भी उन महाशय ने दूर किया अर्थात् इन मुनि का मन, तेज,



तप, निद्रा, और मोह, आदि के वश से न हो कर किसी अनिर्वर्णीय अवस्था को पाकर क्षणभर विश्रान्ति पायी।

त एते व्युत्थानसंस्कारा निरोधहेतुना योगि-  
प्रयत्नेन प्राप्तादनं प्रतिक्षणं चाभिभूयन्ते तद्वि-  
रोधिनश्च निरोधसंस्काराः प्रादुर्भवन्ति तथा  
सति निरोध एकैकस्मिन्क्षणे चित्तमनुगच्छति।  
सोऽयमीदृशश्चित्तस्य निरोधपरिणामो भवति।

अर्थः—ये सब व्युत्थान संस्कार दिन दिन और क्षण  
क्षण निरोधके कारणरूप योगी के प्रयत्न से तिरोभाव को प्राप्त  
होता है और निरोध संस्कार प्रकट होते हैं। इस भांति क्षण  
क्षण में चित्त निरोध के अनुकूल होता जाता है। इस प्रकार  
के चित्त परिणाम को निरोधपरिणाम कहते हैं।

ननु—“प्रतिक्षणपरिणामिनो हि भावा  
श्रुते चितिशक्तेः” इति न्यायेन चित्तस्य  
सर्वदा परिणामप्रवाहो वक्तव्यः। बाढम्।

अर्थः—शङ्का—‘एक चैतन्य को छोड़ कर बाकी सब  
पदार्थ क्षण २ में परिणाम को प्राप्त होते हैं। इस भांति चित्त  
का सदा परिणामरूप प्रवाह चला करता ऐसा कहना चाहिये  
उस का निरोध सम्भव नहीं—

तत्र व्युत्थितचित्तस्य वृत्तिप्रवाहः स्फुटः।

निरुद्धचित्तस्य तु कथमित्याशङ्क्योत्तरं

सूत्रयति—

अर्थः—समाधान—जागृत अवस्था में तो चित्त का वृत्ति-  
रूप परिणाम स्फुट हैं। निरुद्ध चित्त का परिणाम किस भांति।  
इस शङ्का को दूर करने के लिये पतञ्जलि मुनि सूत्र द्वारा कहते हैं—

“ततः प्रशान्तवाहिता संस्कारात्” इति ॥

अर्थः—निरोधसंस्कार से चित्त की प्रशान्तवाहिता होती है।  
यथा समिदाज्याद्वृत्तिप्रक्षेपे वह्निरुत्तरोत्तर-  
वृद्ध्या प्रज्वलति। समिदादिक्षयप्रथमक्षणे  
किञ्चिच्छाम्यति। उत्तरोत्तरक्षणे शान्तिर्वर्धते,  
तथा निरुद्धचित्तस्योत्तरोत्तराधिकः प्रशमः  
प्रवहति। तत्र पूर्वपूर्वप्रथमजनितः संस्कार  
एवोत्तरोत्तरप्रशमस्य कारणम्। तामेतां प्रशा-  
न्तवाहितां भगवान् विस्पष्टमुदाजहार ॥

अर्थः—जैसे अग्नि में समिध, घी, आदिक डालने से वह  
उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता, और समिध आदि जल जाती  
प्रथम क्षण में ज्वाला कुछ शान्त होती है दूसरे क्षण में उससे  
अधिक शान्त होती, इसी भांति उत्तरोत्तर क्षण में अधिक  
शान्त होती जाती है, इसी भांति निरोध को प्राप्त हुए चित्त-  
का उत्तरोत्तर अधिक २ शान्ति का प्रवाह बढ़ता है। तिन में  
पूर्व २ की शान्ति से उपजे हुए संस्कार ही उत्तरोत्तर शान्ति में  
कारण रूप हैं। इस प्रकार की चित्त की प्रशान्त वाहिता भग-  
वान् कृष्ण गीता में स्पष्ट कहते हैं।

“यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।

निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोऽपि स्मृता।

योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।

यत्र चैवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुल्यति ॥

गुणमात्यन्तिकं यत्तद्विज्ञानमतीन्द्रियम्।



वैति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥  
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।  
यस्मिन्स्थिता न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते ।  
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ॥  
न निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ इति ॥  
निरोधसमाधिः साधनं सूत्रयति—

अर्थः—जब संयम को प्राप्त हुआ चित्त अपने आत्मा ही में स्थिता और सम्पूर्ण कामनाओं से निवृत्त हो जाना तब वह पुरुष ( योगी ) कहा जाता है । जैसे निर्वात स्थान में रक्ता हुआ, दीप निश्चल रहता है । वैसे ही अपने चित्त को सावधान कर आत्मयोग करता हुआ योगी निश्चल होता है, ऐसा दृष्टान्त दिया है । जिस अवस्था में योगाभ्यास के द्वारा रोका हुआ चित्त उपराम को प्राप्त हो, और जहां शुद्ध अन्तःकरण में आत्मा ( उद्योतिः स्वरूप ) को देख आत्मा सन्तोष को प्राप्त हो । जिस दशा में इन्द्रियों के विषय में आने योग्य नहीं ऐसे केवल बुद्धि ही से जानने के योग्य अनन्त आनन्द को प्राप्त और जहां पर स्थित होकर मनुष्य अपने स्वरूप में च्युत नहीं हो जिस लाभ को पाकर उसने अधिक दूसरे लाभ को न माने और जिस में स्थिर हो अत्यन्त बड़े दुःख से भी न दोल्यमान हो ॥

निरोध समाधि के साधन को बतलानेवाला सूत्र—

“विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः” इति ॥  
विरामो वृत्त्युपरमस्तस्य प्रत्ययः कारणं  
वृत्त्युपरमार्थः पुरुषप्रयत्नस्तस्याभ्यासः  
पौनःपुन्येन सत्त्वादनं तत्पूर्वकस्तज्जन्या

अन्तरातीतसूत्रे संप्रज्ञातसमाधेरुक्तत्वात्तदपे-  
क्षयाऽन्योऽसंप्रज्ञातसमाधिः, तत्र वृत्तिरहि-  
तस्य चित्तस्वरूपस्य दुर्लभत्वात्संस्काररूपेण  
चित्तं शिष्यते । विरामप्रत्ययजन्यत्वं भग-  
वान् विस्पष्टमाह—

अर्थः—जिस में चित्त की सारी वृत्तियों का अवनान ( प्रवृत्ति ) हो जाता है, उस वितर्कीदि के अभाव ज्ञान को वा-  
त्सार विचार पूर्वक जिस में केवल संस्कार ही अपन रहता उस निरावलम्ब समाधि को असंप्रज्ञात समाधि कहते हैं ॥

चित्त के उपराम का कारण रूप प्रयत्न विशेष में अप्रसं-  
ज्ञात समाधि कहते हैं । यह बात कृष्ण भगवान् ने गीता में स्पष्ट कथन किया है—

“सङ्कल्पप्रभवान्कामास्त्यक्त्वा स्वचिन्तितमनः ।  
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥  
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिपूर्वकतया ।  
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥  
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।  
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्” इति ॥

अर्थः—सङ्कल्प से उत्पन्न होनेवाली सब कामनाओं को छोड़ और मन ही से सम्पूर्ण इन्द्रियों को चारों ओर से रोक धैर्य के द्वारा बुद्धि को स्वाधीन कर, धीरे-धीरे विषयों से उपराम को प्राप्त हो और अपनी धाँति मन को आत्मा में निश्चल कर किसी पदार्थ की चिन्ता न करे । स्वभाव ही से चपल इस कारण अस्थिर ऐसा जो मन यह स्थिर न होइता फिर वहां वहां से उसे रोक अपने आत्मा में स्थिर करे ॥



काम्यमानाः स्रक्चन्दनवनितापुत्रमित्रगृहक्षेत्रादयो मोक्षशास्त्रकुशलविवेकिजनप्रसिद्धैर्बहुभिर्दायैरुपेता अप्यनाद्यविद्यावशात् दोषानाच्छाय तेषु विषयेषु सम्भवत्वं कल्पयन्ति । तस्माच्च सङ्कल्पादिदं मे स्यादित्येवंरूपाः कामाः प्रभवन्ति । तथा च स्मर्यते—

अर्थः—इच्छा का विषय पुष्पमाला, चन्दन, स्त्री, पुत्र, मित्र, घर, क्षेत्र आदिक पदार्थ हैं, मोक्ष शास्त्र में प्रवीण विवेकी पुरुषों से स्पष्ट अनुभव किये हुए अनेक दोषों से युक्त हैं। तौभी अज्ञानी लोग अपनी अविद्या के कारण उन दोषों को नहीं देखते, जिससे उन २ में श्रेष्ठता की कल्पना करते हैं। श्रेष्ठता मानने से, यह पदार्थ मुझ को प्राप्त हो तो ठीक है इस भांति उन की प्रत्येक विषय में अभिलाषा हुआ करती है, स्मृति में भी कहा है—

“सङ्कल्पमूलः कामो वै यज्ञाः सङ्कल्पसम्भवाः ।

काम ? जानामि ते मूलं सङ्कल्पात्किल जायसे ॥ इति ॥

न त्वां सङ्कल्पयिष्यामि समूलस्त्वं विनङ्क्ष्यासि” इति ॥

अर्थः—काम का मूल सङ्कल्प है, यज्ञ भी सङ्कल्प से ही उत्पन्न हुए हैं, हे काम ? तेरा मूल जानता हूँ कि तू सङ्कल्प से उत्पन्न हुआ है अब एव तुझको सङ्कल्प ही न करूँगा तब तू जड़ से नाशको प्राप्त हो वेगा ॥

तत्र विवेकेन विषयदोषेषु साक्षात्कृतेषु श्रुता वान्ते पायस इव कामास्त्यज्यन्ते । स्रक्चन्दनवनितादिष्विव ब्रह्मलोकादिष्वणि-

माद्यष्टैश्वर्येषु च कामास्त्याज्या इत्यभिप्रेत्य सर्वानित्युक्तम् । मासोपवासव्रतिना तस्मिन्मासेऽग्रे त्यक्तेऽपि कामः पुनः पुनरुदेति तद्वन्मा भूदित्यशेषत इत्युक्तम् । कामत्यागे मनःपूर्वकप्रवृत्त्यभावेऽपि चक्षुरादीनां रूपादिषु स्वभावसिद्धा प्रवृत्तिः साऽपि, प्रयत्नयुक्तेन मनसैव नियन्तव्या । देवतादर्शनादिष्वप्यननुसरणाय समन्तत इत्युक्तम् । भूमिकाजयक्रमेणोपरमस्य विवक्षितत्वाच्छनैः शनैरित्युक्तम् । ताश्च भूमिकाश्चतस्रः कठवल्लीषु श्रूयन्ते—

अर्थः—इन पूर्वोक्त पुष्पमाला आदिक विषयों में विवेक द्वारा दोष दिखलाने पर जैसे कुत्ते को वमन किए पायसान्न (दूध का पका) पर रुचि उत्पन्न नहीं होती है, उस भांति उन विषयों में भी इच्छा नहीं होती । जैसे इस लोक के विषय की इच्छा त्यागनी, उसी भांति ब्रह्म लोक और अणिमा आदिक ८ विध ऐश्वर्यों की भी इच्छा त्यागनी आवश्यक है, अतः एव उपर के श्लोक में ‘सर्वान्’ (सारे) ऐसा पद पड़ा है । एक मास पर्यन्त जिस ने उपवास रहने का व्रत धारण किया है, उस को मास में अन्न का त्याग करना पड़ता तथापि अन्न के लिये बार २ अभिलाषा हुआ करती है इस लिये ‘अशेषतः’ (अर्थात् ‘कुछ बाकी न रहे इस भांति’) ऐसा पद पड़ा है । काम का त्याग करने में मन में प्रवृत्ति नहीं होती है, तथापि जो चक्षु आदि इन्द्रियों की अपना २ रूप आदि विषयों में प्रवृत्ति स्वभावतः होती है, उस को भी प्रयत्न युक्त मन द्वारा



रोके । देव दर्शन के लिये यज्ञ का निषेध करने के निमित्त  
‘ममन्तः’ ( हर तरफ से ) यह पद दिया है । पहिले मध्य  
भूमिका को जय करे फिर दूसरी भूमिका को । तब तीसरी  
भा, इसी क्रम से इनमें क्रम से भूमिका के जय पूर्वक निमित्त  
को उपराग देवे इस अभिप्राय से ‘शनैः शनैः’ ( धीरे २ ) यह  
पद पढ़ा है । भूमिका चार हैं । इन का निरूपण कटवल्ली उप-  
निषद् में किया है ॥

“यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तथच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।  
ज्ञानमात्मनि महति निगच्छेत्तथच्छेच्छान्त आत्मनि”  
इति ॥

अर्थ:—वाणी का मन में लय करे, और उस मन को  
ज्ञानात्मा विशेष अहङ्कार में लय करे, उस का भी महान् आत्मा  
सामान्य अहङ्कार में लय करे, और सामान्य अहङ्कार को ज्ञान  
आत्मा निरुपाधि शुद्ध चैतन्य में लय करे ।

वाग्वापारो द्विविधः, लौकिको वैदिकश्च,  
जन्पादिरूपो लौकिको जपादिरूपो वैदिकः ।  
तत्र लौकिकस्य बहुविधोपकरणत्वादुच्युत्थान-  
कालेऽपि योगी तं परित्यजेत् । अत एव स्मर्यते—

अर्थ:—वाणी का व्यवहार दो प्रकार का होता है, एक  
वैदिक दूसरा लौकिक । निमित्त में से जो बोलना है वह लौकिक  
वाग्वापार है और प्रणव आदि मन्त्रों का जप करना वैदिक  
वाग्वापार है । इन दोनों में जो लौकिकवाणी व्यवहार है  
वह चित्त को बहुत ही विशेष में डालने वाला होने में योगी  
योगी पुरुष को व्युत्थान ( समाधि से उठने पर ) काल में भी  
आवश्यकता चाहिये । अतएव स्मृति भी कहती है—

“मौनं योगासनं योगस्तितिक्षाकान्तर्जालता ।

निःस्पृहत्वं समत्वं च समैतान्येकदण्डिनः” इति ॥

अर्थ:—मौन, योग के अनुकूल आसन, योग, तितिक्षा,  
एकाग्रमेवन, किसी वस्तु की इच्छा न रहना, समदृष्टि ये सात  
एकदण्ड धारी संन्यासी के लक्षण हैं ॥

जपादिकं निरोधसमाधौ परित्यजेत् । सेव्यं  
वाग्भूमिः प्रथमा, तां भूमिं प्रयत्नमात्रेण क-  
तिपयैर्दिनैर्वा दृढं विजित्य पश्चाद्वाङ्मनसायायां  
मनोभूमौ प्रयतेत । अन्यथा बहुभूमिकः प्रा-  
सादवत् प्रथमभूमिकापातेनैवापरितनयोगभू-  
मयो विनश्येयुः । यद्यपि चक्षुरादयो निरोद्ध-  
व्यास्तथाऽपि तेषां वाग्भूमौ मनोभूमौ वा-  
ऽन्तर्भावो द्रष्टव्यः ।

अर्थ:—जपादि का निरोधसमाधि में त्याग करे । यह  
प्रथम वाणीरूप भूमिका कथन करी । इस भूमिका को कई  
दिन, मास, वर्ष में दृढ जीत कर दूसरी मनोभूमिका के जय  
के लिये प्रयत्न करे । यदि क्रम से एक २ भूमिका के जय न  
कर के पहिले ही अन्तिम भूमिका को जीतने की इच्छा हो तो,  
जैसे बहुत मजिद ( महल ) वाले मकान के सब से उपर वाले  
महल में जाने की इच्छावाला पुरुष पहिले के क्रम से ( एक के  
बाद दूसरा इस भांति ) उपर को न चढ़ कर एकदम कूदकर  
आखीरि महल में जावे तो, वह उपर के महल में नहीं पहुँचता,  
और जमीन पर ही गिर पड़ता है, तथा लोगों के उपहास का  
भाजन बन जाता है । उसी भांति इस पुरुष की भी अवस्था  
होती है । यद्यपि नेत्र आदिका भी निरोध करना आवश्यक है ।



तो भी उस का वाणी रूप भूमि का या मन रूप भूमिका में अन्तर्भाव समझो । अर्थात् वाणी का या मन का निरोध के साथ इन्द्रियों का निरोध भी समझ लेना ।

ननु वाचं मनसि नियच्छेदित्यनुपपन्नम् ।

नहान्द्रियस्येन्द्रियान्तरे प्रवेशोऽस्ति ॥

अर्थः—शङ्का—वाणी का मन में निरोध करना, यह कहा, सो असम्भव सा भामता है । क्योंकि एक इन्द्रिय का दूसरे इन्द्रिय में प्रवेश हो नहीं सकता है ?

मैवम् । प्रवेशस्याविवक्षितत्वात् । नानावि-  
क्षेपकारिणोर्वाङ्मनसयोर्मध्ये प्रथमतो वा-  
ग्व्यापारनियमेन मनोव्यापारमात्रपरिशेष  
इह विवक्षितः । गोमहिषाश्वादीनामिव वा-  
ङ्मनियमे स्वाभाविके सम्पन्ने ज्ञानात्मनि  
मनो नियच्छेत् । आत्मा त्रिविधः । ज्ञानात्मा  
महानात्मा शान्तात्मा चेति । ज्ञानात्मात्र  
स्थित आत्मेति ज्ञातृत्वोपाधिरहङ्कारोऽत्र ज्ञा-  
नशब्देन विवक्षितः । करणस्य मनसो नि-  
यम्यत्वेन पृथगुपात्तत्वात् । अहङ्कारो द्विविधः ।  
विशेषरूपः सामान्यरूपश्चेति । अयमहमेतस्य  
पुत्र इत्येवं व्यक्तमभिमानोविशेषरूपः, अ-  
स्मीत्येतावन्मात्रमभिमन्यमानः सामान्यरूपः ।  
स च सर्वव्यक्तिषु व्याप्तत्वान्महानित्युच्यते ।  
ताभ्यामहङ्काराभ्यां द्वाभ्यामुपहितौ द्वावा-  
त्मानौ । निरुपाधिकः शान्तात्मा, तदेतत्स-  
र्वमन्तर्बहिर्भावेन वर्तते । शान्त आत्मा स-

र्वान्तरश्चिदेकरसस्तस्मिन्नाश्रितं जडशक्ति-  
रूपमव्यक्तं मूलप्रकृतिः । सा च प्रथमं सा-  
मान्याहङ्काररूपं महत्तत्त्वं नाम धृत्वा व्यक्ती-  
भवति । ततो बहिर्विशेषाहङ्काररूपेण, ततो-  
बहिर्मनोरूपेण, ततो बहिर्वागादीन्द्रियरूपेण ।  
तदेतदभिप्रेत्योत्तरमान्तरत्वं विविनाक्ति  
श्रुतिः ॥

अर्थः—समाधान—इस स्थल में प्रवेश में तात्पर्य नहीं, परन्तु  
नाना प्रकार के विक्षेप को उपजाने वाला मन और वाणी में से  
प्रथमवाणी के व्यापार को रोककर केवल मनका व्यापार अवशेष  
स्वे ऐसा कहने का तात्पर्य है । जैसे बैल, भैंस, घोड़ा आदिक  
प्राणियों को स्वाभाविक रीति से वाणी का जय हुआ करता  
उसी भांति स्वाभाविक रीति से वाणी का जय होनेके ताई  
मनको ज्ञानात्मा में निरोध करे । ज्ञानात्मा, महान् आत्मा, और  
शान्त आत्मा ये तीन प्रकार के आत्मा हैं । तिन में ज्ञातापन  
की उपाधि जो अहङ्कार वह ज्ञानात्मा शब्द में ज्ञान पद का  
अर्थ है । अहङ्कार दो प्रकार का है । एक विशेष अहङ्कार  
और दूसरा सामान्य अहङ्कार । ' मैं यज्ञदत्त देवदत्त का पुत्र हूं  
यह विशेष अहङ्कार का स्वरूप है । और मैं हूं यह सामान्य अ-  
हङ्कार है । इस प्रकार का अहङ्कार सब प्राणियों में व्याप्त होने  
से उस को सामान्य अहङ्कार ऐसी संज्ञा ( नाम ) दीयी है ।  
इन दो प्रकार के अहङ्कार रूप उपाधि सहित आत्मा का क्रम से  
एक को ज्ञानात्मा और दूसरे को महान् आत्मा इस नाम से श्रु-  
तियों ने व्यवहार किया है । निरुपाधि आत्मा को शान्त  
आत्मा कहते हैं । इन तीन आत्माओं में से सब से बाहर ज्ञान



आत्मा है, और भीतर महान् आत्मा है, और उस के भीतर शान्तात्मा है। यह सर्वान्तर चित्र एकरस में जड़ वर्ग को उत्पन्न करनेवाली जो शक्ति रहती उस को अव्यक्त या मूल प्रकृति कहते हैं। वह मूल प्रकृति पहिले सामान्य अहङ्कार रूप 'महत्तत्त्व' ऐसा नाम धारण कर प्रकट होती है। उस के बाद उस के बाहर, विशेष अहङ्कार रूप से प्रकट होती है, उस के बाद उस के बाहर मनरूप से प्रकट होती है, और उस के पश्चात् इन्द्रिय आदि रूप से प्रकट होती हैं, इसलिये सब में बाहर इन्द्रिय आदिक हैं, उन के भीतर मन है, उस के अन्दर विशेष अहङ्कार है, उस के अन्दर सामान्य अहङ्कार है, उस के अन्दर मूल प्रकृति है, और उस के अन्दर पुरुष है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

“इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।

मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।

पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः”  
इति ॥

अर्थः—[पृथिव्यादितत्त्वों से बने] इन्द्रियों से गन्ध आदिक विषय सूक्ष्म वा श्रेष्ठ है, विषयों से मन आतिसूक्ष्म है, मन से निश्चयात्मक ज्ञान रूप बुद्धि सूक्ष्म है, बुद्धि से महान् आत्मा (हिरण्यगर्भ) सूक्ष्म है। महत्तत्त्व से अव्यक्त सूक्ष्म है, अव्यक्त से पुरुष सूक्ष्म हैं, और पुरुष से कोई भी सूक्ष्म नहीं है, वही सब का अन्त [हृद्] और वहीं तक जाने की अवधि है।

एवं सत्यत्र नानाविधसङ्कल्पविकल्पसाधनं  
कारणरूपं मनोऽहङ्कारि नियच्छेत् मनोव्या-

पारान् परित्यज्याहङ्कारमात्रं शेषयेत् ! न चै-  
तदशक्यमिति वाच्यम् ॥

अर्थः—इस प्रकार है, इस लिये मन का अहङ्कार में नि-  
रोध करना अर्थात् मन के व्यापार को त्याग कर केवल  
अहङ्कार को शेष रखे, इस का होना अशक्य है, ऐसा न जानो  
व्यों कि—

“तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्”

इति वदन्तमर्जुनं प्रति भगवतोचराभिधानात्—

अर्थः—इस मन का निग्रह होना, वायु को रोकने के  
समान बहुत ही कठिन है। इस भांति अर्जुन के प्रश्न के उत्तर  
में भगवान् श्री कृष्ण जी यों उत्तर देते हैं कि—

“असंशयं महाबाहो ! मनो दुर्निग्रहं चलम् ।

अभ्यासेन च कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।

वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायत” इति ॥

अर्थः—भगवान् बोले हे अर्जुन ! निःसन्देह मन अनि-  
वर्ण और क्लेश से अपने वश करने के योग्य है। परन्तु हे कौ-  
न्तेय ! वह अभ्यास और वैराग्य से वश किया जा सकता है।  
मन को न जीतने वाले को योग असम्भ दुर्लभ है ऐसा मेरा  
निश्चय है। परन्तु मन को वश करने हारे यत्न करते हुए पुरुष  
को उपाय द्वारा मिलने के योग्य है ॥

अभ्यासवैराग्ये पतञ्जलिसूत्रोदाहरणेन व्या-  
ख्यास्यते । पूर्वपूर्वभूमिदार्ढ्यरहितोऽसंयता-  
त्मा । तत्सहितो वश्यात्मा । उपायतः प्रा-  
प्तिं गौडपादाचार्याः सदृष्टान्तमाहुः—



अर्थ:—अभ्यास और वैराग्य का व्याख्यान पत्रजति जीने सुखों द्वारा किया है। पूर्व २ भूमिका का, जिस ने सुदृग्ता में जप कर लिया हो, उसे संयतात्मा अर्थात् देह इन्द्रियादिक को वश में करनेवाला समझो और जिस ने उन का जप न किया हो, उसे असंयतात्मा अर्थात् देहादिक को वशमें न रखनेवाला जानो ॥

उपाय से मन वश में होता है ऐसा दृष्टान्त सहित गौडपादाचार्य ने कहा है—

“उत्सेक उदधेर्यदत्त कुशाग्रेणैकविन्दुना ।

मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः ॥

बहुभिर्न विरोद्धव्यमेकेनापि बलीयसा ।

स पराभवमाप्नोति समुद्र इव टिटिभात्” इति ॥

अर्थ:—जैसे कुश के नोक से एक २ बून्द जल ले २ कर समुद्र को उवछने का काम, जो कायर न हो तो बन सकता है। उसी भांति खेद रहित हो तो, मन का निग्रह भी हो सकता है। एक पुरुष यद्यपि बलवान् हो तथापि उस को बहुतों के साथ विरोध न करना चाहिये। क्योंकि समुद्रने, तितीर पक्षी से हार माना उसी तरह वह पराभव को प्राप्त होता है। इस की कथा यों है—

अत्र संप्रदायविद् आख्यायिकामाचक्षते—

“कस्य चित्किल पक्षिणोऽण्डानि तीरस्थान्युदधिरुत्सेकेनापजहार । तत्र समुद्रं शोपयामीति प्रवृत्तः स च पक्षी स्वमुखाग्रेणैकैकं जलविन्दुं प्रतिक्षिपति । तदा बहुभिः पक्षिभिर्वन्धुवर्गैर्वार्यमाणोऽप्यनुपरतः प्रत्युत ता-

नपि सहकारिणो बभूवुः । तांश्च पतनोत्पतनाभ्यां बहुधा ह्लिश्यतः सर्वानवलोक्य कृपालुर्नारदो गरुडं समीपे प्रेषयामास । ततो गरुडपक्षवातेन शुष्यन्समुद्रो भीतस्तान्यण्डानि पक्षिणे ददौ” ॥

अर्थ:—यहां वेदान्त सम्प्रदाय के वेत्ता वृद्ध पुरुष इस प्रकार की आख्यायिका कहते हैं—किसी समुद्र के किनारे तितीर नामक पक्षी रहता था। एक समय तितीरीन को प्रसव का समय निकट आया, तब उस ने अपने पति से अण्डा कहाँ दूँगी ऐसा पूछा। इस पर तितीर ने समुद्र के तीर में ही अण्डा देने कहा। स्त्री ने कहा कि “समुद्र अण्डों को बहा ले जावेगा। तितीर ने उत्तर दिया कि ‘समुद्र पर इस से क्या भार होगा? तू खुशी से समुद्र के तीर जा कर अण्डा दो। अनेक प्रकार तितीरीन के समझाने पर भी उस ने समझा नहीं तब उस ने प्रसव किया अर्थात् समुद्र के तीरही में अण्डे दिये। समुद्र ने विचार किया कि ‘यह तितीर सरीखा छोटा सा पक्षी इतना बल दिखलाया है, तो जा कर देखूँ तो वह क्या करता है? ऐसा मन विचार कर उस के अण्डों को बहा ले गया और उन को सावधानता से एक ठिकाने रख दिया। तितीर इस की खबर सुनते ही क्रोध वश हो समुद्र को सुखाने के लिये चोंच में पानी का एक २ बून्द ले बाहर फेक ने लगा इस को देख अन्य पक्षियों ने भी उसे बहुत समझाया तौ भी उस ने एकभी न सुनी, और बोला जो इस समय मुझे तुम्हारी सलाह की जरूरत नहीं जो मुझे मदद करना हो तो करो नहीं तो तुम्हारी इच्छा। इसे अन्य पक्षियों ने भी उस के समान करना



अर्थ—इस को देख कर श्री नारदमुनि के जी में दया हुई इससे उनपक्षियों को सहायता के लिये गरुड को पास भेजा। और जब गरुड अपने पंख की हवा से समुद्र को सुखाने लगे तब उन को भग हुआ और नित्तिर को उमने अण्डे बापम दिये।

पञ्चमनेदेन मनोनिराधे परमधर्मे प्रवर्तमानं,  
योगिनमीश्वरोऽनुगृह्णाति अखेदश्च मध्ये-  
मध्ये तदनुकूलव्यापारमिश्रणेन सम्पाद्यते ।  
यथौदनं भुञ्जानस्वद्वासान्तरे चोष्यलेखादी-  
नास्वादयति तद्वत् । इदमेवाभिप्रेत्य वसिष्ठ  
आह—

अर्थ—इसी भांति खेद रहित हो मन के निरोधक सर्वोत्तम धर्ममें प्रवृत्त करने हुए योगी पर ईश्वर अनुग्रह करता है। इस से उन के मन का निरोध होता है। जैसे कोई मिष्टान्न खानेवाला पुरुष बीच २ में चूसने और चाटने की चीजों का स्वाद लेता जाता है जिस से उस को मिष्टान्न में अरुचि पैदा नहीं होती है, उसी प्रकार योगाभ्यासी पुरुष योग के अनुकूल अन्य व्यापारों का मेल करता है, जिस से वह योगाभ्यास में कायर नहीं होता है। इसी अभिप्राय को लेकर वसिष्ठ ने भी कहा है—

"चित्तस्य भोगैर्द्वौ भागौ शास्त्रेणैकं प्रपूरयेत् ।

गुरुशुश्रूषया भागमव्युत्पन्नस्य संक्रमः ॥

किञ्चित्कृत्युत्पत्तियुक्तस्य भागं भोगैः प्रपूरयेत् ।

गुरुशुश्रूषया भागौ भागं शास्त्रार्थचिन्तया ॥

व्युत्पत्तिमनुयातस्य पूरयेच्चैनसोऽन्वहम् ।

द्वौ भागौ शास्त्रवैराग्यैर्द्वौ ध्यानगुरुपूजया" इति ॥

अर्थ—भोग से चित्त के दो भाग पूर्ण करे, एक भाग शास्त्रों के विचार से और दूसरे को सद्गुरु की सेवा में पूरा करे। इस भांति योग में प्रवेश करने वाले चित्त का क्रम है। योग में कुछ भी कुशलता प्राप्त हुए चित्त के एक भाग को भोग से पूरा करे। दूसरे भाग को सद्गुरु की सेवा से पूरा करे और एक भाग को शास्त्रविचार से पूरा करे। योग में सब तरह कुशलता पाए हुए चित्त के दो भाग प्रति दिन शास्त्रविचार और वैराग्य से पूरा करे, तथा दो भाग ध्यान और गुरु पूजा से पूरा करे।

भोगशब्देनात्र जीवनहेतुर्भिक्षाटनादिव्यापा-  
रोवर्णाश्रमोचितव्यापारश्चोच्यते । घटिका-  
मात्रं मुहूर्त्तं वा यथाशक्ति योगमभ्यस्य ततो-  
मुहूर्त्तं शास्त्रश्रवणेन परिचर्यो वा गुरुननु-  
गम्य मुहूर्त्तं स्वदेहमनुस्मृत्य मुहूर्त्तं योगशा-  
स्त्रं पर्यालोच्य पुनर्मुहूर्त्तं योगमभ्यसेत् । एवं  
योगप्राधान्येन व्यापारान्तराणि मेलयंस्तानि  
द्रागभ्यस्य शयनकाले तद्दिनगतान्योगमुहूर्त्तान्  
गणयेत् । ततः परेशुर्वा परपक्षे वा प-  
रमासे वा योगमुहूर्त्तान् वर्धयेत् । तथा चै-  
कैकस्मिन् मुहूर्त्ते एकैकक्षणयोगेऽपि संवत्स-  
रमात्रेण भूयान् योगकालो भवति । न चैवं  
योगैकशरणत्वे व्यापारान्तराणि लुप्येर-  
न्निति शङ्कनीयम् । लुप्तेतरकृत्स्नव्यापारस्यैव  
योगेऽधिकारात् ।

अर्थ—यहां 'भोग' अर्थात् भिक्षा मांगना इत्यादि जी-



यदि एक घड़ी का योग और वर्षाश्रम के अनुकूल कर्म सम्पन्न हो जाय तो दो घड़ी या मुहूर्त मात्र या यथाशक्ति योगाभ्यास कर उस के बाद दो घड़ी शास्त्र श्रवण या गुरुकी सेवा करे, उस के बाद दो घड़ी शरीर क्रिया करे बाद उस के दो घड़ी शास्त्र विचार कर फिर दो घड़ी योगाभ्यास करे । इस भांति कर्त्तव्य में लगान पड़ योग को देकर उस के साथ अन्य व्यापार विजाग्रा जाकर सोते समय 'आज योग का काल कितना हुआ' इस की गणना करे । उस के बाद दूसरे दिन, दूसरे पक्ष, या दूसरे मास में योग के समय की वृद्धि करे । इस प्रकार एक मुहूर्त में एक क्षण के योग से भी वर्ष में बहुत योग काल हो जाता है । इन भांति प्रतिदिन योग में अधिक काल बिताने की धीरे २ अन्य काम नहीं बन सकते ? ऐसी शङ्का न करे, क्योंकि योग के विवाय अन्य कार्यों को लागने वाले ही योग में अधिकार है ॥

अतएव विद्वत्संन्यासोऽपेक्ष्यते । तस्मात्तदेकनिष्ठः पुमानध्येतृवणिगादिवत्क्रमेण योगारूढो भवति । यथाऽध्येता माणवकः पादांशं पादमर्धचं नृचं नृगद्वयं वर्गं च क्रमेण पठन्द्वादशवर्षैरध्यापको भवति । यथा च वणिज्यं कुर्वन्नेकनिष्कद्विनिष्कादिक्रमेण लक्षपतिः क्रोडपतिर्वा भवति तथा ताभ्यां वणिगध्येतृभ्यां सहस्रोपक्रम्य मत्सरग्रस्त इव युञ्जानमनावता कालेन कुतो न योगमारोहेत् । तस्मान्पुनः पुनः प्राप्यमाणान् सङ्कल्पविकल्पानुद्दालकवत्पौरुषप्रयत्नेन परि-

त्यज्याहङ्कर्तारि ज्ञानात्मनि मनो नियच्छेत् । तामेतां द्वितीयभूमिकां विजित्य बालमुकादिवन्निर्मनस्त्वे स्वाभाविके सति ततो विशेषाहङ्काररूपं विस्पष्टं ज्ञानात्मानमस्पष्टे सामान्याहङ्कारे महत्तत्त्वे नियच्छेत् । यथा स्वल्पां तन्द्रां प्राप्तवतो विशेषाहङ्कारः स्वत एव सङ्कुचति विनैव तन्द्रां तथा विस्मरणं प्रयतमानस्याहङ्कारसङ्कोचो भवति सयं लोकप्रसिद्ध्या तन्मया तार्किकाभिमतनिर्विकल्पकज्ञानेन च समाना महत्तत्त्वमात्रपरिशेषावस्था तृतीया भूमिः । अस्यां चाभ्यासपाटवेन वशीकृतायां तमेतं सामान्याहङ्काररूपं महान्तमात्मानं निरुपाधितया शान्ते चिदेकरसस्वभावे नियच्छेत् ।

अर्थः—इस से ही विद्वत्संन्यास की योग की निधि के द्विजे अपेक्षा है । इस लिये योगपरायण पुरुष, विद्यार्थी और व्यापारी के समान धीरे २ योगारूढ होता है । जैसे वेदाध्ययन करनेवाले विद्यार्थी पहिले, पाद का आधा, फिर पाद, तब आधी ऋचा, पूरी ऋचा, दो ऋचा, और वर्ग इसी भांति क्रम से अधिक २ पढ़ता बारह वर्ष में स्वयं अन्य को वेद पढ़ानेवाला हो जाता है । तथा जैसे व्यापारी एक रुपैया, दो रुपये, इस भांति प्रति दिन उपार्जन करते २ क्रमशः लक्षपति, या क्रोडपति होता है, उसी तरह योगी भी क्रमशः योग की अभिवृद्धि करता २ उत ने ही समय में योगारूढ क्यों न हो वे ? तिस कारण से बार २ उठे हुए सङ्कल्प विकल्पों को उद्दालक मुनि के



समान प्रमाण में छंद कर विशेष अहङ्कार जिन को ज्ञानात्मा कहते हैं उस में मन का निरोध करे। इस भाँति दूसरी भूमिका का जय कर, बाह्य या सूक्ष्म के समान अमनस्कता के सामासिक मिद्ध होने पर स्फुटस्वरूपवाला विशेष अहङ्कार जिन को ज्ञानात्मा कहते हैं उस का अस्फुट सामान्य अहङ्कार महत्तत्त्व में लय करे। जैसे सत्य तन्द्रा (आधी नीन्द) के यश हृष्ट पुरुष का विशेष अहङ्कार स्वयं संकुचित हो जाता उसी तरह विशेष अहङ्कार के विस्मरण होने के लिये मन करना योगी का अहङ्कार, निद्रा बिना सङ्कोच को प्राप्त हो जाता है। या लोक समिद्ध तन्द्रा के समान या नैयायिक के माने हुए निर्विकल्प ज्ञान के समान अवस्था जिन में महत्तत्त्व सामान्य अहङ्कार शेष रहता है। उस को तीसरी भूमिका कहते हैं। इस भूमिका को अभ्यास में जीतने पर यह सामान्य अहङ्कार का निरुपाधि होने से शान्त शुद्ध चैतन्य स्वरूप में निरोध करे॥

“महत्तत्त्वं तिरस्कृत्य चिन्मात्रं परिशेषयेत्” ॥

अत्रापि पूर्वोक्तविस्मृतिप्रयत्न एव ततोऽप्यतिशयेनोपायतामापद्यते। यथा शास्त्राभ्यासप्रवृत्तस्य व्युत्पत्तेः प्राक् प्रतिग्रन्थं व्याख्यानापेक्षायामपि व्युत्पन्नस्य स्वत एवोत्तरग्रन्थार्थः प्रतिभाति तथा सम्यगवशीकृतपूर्वभूमेर्योगिन उत्तरभूम्युपायः स्वत एव प्रतिभाति। तदाह योगभाष्यकारः—

अर्थः—‘महत्तत्त्व को भूल जाय और चैतन्य को ही शेष रखे’ ऐसा वाक्य है। ऐसा होने पर भी महत्तत्त्व को विस्मरण करने का प्रयत्न ही विशेष उपाय है। जैसे शास्त्र के अभ्यास

महत्तत्त्व हृष्ट पुरुष को व्युत्पत्ति होने के पहिले प्रत्येक ग्रन्थ के व्याख्यान की अपेक्षा रहती है, परन्तु व्युत्पत्ति होने पर उस को उत्तर ग्रन्थों का अर्थ अपने आप फुरता है, उसी तरह जिन ने प्रथमभूमिका का जय कर लिया है, उस को उत्तर भूमिका के जय का उपाय अपने आप मालूम हो जाता है। यही बात व्यास जी योगभाष्य में कहते हैं—

“योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्तते  
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगी रमते चिरम्”  
इति ॥

योग उत्तरभूमिका योगेन ज्ञातव्यो योगो योगात् प्रवर्तते। यो योगाप्रमत्तो योगेन पूर्वभूमिकोत्तरभूमिकायोगेन स योगी रमते चिरमिति।

अर्थः—उत्तर भूमिका रूप योग को योग द्वारा पूर्वभूमिका में जाने। योग द्वारा योग में प्रवृत्ति होती है। जो योगी योग में प्रमाद रहित होता, वह योगी पूर्व भूमिका के जय पूर्व उत्तरोत्तर भूमिका की प्राप्ति से चिरकाल अर्थात्काल मुक्त का अनुभव करता है।

ननु महत्तत्त्वशान्तात्मनोर्मध्ये महत्तत्त्वोपादानमव्यक्ताख्यं तत्त्वं श्रुत्यादाहतम्, तत्र कुतो नियमनं नाभिधीयत इति चेन्न ॥

अर्थः—शङ्का—महत्तत्त्व और निरुपाधि शान्तात्मा के मध्य महत्तत्त्व का उपादान अव्यक्त (प्रकृति) नाम का तत्त्व श्रुति ने कथन किया है, इस लिये महत्तत्त्व का अव्यक्त में नियमन क्यों नहीं कहा?



लघुप्रसङ्गादिति श्रुतः । यथा पटोऽनुपादाने  
जले निरुपमानो न लीयते, उपादानभूतायां  
तु वृद्धिं लीयते तथा महत्तत्त्वमात्मनि न ली-  
यते । अव्यक्तं तु लीयते । नच स्वरूपलया  
पुरुषार्थः, आत्मदर्शनानुपयोगात् ।

अर्थः—समाधान—महत्तत्त्व ( सामान्य अहङ्कार ) का उस  
के उपादान प्रकृति में निरोध करने से उस का लय हो जाता  
है । जैसा पट को जल या जो उस का उपादान नहीं, उस में  
डुबाने से उस का लय नहीं होता है, परन्तु पट्टी में उस का  
लय होता है । वैसे शुद्ध चैतन्य महत्तत्त्व का उपादान न होनेसे,  
उस में उस का लय नहीं होता । परन्तु अव्यक्त में लय होता है,  
क्योंकि वह उस का उपादान है । अन्तः करणकी एकाग्रता  
आत्मदर्शनका कारण होने से पुरुषार्थ है, उस का लय पुरुषार्थ  
रूप नहीं ।

“हृद्यते त्वग्गया युज्या सुक्ष्मया सुक्ष्मदर्शिनः”  
इति पुरुषार्थे आत्मदर्शनमभिधानात् सुक्ष्म-  
त्वाच्च निरोधस्याभिधानात् त्वस्य प्र-  
तिदिनं सुपुष्टौ स्वतः सिद्धत्वेन प्रसन्नैव-  
ध्यात्वेन ।

अर्थः—सूक्ष्मदर्शी पुरुष सूक्ष्म और एकाग्र बुद्धि से आ-  
त्मा का दर्शन करता है ।

जो अन्तः करण का लय पुरुषार्थ होता तो प्रति दिन  
सुपुष्टि समय पर स्वयं सिद्ध हो, इस लिये उस के लिये सा-  
धन निष्कल है ।

अनु धारणा ध्यान समाधिभिः साध्यम् स

प्रज्ञातस्यैकाग्र्यवृत्तिरूपत्वेन दर्शनहेतुत्वेऽपि  
शान्तात्मन्यवच्छेदस्य संप्रज्ञातसमाधिमापन्न-  
स्य चित्तस्य दृष्टिरहितत्वेन सुपुष्टिचक्षुर्दर्शन-  
हेतुत्वमिति चेन्न ।

अर्थः—शङ्का,—धारणा, ध्यान, और समाधि द्वारा सिद्ध  
होनेवाली सम्प्रज्ञात समाधि, एकाग्रवृत्तिरूप होने से वह आत्म  
दर्शन का हेतु है, यह बात निर्विवाद है, परन्तु शान्तात्मा में  
निरोध करने से असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त हुए का चित्त  
रहित रहित है, अतएव सुपुष्टि के समान वह आत्म दर्शन का  
कारण सम्भव नहीं ।

स्वतः सिद्धस्य दर्शनस्य निवारयितुमशक्यत्वात् ।  
अतएव श्रेयोमार्गेऽभिहितम् ।

अर्थः—समाधान—आत्मदर्शन स्वतः सिद्ध होने से उस  
का वारण उस भांति नहीं हो सकता है, इसी कारण श्रेयोमार्ग  
नामक ग्रन्थकार ने कहा है कि—

“आत्मानात्माकारं स्वभावतोऽवस्थितं सदा  
चित्तम् । आत्मैकाकारतया तिरस्कृतानात्म-  
दृष्टिं विदधीत” इति ॥

अर्थः—चित्त स्वभाव से ही आत्माकार या अनात्मकार  
स्थित रहता है । इस लिये उस को अनात्म दृष्टि का तिरस्कार  
पूर्वक आत्माकार करे ॥

यथा घट उत्पन्नमानः स्वतो विघटपूर्ण एवो-  
त्पद्यते, जलतण्डुलादिपूरणं तूत्पन्ने घटे पश्चा-  
त्पुरुषप्रपन्नेन भवति । तत्र जलादौ निःसा-  
रितेऽपि न विघासः सारयितुं शक्यते, सु-







प्रत्यक्षत्वातिरोधसमाध्यात्मदर्शने तत्र न  
साक्षात्कृतम् । अङ्गयन्तरेण त्वभ्युपगम्यते ।

अर्थः—योगशास्त्री चित्त का राग आदिक रोग हटाने  
वाले समाधि के ही प्रतिपादन में प्रवृत्ति है, अतएव उस में  
समाधिकाल में आत्मदर्शन का साक्षात् कथन नहीं किया है,  
तथापि उन में प्रकारान्तर से आत्मदर्शन स्वीकार किया है ।

“योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः” इति सूत्रपित्वा  
“तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्” इति सूत्र-  
णात् । यद्यपि निर्विकारो द्रष्टा सदा स्वरूप  
एवावतिष्ठते तथाऽपि वृत्तिपूतपश्यमानासु  
तत्र चिच्छायायां प्रतिबिम्बितायां तद-  
विवेकादस्वस्थ इव द्रष्टा भवति । तदप्यन-  
न्तरसूत्रेणोक्तम्—“वृत्तिसारूप्यमितरत्र” इति ।

अन्यत्रापि सूत्रितम् ।

अर्थः—चित्तवृत्ति के निरोध का नाम योग है । इस सूत्र  
को कह कर समाधि में द्रष्टा की अपने स्वरूप में स्थिति होती  
है । ऐसा सूत्र दिया है । यद्यपि निर्विकार द्रष्टा सदा स्वरूप में  
ही स्थित होता है, तथापि वृत्तियां जब तक उठा करती तब तक उन  
में चैतन्य का प्रतिबिम्ब पडने से, अविवेक के कारण द्रष्टा भी  
विकारी समान हो जाता है । यह बात भी पतञ्जलि मुनि ने  
कथन किया है योग के सिवाय अन्य अवस्था में आत्मा वृत्ति-  
के साथ तादात्म्य को प्राप्त हुआ प्रतीत होता है—अन्य स्थल  
में भी पतञ्जलि ने कहा है ।

“सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययावि-  
शिषो भोगः परार्थत्वात्” इति ॥

अर्थः—बुद्धि और आत्मा असन्त भिन्न हैं, बुद्धि का सृज्य  
पारिणाम जो पुरुष में प्रतिबिम्ब द्वारा प्रतीत होता है  
यह भोग है यह भोग दृश्य होने से पुरुष के लिये है । अन्य  
वृत्त—है ।

“चित्तेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वधु-  
द्विसंवेदनम्” इति च । निरोधसमाधिना  
शोधिते त्वम्पदार्थे साक्षात् कृतेऽपि तस्य  
ब्रह्मत्वं गोचरयितुं महावाक्येन ब्रह्मविद्या-  
नामकं वृत्त्यन्तरमुत्पद्यते । न च शुद्धत्वंपदा-  
र्थसाक्षात्कारे निरोधसमाधिरेक एवोपायः ।  
किं तु चिज्जडविवेकेनापि पृथक्कृते तत्सा-  
क्षात्कारसम्भवात्—अतएव वसिष्ठ आह ।

अर्थः—चित्तिशक्ति ( पुरुष ) जिस का अन्यत्र गमन  
नहीं होता, उस की छाया बुद्धि में पड कर बुद्धि के आकार  
को प्राप्त होने से अपना भोग्य ऐसी बुद्धि का ज्ञान होता है  
निरोध समाधि द्वारा शोधन करने पर पदार्थ के साक्षा-  
त्कार करने पर भी उस को ब्रह्मपन का साक्षात् अनुभव होने  
के लिये, श्री सद्गुरु के मुख से महावाक्य के सुनने से ब्रह्म-  
विद्या नामक एक प्रकार की वृत्ति उत्पन्न होती है । शुद्ध ‘त्वं’  
पदार्थ के साक्षात्कार में केवल निरोधसमाधि ही उपाय रूप  
नहीं परन्तु श्रीगुरु उपदिष्ट युक्ति द्वारा चैतन्य और जड का  
विवेक करने से जड से भिन्न स्वरूप द्वारा त्वं पदार्थ रूप प्रसक्  
आत्मा का साक्षात्कार होता है । इस लिये वसिष्ठ भग-  
वान् कहते हैं ।

“हौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव ? ।



योगसूत्रनिर्णयो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्" इति ।  
असाध्यः कस्य चिद्योगः कस्यचिज्ज्ञाननिश्चयः  
प्रकारोऽनन्तं देवो जगाद् परमेश्वरः" इति ॥

अर्थः—हे राम चन्द्र ! चित्त का नाश दो प्रकार का है । एक योग और दूसरा ज्ञान है । मन के वृत्ति के निरोध को योग कहते हैं ! और यथार्थ विचार को ज्ञान कहते हैं । इनमें से किसी को योग असाध्य है, अर्थात् बनना अशक्य है, और किसी को ज्ञान का निश्चय असाध्य है, इस लिये श्री परमेश्वर—शङ्करजी ने दो प्रकार कहा है ।

ननु विवेकोऽपि योगे पर्यवस्यति दर्शनवेला-  
यामात्ममात्रगोचराया एकाग्रवृत्तेः क्षणिक-  
संप्रज्ञातरूपत्वात् ।

अर्थः—शङ्का, आत्मा का दर्शन करते समय केवल आत्मा को ही ग्रहण करने वाली एकाग्रवृत्ति क्षणिक संप्रज्ञात समाधि होने से विवेकरूप ज्ञान भी वस्तुतः योग ही है अतः एक योग से ज्ञान का अलग मानने में कोई कारण नहीं है ।

वाढम् । तथाऽपि संप्रज्ञातासंप्रज्ञातयोः स्वरूपतः साधनतश्चास्येव महद्वैलक्षण्यम् । वृत्त्यवृत्तिभ्यां स्फुटः स्वरूपभेदः । साधनं तु संप्रज्ञातस्य सज्जातीयव्याहारणादि त्रयमन्तरङ्गम् । असंप्रज्ञातवृत्तिकस्य विजातीयत्वाद्बहिरङ्गम् । तथा च सूत्रम् "तदपि बहिरङ्गं निर्वीजस्य" इति । विजातीयत्वेऽपि बहुविधानां वृत्तिनिवारणेनोपकारितया बहिरङ्गत्वमविरुद्धम् । तदेवोपकारित्वं विशद-

यितुं सूत्रयति—

अर्थः—समाधान,—तुम्हारा कहना वास्तविक है, तथापि संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात समाधि के स्वरूप में और उस के साधन में बहुत फरक हैं । संप्रज्ञात समाधि में वृत्ति का सद्भाव रहता है और असंप्रज्ञात समाधि में वृत्ति का अभाव होता है । यही दोनों के स्वरूप में भेद जानो । धारणा, ध्यान, और समाधि ये तीन अङ्ग संप्रज्ञात समाधि में अन्तरङ्ग साधन हैं, क्योंकि वे संप्रज्ञात समाधि के सजातीय हैं । सजातीय इस लिये हैं कि वे धारणादि तीन अङ्ग में वृत्ति होती है, वैसे संप्रज्ञात समाधि में भी वृत्ति होती है । पूर्वोक्त तीन अङ्ग असंप्रज्ञात समाधि जो वृत्तिरहित है, उन का बहिरङ्ग साधन है । यह बात भगवान् पतञ्जलि कहते हैं—“वे धारणा आदिक तीन अङ्ग निर्वीज असंप्रज्ञात समाधि का बहिरङ्ग साधन है” धारणा आदि तीन अङ्ग वृत्ति युक्त होने से असंप्रज्ञात समाधि में विजातीय होता हुआ अनेक प्रकार की अनात्माकार वृत्ति के निवारण द्वारा उस में उपकारक होने से उन को बहिरङ्ग साधन मानने में कोई विरोध नहीं । उन की उपकारकता पतञ्जलि मुनि सूत्रों से कहते हैं—  
“श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्”

अर्थः—और अन्य को श्रद्धा उत्साह, स्मृति, एकाग्रता, विवेकरूपाति ( प्रकृति पुरुष के अलग रहने का ज्ञान ) द्वारा संप्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है । और उस के होने के बाद पर वैराग्य द्वारा असंप्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है ।

केषां चित् देवार्दीनां पूर्वसूत्रे जन्मनैव समाधिमुक्त्वा मनुष्यान् प्रत्येतदुच्यते । समाधिं योग एव परमपुरुषार्थसाधनमिति प्रत्ययः



श्रद्धा । सा चात्कर्षश्रवणेनोपजायते । तदु-  
त्कर्षश्च स्मर्यते ।

अर्थः—श्रद्धावीर्य० इस सूत्र से पहिले के सूत्र में कई एक  
देव आदिक को जन्म से ही समाधि सिद्ध हुई है, इस बात  
को कहकर मनुष्य को समाधि की सिद्धि होने का उपाय इस  
सूत्र में बताया है । मेरा जो योग ही परम पुरुषार्थ है, इस प्र-  
कार के दृढ़ निश्चय को श्रद्धा कहते हैं । यह श्रद्धा योग की  
श्रेष्ठता के श्रवण करने से उत्पन्न होती है । योग की श्रेष्ठता  
श्रीकृष्ण ने गीता में कथन किया है—

“तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि सतोऽधिकः ।  
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन” ?  
इति ॥

अर्थः—हे अर्जुन ! तपस्या करने वाले ज्ञाननिष्ठ और  
अग्नि होव आदिक कर्म करने वाले जो पुरुष हैं उन से योगी  
श्रेष्ठ है, इस लिये तू योगी हो ।

उत्तमलोकसाधनत्वात्कृच्छ्रचान्द्रायणादित-  
पसो ज्योतिष्टोमादिकर्मणश्च योगोऽधिकः ।  
ज्ञानं प्रत्यन्तरङ्गत्वाच्चित्तविश्रान्तिहेतुतया  
ज्ञानादप्यधिकत्वम् । एवं ज्ञानतो योगे श्रद्धा  
जायते । तस्यां च श्रद्धायां वासितायां वी-  
र्यमुत्साहो भवति सर्वथा योगं सम्पादयि-  
ष्यामीति । एतादृशेनोत्साहेन तदानुष्ठेयानि  
योगाङ्गानि स्मर्यन्ते ।

अर्थः—योग उत्तम लोक का साधन होने से कृच्छ्र चान्द्रा-  
यण आदिक तप से और ज्योतिष्टोम आदिक यज्ञरूप कर्म से

अधिक है, उभी तरह वह चित्त विश्रान्ति का हेतु होने से  
ज्ञान का अन्तरङ्ग साधन है । इस प्रकार से योग की श्रेष्ठता  
दिसवाने से उस में श्रद्धा उत्पन्न होती है । यह श्रद्धा जब दृढ़-  
बन्ध जाती है तब सर्वथा मुझे योग सिद्ध करना है ही ऐसा  
उन्माह होता है उन्माह उत्पन्न होने पर अवश्य सेवने योग्य  
योगाङ्ग का स्मरण होता है ।

तथा च स्मृत्या सम्यगनुष्ठितसमाधेरध्यात्म-  
प्रसादे सत्युत्तम्भरा प्रज्ञोदेति । तत्प्रज्ञापूर्व-  
कस्तत्प्रज्ञाकारणकोऽसम्प्रज्ञातसमाधिरितरे-  
षां देवादिभ्यांऽर्वाचीनानां मनुष्याणां सि-  
द्ध्यति । तां च प्रज्ञां सूत्रयति ।

अर्थः—स्मरण होने पर वह अधिकारी पुरुष श्री सद्गुरु के  
अनुग्रह से समाधि को सिद्ध करता है । उस की सिद्धि होने पर  
अध्यात्म प्रसाद अर्थात् भूत भावि सब पदार्थ को एक काल में  
ग्रहण करने वाली बुद्धि का प्रकाश होता है । अध्यात्मप्रसाद  
होने से ऋतं भरा ( वस्तु के यथार्थ स्वरूप को प्रकाश करने  
हारी ) बुद्धि उत्पन्न होती है । ऐसी बुद्धि जिस में कारण है  
ऐसी असम्प्रज्ञात समाधि देवादि से इतर मनुष्य को सिद्ध होती  
है । भगवान् पतञ्जलि ऋतम्भरा प्रज्ञा का यों कथन करते हैं—

“ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा” इति ।

ऋतं सत्यं वस्तुयाथात्म्यं विभर्ति प्रकाशय-  
तीति ऋतम्भरा । तत्र तस्मिन्समाध्युत्कर्ष-  
जन्येऽध्यात्मप्रसादे सतीत्यर्थः । ऋतम्भरोप-  
पत्तिं सूत्रयति ।

अर्थः—उस निर्विचार समाधि में स्थिर चित्त की जो



होती है उसे कृतम्भरा कहते हैं। कृतम्भरा मज्ञा की है।  
उस को संप्रति मगमान दिखाने हैं—

“अतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषाधिकार-  
त्वात्” इति ।

अर्थः—जो बुद्धि श्रवण ( सुने ) और अनुमान में होती  
है। उन में भिन्न विशेष विषयवाली समाधिविषयिणी होती है।

सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टवस्तुष्वयोगिप्रत्यक्षं न  
प्रवर्तते । आगमानुमानाभ्यां तानि वस्तु-  
न्ययोगिभिर्ज्ञायन्ते । ते च शास्त्रानुमानजन्ये  
प्रज्ञे वस्तुसामान्यमेव गांचरयतः । इदं तु  
योगिप्रत्यक्षं विशेषवस्तुगांचरत्वादनम्भर-  
म् । तस्य योगिप्रत्यक्षस्यासम्प्रज्ञातसमाधि-  
यहिरद्वयसिद्धयर्थमुपकारित्वं सूत्रयति ।

अर्थः—सूक्ष्म, निकट के पदार्थ, और दूरस्थ पदार्थ का प्रत्य-  
क्ष ज्ञान योगी के सिवाय अन्य को नहीं होता है। शब्द प्रमाण  
और अनुमान प्रमाण से माधारण (योगी नहीं) पुरुष को सामान्य  
ज्ञान हो सकता है। योगिपुरुषों का प्रत्यक्ष ज्ञान तो वस्तु के  
विशेष आकार को ग्रहण करता है, इस लिये उस के बुद्धि का  
कृतम्भरा होना सम्भव है। यह योगी का प्रत्यक्ष ज्ञान अस-  
म्प्रज्ञात समाधि में बाहिरद्व साधन है, इस बात को सिद्ध करने  
के लिये उस का असम्प्रज्ञात समाधि में उपकारकता परब्रह्म  
मुनि ने सूत्र से कथन किया है—

“तज्ज्ञः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिवन्धी” इति ॥

अर्थः—समाधिप्रज्ञा से उत्पन्न हुए संस्कार से अन्य संस्कार  
नष्ट हो जाते हैं।

असंप्रज्ञातसमाधेर्यहिरद्वसाधनमुक्त्वा तन्नि-  
रोधप्रयत्नस्यान्तरद्वसाधनतां सूत्रयति ।

अर्थः—असंप्रज्ञातसमाधि का बाहिरद्व साधन कह कर अब  
असंस्कार के निरोध करने के लिये प्रयत्न की अन्तरद्व सा-  
धना को कहते हैं ।

“तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्वीजः समा-  
धिः” इति ।

अर्थः—जब संस्कारों का समाधि द्वारा निरोध हो जाता  
तो निर्वीज ( निर्विकल्प ) समाधि होती है।

सोऽयं समाधिः सुषुप्तिसमानः साक्षिचैत-  
न्येनानुभावितुं शक्यः । न चासौ सर्वधीवृत्ति-  
राहित्यात्सुषुप्तिरेवेति शङ्कनीयम् । मनःस्व-  
रूपसदसत्त्वाभ्यां विशेषात् । तदुक्तं गौडपा-  
दाचार्यः ।

अर्थः—इस सुषुप्ति के समान असंप्रज्ञात समाधि का अ-  
नुभव साक्षिचैतन्य कर सकता है। सब वृत्तियों का निरोध जैसे  
सुषुप्ति में होता है, उसी भान्ति असंप्रज्ञात समाधि में भी होता-  
है। इस लिये वह सुषुप्ति अवस्था है ऐसी शङ्का यहां न करे।  
क्योंकि सुषुप्ति में मन के स्वरूप का लय हो जाता है, और  
इस समाधि में तो मन रहता है, इतना सुषुप्ति और समाधि में  
फरक है।

यह बात गौडपादाचार्य ने भी कथन किया है—

“निगृहीतस्य मनसो निर्विकल्पस्य धीमनः ।

प्रचारः स तु विज्ञेयः सुषुप्त्यन्यो न तन्ममः ॥

लीयते हि सुषुप्तौ तन्निगृहीतं न लीयते ।



तदेव निर्भयं ब्रह्म ज्ञानालोकं समन्ततः" इति ॥

अर्थः—ब्रह्मज्ञान ही भयनाशक है।

अर्थः—बुद्धिमान पुरुष का निग्रह किये हुए निर्विकल्पक ज्ञान ही ब्रह्म है। क्योंकि सुषुप्ति में मन लय को प्राप्त होता है। तब तब पुरुष का मन को नहीं प्राप्त होता। तब ही ज्ञान का प्रकाश रूप निर्भय ब्रह्म है।

सांख्यशास्त्र में भी इसी भांति सुन पड़ता है—

‘द्वैतस्याग्रहणं तुल्यबुभूयोः प्राज्ञतुर्ययोः

वीजनिद्रायुतः प्राज्ञः सा च तुर्ये न विद्यते ॥

स्वप्ननिद्रायुतावायौ प्राज्ञस्त्वस्वप्ननिद्रया ।

न निद्रां नैव च स्वप्नं तुर्ये पश्यन्ति निश्चिताः ॥

अन्यथा गृह्णतः स्वप्नो निद्रा तत्त्वमजानतः ।

विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते" इति ।

अर्थः—प्राज्ञ (सुषुप्ति का अभिमानी) और तुरीय अवस्था में स्थित पुरुष को द्वैत की अपतीति समान है। क्योंकि प्राज्ञ वीजरूप निद्रा से युक्त है, और तुरीय में निद्रा नहीं रहती। तब ही प्राज्ञ और तुरीय में अन्तर है। विश्व और वैश्व, स्वप्न और निद्रा युक्त हैं। और प्राज्ञ स्वप्न रहित केवल निद्रा युक्त है। तुरीय अवस्था में निश्चयवाला पुरुष को निद्रा और स्वप्न दोनों को देखता नहीं। अन्यथा ग्रहण करने वाले को स्वप्न है, और तत्त्व को जो नहीं जानता उसे निद्रा है। तब आत्मवस्तु का अग्रहण और अन्यथा ग्रहण क्षय को प्राप्त होते हैं। तब तुरीय अवस्था को अनुभव करता है।

अर्थात् विश्वतैजसौ । अद्वैतस्य यस्तु नोऽन्य-

अग्रहणं नाम द्वैतरूपेण प्रतिभासः । स च

विश्वतैजसयोर्वर्तमानः स्वप्न इत्युच्यते ।

तत्त्वस्याज्ञानं निद्रा । सा च विश्वतैजसप्रा-

प्त्यो वर्तते । तयोः स्वप्ननिद्रयोः स्वरूपभूतयो-

र्विपर्यासो मिथ्याज्ञानम् । तस्मिन्विद्यया

क्षीणे सति तुरीयं पदमद्वैतं वस्त्वश्नुते ।

अर्थः—अद्वैत आत्मवस्तु का अन्यथा ग्रहण अर्थात् द्वैत से अपतीति समझनी इस द्वैत की अपतीति विश्व को जाग्रत अवस्था में है, तथा तैजस को स्वप्न अवस्था में है। इस लिये दोनों अवस्था को यहाँ स्वप्न संज्ञा से कहा है। आत्मतत्त्व का अज्ञान निद्रा है। इस जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति का अभिमानी विश्व जित, और प्राज्ञ इन तीनों में है। जब यह स्वप्न और निद्रा का विपर्यास मिथ्याज्ञान विद्या करके क्षय को प्राप्त होता है, तब अर्थात् आत्मवस्तु का अग्रहण और अन्यथा ग्रहण क्षय को प्राप्त होते हैं। तब तुरीय अर्थात् अद्वैत पद का पुरुष अनुभव करता है।

तत्त्वस्त्वेवमसंप्रज्ञातसमाधिस्तुष्टुपुण्योर्महान भेदः । तत्र तत्त्वदिदृक्षोर्दीर्घानसाधनत्वेन समाध्यपेक्षायामपि दृष्टतत्त्वस्य जीवन्मुक्तये नास्ति तदपेक्षा । रागद्वेषादिक्लेशवन्धस्य तुष्टुपुण्याऽपि निवृत्तेः ।

अर्थः—शङ्का—जिस को तत्त्वदर्शन की इच्छा है, उस को समीप या जो आत्मसाक्षात्कार का साधन है, उस की अपेक्षा न ले दो, परन्तु जिस को विविदिता सन्ध्या में ही आश्रित हो चुका है, उस को जीवन्मुक्ति के लिये समाधि का



कोई प्रयोजन नहीं दीख पड़ता है । क्योंकि राग द्वेष आदि क्लेश रूप बन्ध की निवृत्ति तो सुषुप्ति जो अनायास में जीव को प्राप्त होती है, उस के द्वारा भी होता है ।

मैत्रम् । किं प्रतिदिनं स्वतः प्राप्ता कादाचित्की सुषुप्तिर्यन्धानिवर्त्तिका, किं वाऽभ्यासेन निरन्तरवर्त्तिना । आद्येऽपि किं सुषुप्तिकालानस्य क्लेशयन्धस्य निवृत्तिः किं वा कालान्तरवर्त्तिनः । नाऽऽद्यः । अप्रसक्तेः । नहि मूढानामपि सुषुप्तौ क्लेशयन्धः । अन्यथाऽऽयासः प्रसज्येत । न द्वितीयः । असम्भवात् । न अन्यकालीनया सुषुप्त्या कालान्तरवर्त्तिनः क्लेशस्य क्षयः सम्भवति अन्यथा मूढानामपि जागरणस्वप्नयोः क्लेशस्य क्षयः प्रसज्येत । नापि सुषुप्तौ नैरन्तर्यमभ्यासितुं शक्यम् । तस्याः कर्मक्षयनिमित्तत्वात् । तस्मात्तत्त्वविदोऽपि क्लेशक्षयायास्त्येवासंप्रज्ञातसमाध्यपेक्षा । तस्य च समाधेर्गवादिष्विव बाह्यनिरोधः प्रथमा भूमिः । बालमूढादिष्विव निर्मनस्त्वं द्वितीया । तन्व्यामिवाहङ्कारराहित्यं तृतीया । सुषुप्ताविव महत्तत्त्वराहित्यं चतुर्थी । तदेतद्भूमिचतुष्टयमभिप्रेत्य शनैः शनैरुपरमेदित्युक्तम् । अत्र चापरमे धृतिगृहीता बुद्धिः साधनं महदहङ्कारमनोवागादीनां स्वत एव तीव्रवेगेन बहिः प्रवहतां कूलकृपाया नया इव निरोधे धैर्यं महदपेक्षितम् । बुद्धिर्बि-

वंकः भूमिर्जिता न वेति परीक्षा । जिताया उत्तरभूम्युपक्रमः । अजितायां तु सैव पुनरभ्यासनीयेति तदा तदा विविच्यतात् । आत्मसंस्थमित्यादिना सार्द्धलोकैक्येन चतुर्थभूम्यभ्यासोऽपि स्मृतः । गौडपादाचार्या आहुः ।

अर्थः—समाधान—प्रतिदिन स्वयं अल्पकालपर्यन्त जो सुषुप्ति होती है, वह क्लेशरूप बन्ध का निवर्त्तक है, ऐसा तुम कहते हो ? या अभ्यास में सदा रहनेवाली सुषुप्ति को बन्ध निवर्त्तक कहते हो ? स्वल्प काल हुई सुषुप्ति को क्लेश बन्ध निवर्त्तक कहते हो तो वह, सुषुप्ति समय के क्लेश को हटाता है ? या अन्य समय के क्लेश को भी हटाता है ? जो कहो कि सुषुप्ति समय के क्लेश को हटाता है, तो वह बात सम्भव नहीं । क्योंकि उस समय क्लेश का प्रसङ्ग ही नहीं, तो किस को हटाता है ? मूढ़ पुरुष को सुषुप्ति बन्ध नहीं होता है । जो बन्ध होवे तो, उस को हटाने के लिये प्रयत्न करना पड़े । जो कहो कि वहाँ अन्य अवस्था के क्लेश को हटाता है, तो सो सम्भव नहीं क्योंकि अन्य काल में रही हुई सुषुप्ति से कालान्तर में रहे क्लेश की निवृत्ति सम्भव नहीं । जो वैसा हुआ हो तो मूढ़ पुरुषों का भी जाग्रत और स्वप्न के क्लेश का क्षय हो जावे । सदा सुषुप्ति की अनुवृत्ति रखने का अभ्यास नहीं बन सकता । क्योंकि सुषुप्ति का कारण कर्मक्षय है । इस लिये तत्त्वज्ञ पुरुष को भी क्लेश का क्षय करने के लिये असंप्रज्ञात समाधि की अपेक्षा है । जैसे गाय, भैंस आदिक पशुओं को स्वतः सिद्ध वाणी निर्गम्य है, उस प्रकार का वाणी निरोध होना यह सम्प्रज्ञात समाधि की पहिली भूमिका है । बालक और मूढ़ के समान मन रहित होना यह



दूसरी भूमिका है । तन्द्रा में स्थित पुरुष के समान अहङ्कार रहित होना यह तीसरी भूमिका जानना । सुषुप्ति के समान महत्त्व ( बुद्धि ) रहित पन यह चौथी भूमिका है । इन चार भूमिकाओं को क्रमशः अभ्यास करने के अभिप्राय में 'धीरे २ उपराम को प्राप्त हो ऐसा कहा है । धीरे २ उपराम की प्राप्ति में सात्विक धृति द्वारा वशीकृत बुद्धि कारण है । जैसे दो ओर बहती महा नदी के वेग के निरोध के लिये बहुत प्रयत्न की आवश्यकता है, उसी प्रकार महत्तत्त्व, अहङ्कार, मन, और वाणी, आदिक इन्द्रियां जो तीव्रवेग से बाह्य विषयों में बहा करती हैं, उन के निरोध में भी बड़ी धीरता की अपेक्षा है । 'शनैः शनैः' इस पूर्वोक्त भगवद्गीता के श्लोक में बुद्धि शब्द का प्रयोग विवेक अर्थ में किया है ।

प्रथम भूमिका का जय हुआ है या नहीं हुआ इस की परीक्षा कर, जो जय हुआ जानो तो दूसरी भूमिका का आरम्भ करो । और जो प्रथम भूमिका का जय न हुआ हो तो, उसी भूमिका के जय के लिये वार २ अभ्यास करो ।

उपर दिया हुआ 'शनैः शनैः' श्लोकार्द्ध है । इस श्लोक का आधा इस भांति है "आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्" । आत्मा में मन स्थिर कर किसी भी विषय का चिन्तन न करे । यह उत्तरार्द्ध चौथी भूमिका का स्वरूप दिखलाता है ।

गौडपादाचार्य इस भांति कहते हैं—

“उपायेन निवृत्तीयाद्विक्षिप्तं कामभोगयोः ।

सुप्रसन्नं लये चैव यथा कामोलयस्तथा ॥

दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्त्तयेत् ।

अजं सर्वमनुस्मृत्य जातं नैव तु पश्यति ॥

लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः ।

सकपायं विजानीयात्समप्राप्तं न चालयेत् ॥

नाऽऽस्वादयेत्सुखं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत् ।

निश्चलं निश्चरं चित्तमेकीकुर्यात्प्रयत्नतः ॥

यदा न लीयते चित्तं न च विचिप्स्यते पुनः ।

अलिङ्गनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा” इति ॥

अर्थः—काम और भोग में विक्षिप्त मन का उपाय द्वारा निग्रह कर । उसी भांति सुषुप्ति में यद्यपि चित्त आयास रहित है तथापि उस का उस में से निग्रह करो । क्योंकि जैसे काम अनर्थ का हेतु है । उसी प्रकार लय भी अनर्थ का ही हेतु है । सर्व द्वैत प्रपञ्च दुःख रूप है, इस भांति स्मरण कर विषयभोग से मन को रोके । सर्व जन्मरहित ब्रह्मरूप है, ऐसा स्मरण प्राप्त कर सम्पूर्ण द्वैत को योगी नहीं देखता है । सुषुप्ति में लय को प्राप्त हुए चित्त को फिर शान्त करे । कषाय युक्त चित्त को जानना और समता को प्राप्त चित्त को चलायमान न करे । समाधि से जो सुख होता है उस में रागवान् न होवे प्रत्युत विवेक बुद्धि से असङ्ग होवे । निश्चल और बाहर न निकले चित्त को प्रयत्न से आत्मा के साथ एक रूपता को प्राप्त करे । जब चित्त फिर से लय को प्राप्त न हो, तथा विक्षेप को भी न प्राप्त हो और कषाय और रस के आस्वाद से रहित हो तब वह ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त हो जाता है ।

लयविक्षेपकषायसमप्राप्तयश्चतस्रश्चित्तस्था-

वस्थाः । तत्र निरुद्धमानं चित्तं विषयेभ्यो-

व्यावृत्तं सत्पूर्वाभ्यासवशाद्यदि लयाय सुषु-

प्तये ऽभिमुखं भवेत्तदानीमुत्थापनप्रयत्नेन ल-



यकारणनिवारणेन वा चित्तं सम्यक् प्रबोध-  
येत् । लयहेतवानिद्राशेषाजीर्णबहुभोजनश्र-  
माः । अतएवाऽऽहुः ।

अर्थः—लय, विक्षेप, कषाय, और सम प्राप्ति ये चार  
चित्त की अभ्यासे हैं । तहाँ निरुध्यमान चित्त विषयों में अलग  
जो पूर्व के अभ्यास वशात् सुषुप्ति के सम्मुख हो तो, उस को  
उत्थापन के प्रयत्न द्वारा या लय के कारणों को निवारण द्वारा भली  
भाँति जाग्रत करे । पूरी न हुई निद्रा, अजीर्ण, बहुभोजन, और  
परिश्रम ये चित्त को लय होने का कारण हैं । अतएव कहा है ।

“समाप्य निद्रां सर्जाणाल्पभोजी श्रमत्या-  
ग्यबाधे विविक्ते प्रदेशे ।

सदाऽऽसीत निस्तृष्ण एवाऽप्रयत्नोऽथवा  
प्राणशेषो निजाभ्यासमार्गात्” ॥ इति ।

अर्थः—सहज में जो पच जावे इतना भोजकरने वाला और  
श्रम को त्यागने वाला पुरुष परिमित निद्रा कर तृष्णा रहित  
और प्रयत्नरहित हो एकान्त देश में सदा रहे, या अभ्यास क-  
रता हो तो उस भाँति प्राणायाम करे ।

लयादुत्थापितं चित्तं दैनंदिनप्रबोधाभ्यास-  
वशाद्यदि कामभोगयोर्विक्षिप्यते तदा वि-  
वेकिजनप्रसिद्धभोग्यवस्तुगतसर्वदुःखानुस्म-  
रणेन शास्त्रप्रसिद्धजन्मादिरहिताद्वितीय-  
ब्रह्मत्त्वाऽनुस्मरणपूर्वकेन भोग्यवस्त्वदर्शनेन  
च पुनःपुनर्विज्ञेयाचित्तं शमयेत् । कषायस्ती-  
व्रचित्तदोषस्तीव्ररागद्वेषादियासनाः तथा-  
ग्रस्तं चित्तं कदाचित्समाहितमिव लयविक्षे-

परहितं दुःखैकाग्रमवतिष्ठते तादृशं तच्चित्तं  
विजानीयात् । समाहितचित्ताद्विवेकेनावग-  
च्छेत् । असमाहितमेतदित्यवगम्य लयविक्षे-  
पवत्कषायस्य प्रतीकारं कुर्यात् । समश-  
ब्देन ब्रह्माभिधीयते ।

अर्थः—लय में से उठा हुआ चित्त प्रतिदिन जाग्रत अ-  
वस्था के अभ्यास के कारण जो काम, और भोग में विक्षेप  
को प्राप्त हो तो विवेकी पुरुष, साक्षात् अनुभव किये भोग्य प-  
दार्थों में रहे दुःखों का बार २ स्मरण करने द्वारा और शास्त्र  
प्रसिद्ध, जन्मादिविकार रहित अद्वितीय ब्रह्मवस्तु का स्मरण  
पूर्वक भोग्य वस्तु प्रति अलक्ष करने द्वारा, विक्षेप से चित्त को  
बार २ शमन करे । कषाय, तीव्र राग द्वेष वामना रूप चित्त  
गत महान् दोष है । इस तीव्र वामना के अधीन हुए चित्त  
को किसी समय जाने समाधि में स्थित हो तैसे दुःख में ही  
एकाग्र हो कर रहे । अतएव उस प्रकार के चित्त को समाहित  
में अलग हुआ जाने या यह चित्त समाहित नहीं है । परन्तु ती-  
व्रवामना के वश दुःख में एकाग्र होता है । ऐसा समझ कर  
लय और विक्षेप के समान कषाय को भी निरोध का उपाय  
करे । ‘सम’ शब्द ब्रह्म का वाचक है ।

“समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्” इति  
स्मृतेः लयविक्षेपकषायेषु परिहृतेषु परिशेषा-  
चित्तेन समं ब्रह्म प्राप्यते । तच्च समप्राप्तं चित्तं  
कषायलयभ्रान्त्या न चालयेत् । सूक्ष्मया  
बुद्ध्या लयकषायप्राप्ता विविच्य तस्यां सम-



प्राप्तावतिप्रवृत्तेन चिरं स्थापयेत् । स्थापिते  
तास्मिन्ब्रह्मस्वरूपभूतं परमानन्दः सम्यगावि-  
र्भवति । तथा चोदाहृतम् ।

अर्थः—“सर्व प्राणियों में स्थित ब्रह्मस्वरूप ईश्वर को  
ऐसा भगवद्गीता में भी कहा है ।

लप विक्षेप और कषाय दूर कर पीछे चित्त ब्रह्मरूप  
हो कर रहता है । तैसे चित्त को कषाय और लप की भ्रान्ति  
में चलायमान न करे । सूक्ष्म बुद्धि से, लप और कषाय के स्वरूप  
को जान कर ब्रह्म में चित्त को अतिशय प्रयत्न से चिर-  
काल पर्यन्त स्थापन करे । ऐसे स्थापन करने पर ब्रह्मानन्द  
प्रकट होता है । भगवद्गीता में कहा है—

“सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्”  
श्रुतिश्च भवति ।

अर्थः—जो आत्यन्तिक सुख है वह बुद्धिग्राह्य और अतीन्द्रिय है । श्रुति भी यों कहती है—

“समाधिनिर्वृतमलस्य चेतसो निवेशितस्या-  
ऽऽत्मनि यत्सुखं भवेत् ।

न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तः-  
करणेन गृह्यते” इति ॥

अर्थः—समाधि द्वारा रागादि दोष रहित हृण और आत्मा  
में स्थापित चित्त में जो सुख का उदय होता है, वह सुख तब  
वाणी द्वारा नहीं कहा जा सकता है । उस सुख को केवल  
अन्तःकरण ही ग्रहण करता है ।

ननु समाध्याविर्भूतब्रह्मानन्दस्य बुद्धिग्राह्यत्वं  
श्रुतिस्मृतिभ्यामभिहितम् । आचार्यस्तु “ना-

ऽऽस्वादं यत्सुखं तच्च” इति बुद्धिग्राह्यत्वं प्र-  
तिपिच्यते ।

अर्थः—शङ्का—पूर्वोक्त श्रुति और स्मृति में समाधि द्वारा  
आविर्भाव को प्राप्त हुए ब्रह्म सुख का बुद्धि से ग्रहण होता है,  
ऐसा कहा है, और गौडपादाचार्य तो (नास्वादं) समाधि में सुख  
का स्वाद न लेवो इस वाक्य से समाधिकाल का ब्रह्मसुख का  
बुद्धि से ग्रहण नहीं होता, ऐसा कहते हैं इस लिये आचार्य के  
वचन और श्रुति के वचन में परस्पर विरोध आता है ।

नायं दोषः । तच्च निरोधसुखं बुद्धिग्राह्यं न प्र-  
तिपिच्यते, किन्तु समाधिविरोधिनो व्यु-  
त्थानरूपस्य परामर्शस्यैव प्रतिषेधात् । यथा  
निदाघादिवसेषु मध्याह्ने जाह्नवाह्नदनिमग्ने-  
नानुभूयमानमपि शैत्यसुखं तदा वक्तुम-  
शक्यं पश्चादुन्मग्नेनाभिर्धायते । यथा वा  
सुषुप्तावविद्यावृत्तिभिरतिमृक्षमाभिरनुभूयमा-  
नमपि स्वरूपसुखं तदानीं सविकल्पकेना-  
न्तःकरणवृत्तिज्ञानेन ग्रहीतुमशक्यम् । प्रबो-  
धकाले तु स्मृत्या विस्पष्टं परामृश्यते । तथा  
समाधौ वृत्तिरहितेन संस्कारमाश्लेषतया  
सूक्ष्मेण वा चित्तेन सुखानुभवः श्रुतिस्मृत्यो-  
र्विचक्षितः । महादिदं समाधिसुखमन्वभूय-  
मित्येतादृशो व्युत्थितस्य सविकल्पकः पराम-  
र्शोऽत्राऽऽस्वादनम् । तदेवाऽऽचार्यः प्रतीपि-  
च्यते । तमेव साभिप्रायं प्रकटयितुं निःसङ्गः  
प्रज्ञया भवेदित्युक्तम् । प्रकृष्टं सविकल्पक



ज्ञानं प्रज्ञा तथा सह सङ्गं परित्यजेत् । यदा  
पूर्वोक्ता धृतिगृहीता बुद्धिः प्रज्ञा । तदात्म-  
केन साधनेन सुखास्वादनतद्वर्णनादिरूपामा-  
सक्तिं वर्जयेत् ।

अर्थः—समाधान-आचार्य के वचन का तात्पर्य समाधि  
सुख बुद्धि ग्राह्य नहीं, ऐसा नहीं, परन्तु समाधि में से जाग्रत  
होने पर समाधि सुख का स्मरण जो समाधि का विरोधी है,  
और जिस को रस का आस्वाद कहते हैं, उस का निषेध क-  
रता है । जैसे उष्ण काल के दिनों में मध्याह्न समय गंगा के  
जल में निमग्न हुआ पुरुष उस समय शीतलता का सुख अनु-  
भव करता है, तथापि मुख से नहीं कह सकता । परन्तु बाहर  
आने पर कहता है । और सुषुप्ति अवस्था में स्थित पुरुष अति  
सूक्ष्म अविद्यारूप वृत्ति से स्वरूप सुखको अनुभव करता है ।  
तथापि वह साविकल्प अन्तःकरण की वृत्ति से ग्रहण नहीं हो  
सकता है । क्योंकि उस समय वृत्तियाँ अविद्यामें लय को प्राप्त  
होती हैं । परन्तु जागने पर उस सुख का स्मरण होता है ।  
उसी प्रकार समाधि में वृत्तिरहित या केवल चित्त का संस्कार-  
मात्र शेष होने से अत्यन्त सूक्ष्म चित्त से सुख का अनुभव होता  
है, ऐसा श्रुति, स्मृति कहती । और आचार्य तो, समाधि में  
से जाग्रत होने पर 'आह ! बहुत समाधि के सुख का अनुभव  
किया है' इस प्रकार का स्मरण जिस को योग शास्त्र में रस  
आस्वाद कहते हैं, उस का निषेध करते हैं । इसी अभिप्राय को  
जतलाने के लिये 'नास्वादयेत्' इस पाद के बाद 'निःसङ्गः प्र-  
ज्ञा भवेत्' (धीरता के साथ वशीकृत बुद्धि से समाधि सुख  
का स्मरण और वाणी से उस का अन्य के आगे कथन इस

सा आसक्ति का त्याग करे ) ऐसा पाठ पढ़ा है । पूर्वोक्त धै-  
र्यद्वारा वशी कियी हुई बुद्धिरूप साधन से समाधि सुख का स्म-  
रण और उस का अन्य के आगे प्रकट करना रूप आसक्ति या  
साविकल्प ज्ञान के साथ की आसक्ति का त्याग करे ।

समाधौ ब्रह्मानन्दे निमग्नं चित्तं यदि कदा-  
चित्सुखास्वादनाय वा शीतवातमशकाद्यु-  
पद्रवेण वा निश्चरेत्तदा निश्चरत्तच्चित्तं  
पुनर्निश्चलं यथा भवति तथा परब्रह्मणा स-  
हैकीकुर्यात् । तत्र च निरोधप्रयत्न एव सा-  
धनम् । एकीभाव एव "यदा न लीयते" इत्य-  
नेन स्पष्टीक्रियते । "अलिङ्गन मनाभास" मि-  
त्याभ्यां पदाभ्यां कषायसुखास्वादौ प्रति-  
बिध्येते ।

अर्थः—समाधि दशा में ब्रह्मानन्द में मग्न होने पर चित्त,  
जो किसी समय विषय सुख के स्वाद लेने के लिये, या शीत  
पवन, या मच्छर आदिक कों के उपद्रव के कारण निकले तो  
उस चित्त को पुनः प्रयत्न से परमात्मा में एक रूप करे । एक  
रूप करने में साधन निरोधरूप प्रयत्न है । 'यदा न लीयते' इस  
वाक्य से एकीभाव स्पष्ट किया है । अलिङ्गनमनाभास इस  
वाक्य से कषाय, और सुखास्वाद का निषेध किया है ।

लयविक्षेपकषायसुखास्वादेभ्यो रहितं

चित्तमविघ्नेन ब्रह्मण्यवस्थितं भवति ।

एतदेवाभिप्रेत्य कठबल्लीषु पठ्यते—

अर्थः—इस प्रकार पूर्वोक्त लय, विक्षेप, कषाय, और सु-  
खास्वाद से मुक्त हुआ चित्त, निर्विघ्नता से, ब्रह्म में स्थिरता



को प्राप्त होता है ।

इसी अभिप्राय से कठवल्ली उपनिषद् की श्रुति में कहा है—  
“यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।

बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमाङ्गतिम् ॥

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।

अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभव्याप्ययौ” इति ।

उपेक्षितो योग इन्द्रियवृत्तीनां प्रभवं करोति ।

अनुष्ठितस्तु तासां लयहेतुः ।

अर्थः—जब मनुष्य के इन्द्रियरूप छिद्रों से निकलनेवाली बाह्यवृत्ति और भीतर अन्तःकरणों में ठहरनेवाली बुद्धिरूप वृत्ति सब उपद्रवों से रहित शान्त स्थित होती है, किसी प्रकार अपने नियतस्वभाव से विरुद्ध नहीं होती तब जीवन्मुक्ति दशा को प्राप्त हुए ज्ञानी के लिये मुक्ति का द्वार खुल गया जानो । जब योगाभ्यास से सब इन्द्रिय दृढरूप से स्थिर हुए जीत लिये जाते हैं, तब योगसिद्धि होने का अनुमान निश्चिन हो जाता है । योग की वृत्ति में नवीन शुद्ध संस्कारों की प्रकटता और पहिले दुष्ट संस्कारों का तिरोभाव हो जाता है, तब स्वरूप में स्थित प्रमाद रहित द्रष्टा यथार्थरूप से सब को जानता है । उपेक्षित योग इन्द्रियों की वृत्तियों को उत्पन्न करता है, तथा सम्यक् साधित योग इन्द्रियों की वृत्तियों का लय करता है ।

अतएव योगस्य स्वरूपलक्षणं सूत्रयति “योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः” इति । वृत्तीनामानन्त्या-  
न्निरोधोऽशक्य इति शङ्कां वारयितुमियत्तां  
सूत्रयति “वृत्तयः पञ्चतयः क्लिष्टा अ-  
क्लिष्टाः” इति । रागद्वेषादिक्लेशरूपा आ-

सुरवृत्तयः क्लिष्टाः । रागादिरहिता दैववृ-

त्तयोऽक्लिष्टाः । यद्यपि पञ्चस्वेव क्लिष्टा-

नामक्लिष्टानां चान्तर्भावस्तथाऽपि क्लिष्टा

एव निरोद्धव्या इति मन्दबुद्धिं वारयितुं

ताभिः सहाक्लिष्टा अप्युदाहृताः । नामधेयल-

क्षणाभ्यां वृत्तिं विशेषयितुं सूत्रपदकमाह ।

अर्थः—इस लिये भगवान् पतञ्जली योग का लक्षण इस भांति कहते हैं । ‘चित्त की वृत्तियों के निरोध का नाम योग है । चित्त की वृत्तियां तो अनेक हैं, इस लिये उन सब का निरोध क्यों कर हो सकता ? ऐसी शङ्का को दूर करने के लिये सूत्र—‘क्लेश रूप और अक्लेश रूप पांच वृत्तियां हैं’ राग द्वेष आदिक क्लेश के कारणरूप आसुरी वृत्तियों को क्लेशरूप जानना और रागादिक दोष रहित वृत्तियों को अक्लिष्ट जानना । इन सब वृत्तियों को पांच वृत्तियों में ही अन्तर्भाव होता है । इन में से क्लिष्टवृत्तियां ही निरोध करने योग्य हैं, ऐसी मन्दबुद्धियों की शङ्का को दूर करने के लिये क्लिष्ट वृत्तियों के साथ अक्लिष्ट वृत्तियों का ग्रहण किया है । अर्थात् दोनों तरह की वृत्तियों को निर्विकल्प समाधि में प्रवेश करने की इच्छा-वाला पुरुष अवश्य निरोध करे । वृत्तियों के नाम और लक्षण से वृत्तियों का स्वरूप स्पष्ट करनेवाले भगवान् पतञ्जलि के छः सूत्र हैं ।

“प्रमाणविपर्ययिकल्पनिद्रास्मृतयः । प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणयानि । विपर्ययोमिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् । शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः । अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ।



अनुभूतविषयस्यासंप्रमोषः स्मृतिः" इति ।  
 वस्तुभावः प्रतीयेत यस्मिंस्तमस्यावरके सति  
 तत्तमोऽभावप्रत्ययः । तमोगुणं विषयं कुर्व-  
 ती वृत्तिर्निद्रेत्युच्यते । अनुभूतविषयस्यासं-  
 प्रमोषस्तदनुभवजन्यमनुसन्धानम् । पञ्चधी-  
 वृत्तिनिरोधसाधनं सूत्रयति ।

अर्थः—पमाण, निपर्यय, विकल्प, निद्रा, और स्मृति ये  
 पांच तरह की वृत्तियाँ हैं । प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन  
 पमाण वृत्तियाँ हैं । अपने मुख्य अर्थ में न ठहरने वाला अर्थात्  
 उत्तर काल में बाध को प्राप्त होनेवाला जो मिथ्याज्ञान उस को  
 'निपर्यय' कहते हैं । शब्द मात्र से जिस का ज्ञान होता है, परन्तु  
 शब्द के अनुसार अर्थ नहीं, उस को 'विकल्प' कहते हैं ।  
 जाग्रत और स्वप्न अवस्था की वृत्तियों के अभाव का कारण  
 तमोगुण जिम का विषय है, ऐसी वृत्ति को निद्रा कहते हैं ।  
 अनुभव किये हुए विषय के संस्कार के उद्भव द्वारा मान-  
 सिक ज्ञान का होना 'स्मृति' है । इन पांच प्रकार की वृत्तियों  
 के निरोध के साधन को निरूपण करने हारा सूत्र इस भांति है—

"अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः" इति ।  
 यथा तीव्रवेगांपेतं नदीप्रवाहं सेतुबन्धनेन नि-  
 वार्य कुल्याप्रणयनेन क्षेत्राभिमुखं तिर्यक्  
 प्रवाहान्तरमुत्पाद्यते तथा वैराग्येण चित्तन-  
 द्या विषयप्रवाहं निवार्य तस्याः समाध्य-  
 भ्यासेन प्रशान्तः प्रवाहः सम्पाद्यते ।

अर्थः—'अभ्यास और वैराग्य द्वारा उन वृत्तियों का  
 निरोध होता है । जैसे तीव्रवेगवाली नदी के प्रवाह को पुत्र

नहर के रोक दिया जाता है और उस नदी में नहर खोद-  
 कर उस का एक प्रवाह खेत के ओर किया जाता है, उसी भांति  
 योग्य से चित्तरूप नदी के विषय की ओर जाने वाले प्रवाह  
 को रोक कर समाधि के अभ्यास द्वारा उस का एक शान्त प्र-  
 वाह किया जा सकता है ।

मन्त्रजपदेवताध्यानादीनां क्रियारूपत्वेना-  
 ऽऽवृत्तिलक्षणोऽभ्यासः सम्पाद्यते, सर्वव्या-  
 पारोपरमरूपस्य समाधेः को नामाभ्यास  
 इति शङ्कां वारयितुं सूत्रयति—

अर्थः—शङ्का—मन्त्रजप देवताध्यानादि क्रिया रूप होने  
 से, उस का आवृत्तिरूप अभ्यास सम्भव है, परन्तु सब व्या-  
 पारों का उपरम रूप समाधि का अभ्यास क्योंकर सम्भव  
 हो सकता ?

"तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः" इति । स्थिति-  
 र्नेष्ट्यत्वं निरोधः । यत्नोपानस उत्साहः स्व-  
 तएव बाहिरप्रवाहशीलं चित्तं सर्वथा निरो-  
 धयामीत्ये<sup>ना</sup> उत्साह आवर्त्यमानोऽभ्या-  
 स इत्युच्य<sup>उस</sup> अयमभ्यास इदानीं प्रवृत्तः  
 स्वयमदृढः<sup>तत्</sup> सन्ननादिप्रवृत्ता व्युत्थानवासनाः  
 कश्मभिभवोदित्याशङ्कामपवदितुं सूत्रयति ।

अर्थः—समाधान—( शङ्का का उत्तररूप सूत्र ) चित्त की  
 एकाग्रता के लिये बार २ उत्साह पूर्वक प्रयत्न करने का नाम  
 अभ्यास है । चित्त में व्युत्थान संस्कार अनादिकाल से प्रवृत्त  
 होने से असन्त सुदृढ है । उस का वर्तमान काल में चित्त के  
 निरोध के लिये एक जन्म का अभ्यास क्या कर सकता है ?



तुम्हारे लिये यह करने के लिये योग करना शुरू है—

यस्य तु तत्कालं चिर-निरन्तरासंयोगो तद-  
भावात् इति । तस्मात् तत् सुदृश्यं वचनम्  
तदस्ति । योगमानाश्चत्वार एव वेदास्तान्  
अथ गनस्य घाणवकस्य पञ्चदिवसा अतीता  
अथाप्यसौ नागत इति । तादृश एवायं योग-  
मा । तदा स्यात्तदा दिवसैर्मसिर्वा योग-  
मा । अथ गणकैस्तस्मात्सम्बन्धस्यैऽन्धमा भवति दी-  
र्घकालं योग आसौ वेतव्यः । तथा च स्मर्यते ।

अर्थः—यह अभ्यास चिरकाल निरन्तर आरंभ पूर्वक, दे-  
खने करने पर, रूढ़ होगा है । इस प्रसङ्ग में लोग किसी भूट का  
उदाहरण देते हैं कि किसी एक भूट ने अपने पुत्र को  
बेह पड़ने के लिये भेजा । जब उस लड़के को गये पांच दिन  
बीते जब उस पुरुष ने विचार किया कि बेह तो केवल चर  
ही है, और मेरे पुत्र को तो गये पांच दिन बीत गये तो भी  
वह आज तक पड़ क्यों नहीं आया ? उसी भाँति योगी अमुक  
दिवस से, या अमुक मास से, योगसिद्धि का आशा रखता हो  
तो वह भी उपर के उदाहरण में दिये उदाहरण पुरुष के मदन  
है । अतएव अनेक बहुत मास पर्यन्त, बहुत वर्षों तक, और  
बहुत जन्म पर्यन्त भी जब तक फल की प्रतीति न होतब तक  
योग सेवन करे । कायर न हो । इस लिये श्रीकृष्णचन्द्र आ-  
नन्दकन्द ने भी कहा है ।

“अनेकजन्मसंसिद्धस्ततोयाति परां गतिम्”  
इति ।

चिरमासेष्यमानांश्च यादृ गतिरुपपद्यते

तु संन्यत तर्ज्यमानानां योगसंस्कारा-  
णां समनन्तर भावनिर्मुक्तं दृष्टव्यं । तर्ज्यमाना-  
नसंस्कारिणो भवन्ते सांत स्वप्नजनकारोक्तन्याय  
आपत्तेः । “अयंभावानूपमाल्लक्ष्यमानो विस्मर-  
णशीलश्च तवत् किमालम्ब्यतेति” । सत्कार  
आदरः । अनादरेण संन्यमाने वासिष्ठोक्तन्याय  
आपत्तेः ।

अर्थः—अनेक जन्मों के अभ्यास से सिद्धि की प्राप्त हुआ  
पुरुष परा गति की प्राप्ति है । योग का सेवन चिरकाल अर्थात्  
हुआ मास या वर्षों तक परन्तु एक दिन करके पांच दिन न  
हो इस तरह बहुत समय तक भी योग करने से कोई फल नहीं  
होगा, क्योंकि बीच-बीच में जितना समय खाली पड़ जाय, उ-  
त्तरे समय में उदुभवा हुआ उत्थान संस्कार से निरोध संस्कार  
का अभिभव होता है । उस से भूलने का स्वभाव बाले विद्या-  
र्थ के समान व्याप्ति दौड़ता है, और पीछे की भूलता जाता है,  
वह क्या फल पा सकता है ? यह स्वप्नजनकार का कहा हुआ  
न्याय ( प्रमाण बना ) । अतएव निरन्तर योग का सेवन क-  
रना चाहिये और उस का आदर पूर्वक सेवन करना चाहिये ।  
अनादर पूर्वक सेवन करने से वासिष्ठ मुनि का कहा हुआ न्याय  
के समान होगा ।

“अकर्तुं कुर्वन् दृष्टव्यं तच्चेतश्चेत् क्षीणवासनम् ।

दूरंगतमना जन्तुः कथासंश्रवणे यथा” इति ॥

अर्थः—जैसे कथा सुनने वाले का चित्त कथा को लोह कर  
विषयान्तर में भटकता हो तो कथा सुनने पर भी कुछ भी नहीं  
हुआ उसी तरह जो चित्त वासना रहित हुआ है, तो वह आ-



वस्तुतः व्यवहार करना हुआ भी वह कुछ भी नहीं करता है।  
अनादरोत्पत्तिविशेषकपायसुखास्वादनानामप-  
रिहारः । तस्मादादरेण संवितव्यः । दीर्घका-  
लादिभिरधिष्ठेन संवितव्यः समाधिदृष्टभूमि-  
नाम विषयसुखवासनया दुःखवासनया वा  
चालयितुमशक्यत्वम् । तच्च भगवता दर्शितम् ।

अर्थः—लय, विशेष, कपाय और रसास्वाद जो समाधि में  
विग्रह है, उन में से कोई भी समाधि समय प्राप्त हो तो उस  
को रोकने के लिये प्रयत्न न करना, यह योगी के लिये अना-  
दर है । इस लिये उन का निवारणरूप आदर से योग सेवने  
योग्य है । चिरकाल तक निरन्तर आदर पूर्वक सेवन किया  
हुआ या दृढ़ता को प्राप्त होता है । ऐसा पहिले कहा गया है।  
तहां विषय सुख की वासना से या दुःखवासना से समाधि में  
से दृढ़ता जानो । यह बात भगवद्गीता में श्रीकृष्ण जी ने क-  
थन करी है ।

“यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।  
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते”  
इति ॥

अपरलाभस्यानाधिक्यं कचवृत्तान्तेन च सिद्धे  
उदाजहार ।

अर्थः—वृत्ति के निरोध अवस्था को पहुंचा योगी उस में  
अधिक किसी लाभ को नहीं मानता, और जिस अवस्था में  
स्थिर होके बड़े शस्त्राधन आदिक दुःखों से भी डोलता नहीं ।

समाधि की अपेक्षा अन्यलाभ बढ कर नहीं, यह बात  
श्रीवसिष्ठ भगवान ने कच के उभिदास में स्पष्ट कथन किया है ।

कचः कदाचिदुत्थाय समाधिः प्रानमानसः ।  
एकान्तं समुवाचंदमेवं गहदया गिरा ॥  
किं करोमि क गच्छामि किं गृह्णामि त्यजामि किम् ।  
आत्मना पूरितं विश्वं महाकल्पाम्बुना यथा ॥  
समाध्याभ्यन्तरे देहे ह्यथ ऊर्ध्वं च दिक्षु च ।  
इत आत्मा तथेहाऽऽत्मा नास्त्यनात्ममयं जगत् ॥  
न तदस्ति न यत्राहं न तदस्ति न यन्मयि ।  
किमन्यदभिवाञ्छामि सर्वं संविन्मयं जगत् ॥  
स्फारत्रयामलाभोधिकेनाः सर्वं कुलाचलाः ।  
चिदादित्यमहान्तं जामृगनृणा जगच्छिषः” इति ।  
गुरुदुःखेनाप्यविचारितत्वं शिखिध्वजस्य य-  
त्सरस्य समाधिवृत्तान्तेनोदाजहार ।

अर्थः—“एक समय कच समाधि में से उठ कर प्रसन्न-  
चित्त से एकान्त में गहगहवाणी से इस भांति बोला कि जैसे  
महाप्रलय समय सारा जगत् जल से पूर्ण हो जाता, उसी तरह  
यहां आत्मा द्वारा पूर्ण है, इस लिये मैं क्या करूं ? कहां जाऊं ?  
किसे ग्रहण करूं ? किसे छोड़ूं ? अर्थात् एक ही वस्तु में ये सब  
सम्भव नहीं । देह के बाहर, भीतर, उपर, नीचे, सब ओर,  
यह जगह, आत्मा ही है । बिना आत्मा के कोई जगह नहीं ।  
जहां मैं न होऊं ऐसी कोई जगह या वस्तु नहीं तबे जो मुझे में  
है नहीं, ऐसी कोई वस्तु ही नहीं, इस लिये किम अन्य वस्तु  
की मैं इच्छा करूं ? सब चैतन्यमय है । निरवधि ब्रह्मरूप समुद्र  
के फेन की राशि ( देह ) रूप सब पर्यंत है, और चैतन्य सृष्टि  
के प्रधान तेज में यह जगत् रचनारूप भृगनृणा है ” ।

महा दुःख से भी योगी चलायमान नहीं होता यह ज्ञानि-



ध्वज की तीन वर्ष की समाधि के वृत्तान्त से स्पष्ट है।

“निर्विकल्पसमाधिस्थं तत्रापश्यन्महीपतिम् ।  
राजानं तावदेतस्माद्बोधयामि परात्पदात् ॥  
इति संचिन्त्य चूडाला सिंहनादं चकार सा ।  
भूयोभूयः प्रभोरग्रे वनेचरभयप्रदम् ॥  
न चचाल तदाराम ? यदा नादेन तेन सः ।  
भूयोभूयः कृतेनापि तदा सा तं व्यचालयत् ॥  
चालितः पातितोऽप्येष तदा न बुबुधे बुधः” इति ।  
प्रह्लादवृत्तान्तेनाप्येतदेवोदाजहार ।

अर्थः—चूडाला नामक स्त्री ने अपने पति शिखिध्वज को निर्विकल्प समाधि में स्थित देखकर विचार किया कि राजा जो परम पद में लीन हुआ है, उस को उस में से जगाऊं तो ठीक है, ऐसा विचार कर उस ने सब वनवासियों को भय देने वाला वार २ सिंह का सा गर्जा । तौ भी वह समाधि में से न उठा, तब उस को खूब हिलाया, और नीचे गिराया, तब भी वह नहीं जगा ।

प्रह्लाद की कथा से भी यही बात सूचित होती है ।

“इति संचिन्तयन्नेव प्रह्लादः परवीरहा ।  
निर्विकल्पपरानन्दसमाधिं समुपाययौ ॥  
निर्विकल्पसमाधिस्थश्चित्रार्पित इवाऽऽवभौ ।  
पञ्चवर्षसहस्राणि पीनाङ्गोऽतिष्ठदेकदृक् ॥  
महात्मन्संप्रबुध्यस्वेत्येवं विष्णुरुदाहरत् ।  
पाञ्चजन्यं प्रदध्मौ च ध्वनयन्ककुभां गणम् ।  
महता तेन शब्देन वैष्णवप्राणजन्मना ॥  
धभूव संप्रबुद्धात्मा दानवेशः शनैः शनैः” इति ॥

अर्थः—शत्रु का नाश करनेवाले प्रह्लाद ने ऐसा विचार कर परम आनन्द स्वरूप निर्विकल्प समाधि में स्थिति कियी । इस समाधि में स्थित हुए प्रह्लाद चित्र में स्थित मूर्ति की भाँति शोभता था । एक आत्मरूप लक्ष स्थान में दृष्टि डाल ५००० हजार वर्ष तक समाधि में स्थित रहने पर, भी उसका शरीर दृष्ट पुष्ट था । उस के बाद विष्णु भगवान् उस के पास पधार कर बोले कि “हे महात्मन् ! तुम जागो । इस पर भी वह न उठा । तब दिशाओं को नाद से पूर्ण करने वाला पांच जन्य नामक शंख का नाद किया ” । यह श्रीविष्णु के प्राणवायु द्वारा उत्पन्न हुए महाशब्द से दानवपति ( प्रह्लाद ) धीरे धीरे जाग उठा ।

एवं वीतहव्यादीनामपि समाधिरुदाहरणीयः ।  
वैराग्यं द्विविधम् अपरं परं चेति । यतमान-  
व्यतिरेकैकेन्द्रियवशीकारभेदैरपरं चतुर्विधम् ।  
तत्राऽऽद्यं त्रयमर्थात्सूत्रयन्साक्षात् चतुर्थं सू-  
त्रयति ।

अर्थः—इस भांति वीतहव्य आदिक महात्माओं की समाधि भी दृष्टान्तरूप से जानना । वैराग्य दो प्रकार का है एक पर वैराग्य, दूसरा अपर वैराग्य । तिन में से यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय, और वशीकार इस भांति अपर वैराग्य के चार प्रकार हैं । इन ४ प्रकार के वैराग्य में से पहिले तीन प्रकार के वैराग्य को तात्पर्य द्वारा और चतुर्थको साक्षात् कहनेवाला सूत्र ।

“दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकार-  
संज्ञा वैराग्यम्” इति । सूक्तचन्दमथनितापुत्र-  
मित्रक्षेत्रधनादयो दृष्टाः । वेदोक्ताः स्वर्गा-



इति आनुभाविकः ततोभयस्य सत्यापयि-  
तुल्यापानिभक्तारतम्येन यतमानादिवैराग्य-  
तयं भवति । अस्मिन् जगति किं सारं  
। कर्मकारमाति गुरु शास्त्राभ्यां ज्ञास्यामी-  
त्युद्योगोपयतमानस्वम् (१) स्वाचिन्ते पूर्वं  
विषयमानानां, दोषाणां मध्येऽभ्यस्यमानेन  
विवेकनैतावन्तःपका एतावन्तोऽवशिष्टा इति  
विवेचनं व्यतिरेकः (२) दृष्टानुश्रविकविषयप्र-  
वृत्तेर्दुःखात्मत्वबोधेन तां प्रवृत्तिं परित्यज्य  
मनस्यौत्सुक्यमात्रेण तृष्णावस्थानमेकेन्द्रि-  
यत्वम् (३) वितृष्णत्वं वशीकारः (४) तदिद-  
मपरं वैराग्यमष्टाङ्गयोगप्रवर्तकत्वेन संप्रज्ञा-  
तस्यान्तरङ्गम् । असंप्रज्ञातस्य तु बहिरङ्गम् ।  
तस्यान्तरङ्गं परं वैराग्यं सूत्रयति ।

अर्थः—देखे और सुने हुए विषयों से तृष्णा रहित पुरुष  
की उस विषय में जो उपेक्षा बुद्धि, उस को वशीकार नाम का  
वैराग्य कहते हैं । माला, चन्दन, स्त्री, पुत्र, घर, क्षेत्र आदिक  
दृष्ट (प्रत्यक्ष) विषय है । केवल वेद आदिक शास्त्र प्रतिपादित  
स्वर्ग आदिक "आनुश्रविक" (अपत्यक्ष) है । सो इन दृष्ट और  
आनुश्रविक विषयों की तृष्णा होने पर भी विवेक के तारतम्यसे  
यतमानादि वैराग्य के तीन भेद होते हैं । इस जगत में सारस्व  
क्या है ! और अन्धकार क्या है ! इस भांति मुझे गुरु और शास्त्र ने  
जानना चाहिये ऐसे उद्योग का नाम यतमान वैराग्य है । विवेक  
के अभ्यास करने के पहिले जो २ दोष मुझ में निगूढ हैं  
उन में से वर्तमान विवेक अभ्यास करने से, दूतने दोष दृष्ट

अब इनसे बाकी रहे इस प्रकार के विवेक को व्यतिरेक  
कहते हैं । दृष्ट और श्रुत विषयों में प्रवृत्ति को दुःख  
समझ कर उस प्रवृत्ति का त्याग करने पर मन में कई एक  
अंश रहे उस को एकेन्द्रिय वैराग्य कहते हैं । और  
तृष्णा निस्तृष्णापन को 'वशीकार' वैराग्य कहते हैं । ये चार  
प्रकार के अपर वैराग्य अष्टाङ्गयोग में प्रवृत्ति कराते हैं इस लिये  
संप्रज्ञातसमाधि के अन्तरङ्ग साधन है और असंप्रज्ञात समा-  
धि के बहिरङ्ग साधन है । असंप्रज्ञात समाधि के अन्तरङ्ग साधन-  
पर वैराग्य का निरूपण करने वाला सूत्र है ।

"तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्" इति ।

सम्प्रज्ञातसमाधिपाटवेन गुणत्रयात्मकात्प्रधा-  
नाद्विविक्तस्य पुरुषस्य रव्यातिः साक्षात्कारा-  
दशेषगुणत्रयव्यवहारे यद्वैतृष्ण्यं तत्परं वै-  
राग्यम् । तस्य तारतम्येन समाधेः शीघ्र-  
त्वतारतम्ये सूत्रयति ।

अर्थः—आत्मा के साक्षात्कार होने से तीन गुण और  
उन के कार्यों में जो तृष्णा रहित पन है उस को 'पर वैराग्य'  
कहते हैं । इस वैराग्य में न्यूनताधिक्य के कारण समाधि की  
शीघ्रता में जो तारतम्य होता उस को भगवान् पतञ्जलि कहते हैं ।

"तीव्रसंयोगानामासन्नः समाधिलाभः" इति ।

संवेगो वैराग्यम् । तद्भेदाद्योगिनस्त्रिविधा

मृदुसंवेगा मध्यसंवेगा स्तीव्रसंवेगाश्चेति ।

आसन्नोऽल्पेनैव कालेन समाधिर्लभ्यत इत्य-

र्थः । तीव्रसंवेगेष्वेव समाधितारतम्यं सूत्रयति ।

अर्थः—वैराग्य के भेद के कारण तीन प्रकार के योगी



होते हैं, एक मृदुवैराग्य वाला दूसरा मध्यमवैराग्यवाला और तीसरा तीव्र वैराग्यवाला । इन में से तीव्र वैराग्यवान् को समाधि सीमा ही समय में सिद्ध होती है । तीव्र वैराग्यवान् में भी समाधिसिद्धि के समय न्यूनाधिकता का प्रतिपादन करनेवाला सूत्र ।

“मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः” इति । मृदुतीव्रो मध्यतीव्रोऽधिमात्रतीव्र इति । तेन पुनरोत्तरस्य त्वरया सिद्धिर्दृष्टव्या । उत्तमोत्तमा जनकप्रह्लादादयोऽधिमात्रतीव्राः मुहूर्त्तमात्रविचारण दृढसमाधिलाभात् । अधमाधमा उद्दालकादयो मृदुसंवेगाः । चिरप्रयासेन तद्ग्राभात् । एवमन्येऽपि यथायोगमुन्नेयाः । तदेवमधित्वस्य दृढभूमानसंप्रज्ञातसमाधौ लब्धे सति पुनर्व्युत्थातुमशक्यं सन्मनो नश्यति । मनोनाशेन वासनाक्षये रक्षिते सति जीवन्मुक्तिः सुप्रतिष्ठिता भवति । न च मनोनाशेन विदेहमुक्तिरेव नतु जीवन्मुक्तिरिति शङ्कनीयम् । प्रश्नोत्तराभ्यां तन्निर्णयात् । श्रीरामः ।

अर्थः—‘मृदु तीव्र, वैराग्यवान् योगी को जल्दी से समाधि का लाभ होता है, मध्य तीव्र वैराग्य वाले को उस से भी जल्दी समाधि का लाभ होता है’ उत्तमोत्तम जनक प्रह्लाद आदिकों का मुहूर्त्तमात्र विचार करने से समाधि का लाभ हुआ था इस लिये वे अतिशय तीव्र वैराग्यवान् समझे गये । अर्थात् में उद्दालक आदिकों को मृदुवैराग्यवान् जाना । क्योंकि उन

को बड़े परिश्रम से समाधि की प्राप्ति हुई थी । इस भांति और को भी जान लेना । इस प्रकार अतिशय तीव्र वैराग्यवान् पुरुष को अन्यन्त दृढ अभ्यसनात् समाधि प्राप्त होने से पुनः व्युत्थान को प्राप्त होनेमें अशक्त होने से मन नाश को प्राप्त हो जाता है मन के नाश होने से वासनाक्षय का संरक्षण होता है । और उस से जीवन्मुक्ति की स्थिरता प्राप्त होती है । मन के नाश से विदेहमुक्ति सिद्ध होती है, जीवन्मुक्ति भिन्न नहीं होती, ऐसी शङ्का न करो । क्योंकि योगवासिष्ठ में श्री राम और वसिष्ठ मुनि के प्रश्नोत्तर में जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है ऐसा निर्णय हुआ है । श्री राम जी ने पूछा ।

“विवेकाभ्युदयाचित्तस्वरूपेऽन्तर्हिते मुने ? ।

मैत्र्यादयो गुणाः कुत्र जायन्ते योगिनां वद” ॥

वसिष्ठः ।

अर्थः—हे मुने ? विवेक के उदय होने से चित्त का स्वरूप नाश हो जाता है, इस लिये योगियों में मैत्री, मुदिता, आदि गुण चित्त के विना कहां उत्पन्न हों ? इस पर वसिष्ठ जी—

द्विविधाश्चित्तनाशोऽस्ति सरूपोऽरूप एव च ।

जीवन्मुक्तौ सरूपः स्यादरूपोदेहमुक्तिगः ॥

प्राकृतं गुणसम्भारं ममेति बहु मन्यते ।

सुखदुःखाद्यवष्टब्धं विद्यमानं मनो विदुः ॥

चेतसः कथिता सत्ता मया रघुकुलोद्बह ? ।

अस्य नाशमिदानीं त्वं शृणु प्रश्नविदां वर ? ॥

सुखदुःखदशा धीरं साम्यात् प्रोद्गरन्ति यम् ।

निःश्वासा इव शैलेन्द्रं तस्य चित्तं मृतं विदुः ॥

आपत्कार्पण्यमुत्साहोमदोमान्धं महोत्सवः ।



यं नयन्ति न वैरूप्यं तस्य नष्टं मनो विदुः ॥  
 चित्तमाशाभिधानं हि यदा नश्यति राघव ? ।  
 मंत्र्यादिभिर्गुणैर्युक्तं तदा सत्त्वमुदेत्यलम् ॥  
 भूयोजन्मविनिर्मुक्तं जीवन्मुक्तस्य तन्मनः ।  
 सरूपोऽसौ मनोनाशो जीवन्मुक्तस्य विद्यते ॥  
 अरूपस्तु मनोनाशो यो मयोक्तोरद्युद्धह ? ।  
 विदेहमुक्तावेवासौ विद्यते निष्कलात्मनः ॥  
 समग्रान्यगुणाधारमपि सत्त्वं प्रलीयते ।  
 विदेहमुक्तावमले पदे परमपावने ॥  
 संशान्तदुःखमजडात्मकमेकरूप-  
 मानन्दमन्धरमपेतरजस्तमोयत् ।  
 आकाशकोशतनवोऽतनवोमहान्त-  
 स्तस्मिन्पदे गलितचित्तलवा वसन्ति” इति ॥  
 “जीवन्मुक्ता न मुह्यन्ति सुखदुःखरसस्थितौ ।  
 प्राकृतेनार्थकारेण किञ्चित् कुर्वन्ति वा न वा” ॥  
 तस्मात् सरूपोमनोनाशो जीवन्मुक्तिसा-  
 धनमिति स्थितम् ।

इति श्रीमद्विद्यारण्यप्रणीतजीवन्मुक्ति  
 विवेके मनोनाशनिरूपणं नाम  
 तृतीयं प्रकरणम् ॥

अर्थः—‘सरूपनाश’ ( सूक्ष्म स्वरूप रहे ऐसा नाश ) और  
 ‘अरूपनाश’ ( निःशेष नाश ) इस तरह चित्त का नाश दो  
 प्रकार का है । जीवन्मुक्तदशा में चित्तका सरूप का नाश होता

और विदेह मुक्ति में अरूप नाश होता है । प्रकृति के गुण  
 को गणना बुद्धि पूर्वक जब आसक्ति से मन सेवता है,  
 और इस में ही जब सुख दुःख आदि से युक्त होता है, तब  
 वह मन विद्यमान है, ऐसा जानना, हे रघुकुल में श्रेष्ठ रामचन्द्र  
 जी ! यह तो मैंने आप को चित्त की विद्यमानता का वर्णन  
 किया है । अब हे प्रश्न जानने वालों में श्रेष्ठ ? उस के नाश  
 को सुनो जैसे सांस ( निःश्वाम ) पहाड़ का ढिला नहीं सकता  
 वैसे सुख के समय या दुःख के समय जिस के चित्त की साम्य  
 अवस्था भङ्ग नहीं हो सकती उस विवेकी पुरुष का चित्त नाश  
 को प्राप्त हुआ है ऐसा जानो । आपत्ति, कृपणता, उत्साह,  
 मद, मन्दता, और महोत्सव, जिस के रूप को बदल नहीं स-  
 कता ( चलायमान नहीं कर सकता ) अर्थात् हर्ष शोक आदि  
 के बश नहीं कर सकता, उस का चित्त नाश हुआ, ऐसा समझो,  
 तृष्णा ही जिस का स्वरूप है, ऐसा चित्त जब नाश को प्राप्त  
 होता है तब मैत्री आदिक गुण युक्त सत्त्व उदय को प्राप्त  
 होता है । इस मैत्री आदि गुण युक्त वाले पुरुष का चित्त पु-  
 नर्जन्मराहित होता है । इस प्रकार की चित्त की अवस्था जी-  
 वन्मुक्त पुरुष की होती है, उस को सरूपचित्तनाश कहते हैं ।  
 हे राघव ! मैं ने जो तुम को अरूप चित्त नाश कहा, वह विदेह  
 मुक्ति दशा में ही होता है । इस समय चित्त का कोई भी अंश  
 बाकी नहीं रहता । विदेह मुक्ति में समग्र मैत्री आदि उत्तम  
 गुण वाला चित्त भी परम पावन और निर्मल ऐसे परमात्मा के  
 स्वरूप में ही लय को प्राप्त होता है । जिस पद में सारे दुःखों  
 का अभाव है, जो चैतन्य रूप है, जो सदा एक रूप है, जिस  
 में रज, और तम हैं ही नहीं, और जो आनन्द पूर्ण है उस पर



में, जिन के चित्त का नाश हुआ है ऐसा शरीर रहित हुआ और आकाश के समान सूक्ष्म महात्मा पुरुष सदा वाम करता है, जीवन्मुक्त पुरुष सुख दुःख की स्थिति में मोह को प्राप्त नहीं होता। मारुत से कुछ करता है और नहीं करता है। अतएव सारूप मनोनाश जीवन्मुक्ति का साधन है, यह, बात सिद्ध हुई।

इस रीति से श्री जीवन्मुक्ति विवेक में मनोनाश नामक तीसरा प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थं स्वरूपसिद्धिप्रयोजनप्रकरणम् ॥

केयं जीवन्मुक्तिः, ? किं वा तत्र प्रमाणं, ? कथं वा तत्सिद्धिः, ? इत्येतस्य प्रश्नत्रयस्योत्तरं निरूपितम् । सिद्ध्या वा किं प्रयोजनमित्यस्य चतुर्थप्रश्नस्योत्तरमिदानीमभिधीयते । ज्ञान-रक्षातपोविसंवादाभावदुःखनाशसुखाविर्भावाः पञ्च प्रयोजनानि । ननु प्रमाणोत्पन्नस्य तत्त्वज्ञानस्य को नाम बाधप्रसङ्गः ? येन रक्षाऽपेक्ष्यत इति चेदुच्यते । चित्तविश्रान्त्यभावे संशयविपर्ययो प्रसज्येयाताम् । तथा हि तत्त्वविदो राघवस्य विश्रान्तेः पूर्वं संशयं विश्वामित्र उदाजहार ।

अर्थः—जीवन्मुक्ति किस को कहते हैं ? उस में क्या प्रमाण है ? और उस की सिद्धि किस रीति से होती है ? इन तीन प्रश्नों के उत्तर का निरूपण हो चुका है । अब जीवन्मुक्ति के सिद्धि का क्या प्रयोजन है ? इस चौथे प्रश्नका उत्तर कहा जाता है ।

ज्ञान की रक्षा, तप, विसंवादाभाव, (विचार की निवृत्ति) दुःख की निवृत्ति और सुखका आविर्भाव ये पांच जीवन्मुक्ति के प्रयोजन हैं ।

शङ्का—महावाक्यरूप प्रमाण से उत्पन्न हुए तत्त्वज्ञान को कोई बाध करने हारा नहीं । जो श्रुति से कोई प्रबल प्रमाण होवे तो उस से तत्त्वज्ञान बाध पावे परन्तु श्रुति से कोई बढ़कर



प्रमाण नहीं। इस लिये महावाक्य श्रुति से उत्पन्न ज्ञान की रक्षा की क्या आवश्यकता है ?

समाधान—तत्त्वज्ञान हो भी जाय तौ भी जब तक चित्त की शान्ति नहीं होती तब तक संशय विपर्यय होना संभव है।

श्रीरामचन्द्र को तत्त्वज्ञान हुआ भी था, तौ भी चित्त विश्रान्ति होने के पहिले संशय उत्पन्न हुआ यह बात योगवाणिष्ठ में प्रामिद्ध है।

निश्चामित्र बोले—

“न राघव ! तवास्त्यन्यज्ज्ञेयं ज्ञानवता धर ? ।  
स्वयैव सूक्ष्मया बुद्ध्या सर्वं विज्ञातवानसि ॥

भगवद्ग्यासपुत्रस्य शुकस्यैव मतिस्तव ।  
विश्रान्तिमात्रमेवात्र ज्ञातज्ञेयाऽप्यपेक्षते” इति ॥

शुकस्तु स्वयमेवाऽऽदौ तत्त्वं विदित्वा तत्र  
संशयानः पितरं पृष्ट्वा पित्रा तथैवानुशिष्टस्त-  
थाऽपि संशयानो जनकमुपासाद्यतेनाऽपि  
तथैवानुशिष्टस्तप्रत्येवचा मुवा श्रीशुकः—

अर्थः—हे रामचन्द्र ! अब तुम्हारे को कुछ जानने को शेष नहीं रहा अपने सूक्ष्म बुद्धिद्वारा तुम सब जान चुके। परन्तु भगवान् व्यास देव के पुत्र शुकदेव के समान तुम्हारी चित्तवृत्ति का विश्रान्ति मात्र प्राप्त होने की आवश्यकता है।

श्रीशुकदेव तो अपने आपही तत्त्वज्ञान प्राप्त कर मुझको जो ज्ञान है, सो मस्य होगा या मिथ्या होगा ? इस भांति संशय होने से अपने पिता व्यास जी से पूछा तब उन ने भी जो स्वयं जानते थे—सो कहा, तथापि संशय निवृत्त न होने से जनक राजा के पास कई प्रश्न किये, उनने भी वही उप-

दिये। तब स्वयं जनक को इस भांति कहा—

“स्वयमेव मया पूर्वमेतज्ज्ञातं विवेकतः ।

एतदेव च पृष्टेन पित्रा मे समुदाहृतम् ॥

भवताऽप्येष एवार्थः कथितो वाग्विदांवर ? ।

एष एवात्र वाक्यार्थः शास्त्रेषु परिदृश्यते ॥

यथाऽयं स्वाविकल्पोत्थः स्वाविकल्पपरिच्छयात्

क्षीयते दग्धसंसार असार इति निश्चितः ॥

तत्किमेतन्महाबाहो ! सत्यं ब्रूहि ममाचलम् ।

त्वत्तो विश्राममामोमि चेनसा भ्रमता जगत् ।

जनकः—

अर्थः—पूर्व में अपने ही विवेक द्वारा मैं ने यह जाना था, अपने पिता से भी यही प्रश्न मैंने किया था तब उनने भी यही उत्तर दिया था, हे वक्ता में श्रेष्ठ ? आप भी यही बात कहते हो। यह निन्द्य और निःसारसंसार अपने ही अन्तःकरण से स्फुरित होता है। और उस अन्तःकरण के क्षय होने से नाश को प्राप्त होता है। ऐसा ही निश्चय शास्त्रों में भी देखा है। इस लिये ‘यह जगत् क्या है ? सो मुझ को कहो जिस्से हमारे सन्देह की निवृत्ति हो जावे। इस भ्रान्ति-चित्त से भ्रमने वाला मैं आपके वचनों से विश्रान्ति को पाऊंगा।

इस पर जनक जी बोले—

“नातः परतरः कश्चिन्निश्चयोऽस्त्यपरो मुने ? ।

स्वयमेव त्वया ज्ञातं गुरुतश्च पुनः श्रुतम् ॥

अव्युच्छिन्नश्चिदात्मैकः पुमानस्तीह नेतरत् ।

स्वसंकल्पवशाद्बद्धो निःसंकल्पस्तु मुच्यते ॥

तेन त्वया स्फुटं ज्ञातं ज्ञेयं स्वस्य महात्मनः ।



भोगेभ्यो विरतिर्जाता दृश्याद्या सकलादिह ॥  
 प्राप्तं प्राप्तव्यमखिलं भवता पूर्णचेतसा ।  
 न दृश्ये पतसि ब्रह्मन् ? मुक्तस्त्वं भ्रान्तिमुत्सृज ॥  
 अनुशिष्टः स इत्येवं जनकेन महात्मना ।  
 विश्राम शुकस्तूष्णीं स्वस्थे परमवस्तुनि ॥  
 पीतशोकभयायासोनिरीहश्छिन्नसंशयः ।  
 जगाम शिखरं मेरोः समाध्यर्थमनिन्दितम् ॥  
 तत्र वर्षसहस्राणि निर्विकल्पसमाधिना ।  
 दश स्थित्वा शशामासावात्मन्यस्नेहदीपवत् ॥  
 इति ॥

अर्थः—हे मुने ! यहाँ सर्वत्र पूर्ण, अद्वितीय चैतन्यस्वरूप आत्माही है, उसके सिवाय इतर कोई भी वस्तु नहीं । और जीव केवल अपने संकल्प से ही बद्ध है, और संकल्प रहित होता, तब मुक्त होता है । इस से भिन्न दूसरा कोई निश्चय नहीं । तुमने आपसे यह जाना और फिर गुरु से भी सुना तूजो महात्मा है, तिसने अपनी ज्ञेय वस्तु यथार्थ जाना है। क्योंकि सकल भोगों से या सकल दृश्य पदार्थ से उसके विषय विराम प्राप्त हुआ है, पूर्णचित्त वाला तू सर्व प्राप्तव्य प्राप्त कर लिया है। तू अब दृश्य में नहीं पड़ता अर्थात् उस में तुच्छ बुद्धि होने से, उस पर तेरा लक्ष्य नहीं जाता है, इस लिये भ्रान्ति को छोड़ दो । इस भाँति महात्मा जनक से उपदेश पाकर शुकदेवजी, निर्विकार परमात्मवस्तु में तूष्णीं भाव ग्रहण कर विश्राम पाया जिस के शोक, भय और आयास निवृत्त होगये हैं, जिस को किसी प्रकार की इच्छा नहीं और जिस के संशय छिन्न हो गये, ऐसा शुकदेव समाधि के निमित्त समाधि के प्रतिकूल दोष रहित मेरु के शिखर

वादी ) पर गये । वहाँ निर्विकल्प समाधि में दश हजार वर्ष स्थिति कर जैसे विना तेल का दीप सामान्य अग्नि में शान्त होता है, वैसे वह स्वरूप में शान्त हुआ ।

तस्माद्विदितेऽपि तत्त्वे विश्रान्तिरहितस्य शु-  
 कराघयोरिव संशय उत्पद्यते । स चाज्ञान-  
 मिव मोक्षस्य प्रतिबन्धकः । अतएव भगवतोक्तम् ।  
 अर्थः—इस कारण आत्म स्वरूप का ज्ञान होने पर भी जिस का चित्त विश्राम को नहीं प्राप्त हुआ, उस पुरुष को श्रीशुकदेवजी के समान और श्रीरामचन्द्रजी के समान संशय उत्पन्न होता है, और वह संशय अज्ञान के समान ही मोक्ष में प्रतिबन्धरूप है । इसी लिये श्रीभगवान् ने कहा है ।

“अज्ञश्चाश्रद्धधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।  
 नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः” ॥

अर्थः—जो अज्ञानी, श्रद्धा से हीन और सदा संशय करने वाला है वह नाश को प्राप्त होता है । जिस का मन सदा संशय में रहता है, उस को यह लोक परलोक और सुख नहीं ।

अश्रद्धा विपर्ययः । स चोत्तरत्रोदाहरिष्यते ।  
 अज्ञानविपर्ययौ मोक्षमात्रविरोधिनौ । सं-  
 शयस्तु भोगमोक्षयोरुभयोरपि विरोधी ।  
 तस्य परस्परविरुद्धकोटिद्वयावलम्बित्वात् ।

यदा संसारसुखाद्य प्रवृत्तिस्तदा मोक्षमार्गे  
 बुद्धिस्तां निरुणञ्चि । यदा च मोक्षमार्गे प्र-  
 वृत्तिस्तदा संसारबुद्धिस्तां प्रतिबध्नाति । त-  
 स्मात् संशयात्मनो न किञ्चित् सुखमस्तीति  
 समुद्भूता सर्वथा संशयाश्छेत्तव्याः । अतएव



श्रूयते—“छिद्यन्ते सर्वसंशयाः” इति ।

अर्थः—अश्रद्धा अर्थात् विपर्यय इस का उदाहरण आगे आयेगा । अज्ञान और विपर्यय मोक्षमात्र का विरोधी है, और संशय तो भोग और मोक्ष दोनों का विरोधी है, क्योंकि संशय, परस्पर विरुद्ध कोटि को अवलम्बन कर उदय को प्राप्त होने वाला होने से जब संशय वाला पुरुष संसार के सुख में प्रवृत्ति करता है, तब मोक्षमार्ग सम्बन्धी बुद्धि उसकी सुख में हुई प्रवृत्ति को रोकती है । और जब मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करता है, तब उस को संसार बुद्धि रोकती है । इस लिये संशय वाले मनुष्य को किसी प्रकार का सुख न होने से उस को सर्वथा संशय का उच्छेद करना चाहिये । छिद्यन्ते सर्वसंशयाः—इस श्रुति वाक्य से भी आत्ममाक्षात्कार होने से संशय छिन्न हो जाने है ऐसा सिद्ध होता है ।

विपर्ययस्यापि निदाघ उदाहरणम् । ऋभुः परमकरुणया निदाघस्य गृहमेत्य बहुधा तं बोधयित्वा निर्जगाम । बुद्धेऽपि तदुपदिष्टवस्तु-  
न्यश्रद्धानो निदाघः कर्मणि परमपुरुषार्थहे-  
तुरिति विपर्ययं प्राप्य कर्मानुष्ठाने यथापूर्वं प्रवृत्तः । सांऽपि शिष्यस्य परमपुरुषार्थभ्रं-  
शोमाभूदिति कृपया गुरुः पुनरागत्य बोधया-  
मास । तदाऽपि विपर्ययं न जहौ । तृतीयेन तु बोधनेन विपर्ययं परित्यज्य विश्रान्तिम-  
लभत् । संशयविपर्ययाभ्यामसम्भावनावि-  
परीतभावनारूपाभ्यां तत्त्वज्ञानस्य फलं प्र-  
तिबध्यते । तदुक्तं पराशरेण—

अर्थः—विपर्यय का दृष्टान्त निदाघ का है—वह इस भांति है कि ऋभुनामक मुनि ने केवल कृपा दृष्टि से निदाघ के घर आकर उसका अनेक प्रकार बोध कराया उस के बाद वहां से वह चले । परन्तु ऋभु के अन्नःकरण में ‘मेरे दिये हुए इस प्रकार के ज्ञान में अविश्वास होने से ‘कर्म ही परम पुरुषार्थ का हेतु है, ऐसी उन्नती बुद्धि के वशवर्ती हो के यह ज्ञान के उपदेश होते प-  
हिले जैसा कर्म करता था वैसा ही कर्म करने लगा मेरा शिष्य परम पुरुषार्थ से भ्रष्ट न हो तो ठीक है’ ऐसे हेतु से ऋभु ने फिर उस के घर आकर उपदेश दिया तो भी उसकी विपरी-  
बुद्धि नहीं मिटी । जब तीसरी बार आकर बोध कराया, तब उस ने विपरीत बुद्धि का त्याग किया, और अन्त में विश्रान्ति को प्राप्त हुआ । संशय या जिम को असम्भावना कहते हैं, और विपर्यय जिम को विपरीत भावना कहते हैं, ये दोनों, तत्त्व-  
ज्ञान का फल जो चित्त विश्रान्ति, उन को उत्पन्न नहीं करते हैं । सो पराशर जीने कहा है—

“माणिमन्त्रौपवैर्वन्दिहः सुदीप्तोऽपि यथेन्धनम् ।

प्रदग्धुं नैव शक्तः स्यात् प्रतिबद्धस्तथैव च ॥

ज्ञानाग्निरपि सञ्जातः प्रदीप्तः सुदृढोऽपि च ।

प्रदग्धुं नैव शक्तः स्यात् प्रतिबद्धस्तु कल्मषम् ॥

भावना विपरीता या या चासम्भावना शुक्तः ।

कुरुते प्रतिबन्धं सा तत्त्वज्ञानस्य नापरम्” इति ।

अर्थः—जैसे प्रज्वलित अग्नि भी मणि, मन्त्र, और औष-  
धि के जरिये नहीं जलता ( बन्द हो जाता ) है तब वह इन्धन काष्ठ को नहीं जरा सकता, उसी भांति ज्ञान रूप अग्नि भी यदि प्रदीप्त हो तो वह प्रतिबन्ध शुक्त होता है, तो अज्ञान आदिक



दोषों को नहीं जला सकता । हे धुक ! असम्भावना और वि-  
परीत भावना ही तत्त्वज्ञान का प्रतिबन्ध करती है, अन्य कोई  
भी पदार्थ ज्ञान का प्रतिबन्धक नहीं ।

तस्मादविश्रान्तस्य संशयविपर्ययप्रसङ्गेन त-  
त्त्वज्ञानस्य फलप्रतिबन्धलक्षणात् बाधाद्रक्षा-  
ऽपेक्ष्यते । विश्रान्तचित्तस्य तु मनोनाशन  
यदा जगदेव प्रविलीयते तदा संशयविपर्य-  
योः कः प्रसङ्गः । जगत्प्रतिभासरहितस्य ब्रह्म-  
विदो देहव्यवहारोऽपि विनैव प्रयत्नं परमे-  
श्वरप्रेरितेन प्राणवायुना निष्पद्यते । अतएव  
छन्दोगा आमनन्ति ।

अर्थः—इस लिये जिस का चित्त विश्रान्ति को प्राप्त नहीं  
होता है, उस का संशय विपर्यय रूप प्रतिबन्ध से ज्ञान के फल  
की रक्षा करनी आवश्यक है । और जिस का चित्त विश्राम  
पाया है उसको तो मनोनाशमे जगत्काही लय हो जाता  
है, तो संशय विपर्यय का प्रसङ्ग ही नहीं । जगत् की प्रतीति  
रहित ब्रह्मवित् पुरुष का शरीरव्यवहार भी प्रयत्न किये बिना  
ही परमेश्वर प्रेरित वायुसे होता है ।

छान्दोग्य उपनिषद् में लिखा है—

“नोपजनं स्मरन्निदं शरीरं स यथा प्रयोग्य  
आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिन् शरीरे प्राणो  
युक्तः” इति । उपजनं जनानां समीपे वर्तमा-  
नमिदं शरीरं न स्मरन्ब्रह्मविद्वर्तते । पार्श्व-  
स्था जना एव तत्त्वविदः शरीरं पश्यन्ति ।  
स्वयं तु निर्मलस्कत्वान्मर्दायं शरीरमिति न

स्मरति । प्रयोग्यो रथशकटादिवहने प्रयोक्तु-  
मर्हः शिक्षितोऽश्ववलीवर्दीदिः स यथा सा-  
रथिना मार्गस्थाऽऽचरणे प्रेरितः पुनः सारथि-  
प्रयत्नमनपेक्ष्य स्वयमेव रथशकटादिकं पु-  
रोवर्त्तिग्रामं नयति एवमेवायं प्राणवायुः प-  
रमेश्वरेणास्मिन् शरीरे नियुक्तः सत्यमिति वा  
जीवप्रयत्ने व्यवहारं निर्वहति । भागवतेऽपि  
स्मर्यते ।

अर्थः—ब्रह्मवित् पुरुष को मनुष्यों के समीप रहने पर  
उस के शरीर का भान नहीं होता है । समीप रहे मनुष्य ही  
उसके शरीर को देखते हैं । स्वयं तो अमन भाव को प्राप्त होने  
से ‘यह मेरा शरीर है’ ऐसा उसको भान नहीं होता । जैसे  
गाड़ी या रथ में जुते हुए बैल या घोड़े अपने काम में शिक्षित  
होने से सारथी के एक बार गन्तव्य मार्ग पर चला देने पर  
अपने आप ही बिना सारथी के प्रयत्न के आगे चले जाते हैं  
और जिस गांव में जाना आना होता वहां पहुंचा देते उसी प्रकार  
यह प्राणवायु भी परमेश्वररूपी सारथी द्वारा इस शरीर में प्रेरित  
जीव का प्रयत्न हो या न हो तो भी व्यवहार का निर्वाह करता है ।

भागवत में भी कहा है—

“देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा  
सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम् ।  
दैवादुपतमथ दैववशादपेतं  
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः” इति ।

अर्थः—जैसे मदिरा के नशे से मदान्ध पुरुष अपने पीछे  
या पास रखे वस्त्रादिक को यहां ही है या कहीं छूट गया



उस को जगाने नहीं हो सकती। उसी भाँति योगी पुरुष को अपने नाशवान शरीर प्रारब्ध कर्म के योग से आसन में उठा है, उठ कर वहाँ स्थित है, या वहाँ से दूसरी जगह गया है या फिर अपने स्थान पर आया है उस को वह जानता नहीं, क्योंकि वह देह से भिन्न ऐसा अपने स्वरूप को प्राप्त हुआ है।

वसिष्ठ जी भी कहते हैं—

“पार्श्वस्थो धिताः सन्तः पूर्वाचारक्रमागतम्।

आचारमाचरन्त्येव सुप्रबद्धवदक्षताः” इति।

अर्थः—जैसे निद्रामें से जगा हुआ पुरुष अपने पूर्ववत् व्यवहार करता है, तैसे पार्श्वस्थ (पार्श्व के रहने वाले) मनुष्य के जगाने पर योगी पुरुष प्रथम के अपने आचारों के क्रम का अनुसरण कर सब आचारों को करता है।

सिद्धो न पश्यत्याचारमाचरतीत्युभयोः परस्परविरोध इति चेन्न । विश्रान्तितारतम्येन व्यवस्थोपपत्तेः । तदेव तारतम्यमभिप्रेत्य श्रूयते—

“आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेव ब्रह्मविदां वरिष्ठः” इति ।

अत्र चत्वारः प्रतीयन्ते । ब्रह्मचित्प्रथमः, ब्रह्मविद्वरो द्वितीयः, वरीयास्तृतीयः, वरिष्ठश्चतुर्थः । न एते सप्तसु योगभूमिषु चतुर्थी योगभूमिसारथ्य क्रमेण भूमिचतुष्टयं प्राप्ता इत्युपगन्तव्यम् । भूमयश्च वसिष्ठेन दर्शिताः—

अर्थः—शङ्का-पूर्व के श्लोक में कहा है कि योगी अपने शरीर को नहीं देखते और उस श्लोक में यह कहा है कि योगी

बाद उठे हुए पुरुष के समान सब व्यवहारों को करते हैं। अतः दोनों वाक्य परस्पर विरुद्ध अर्थ को कथन करते हैं।

समाधान—दोनों की विश्रान्ति में तारतम्य होने से कोई शंका नहीं दीखता । जीवन्मुक्त पुरुष की चित्तविश्रान्ति में तारतम्य है, इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है । ‘यह जीवन्मुक्त पुरुष आत्मा में ही क्रीडा करने वाला, आत्मा में ही रत करने द्वारा, क्रियावान् और ब्रह्मविद् वरिष्ठ है’ ।

इस श्रुति के तात्पर्य से चार प्रकार के योगी प्रतीत होते हैं । ब्रह्मवित्, ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान्, और ब्रह्मविद्वरिष्ठ । योग की भूमिकाओं में से चौथी भूमिका से लेकर क्रमः सातवीं भूमिका—में स्थित पुरुषों की यथा क्रम संज्ञा है । सातवीं भूमिका में स्थित का नाम ब्रह्मवित्, ६ वीं भूमिका में स्थित का नाम ब्रह्मविद्वर, ५ वीं भूमिका में स्थित का नाम ब्रह्मविद्वरीयान्, और सातवीं भूमिका में स्थित योगी का नाम ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहलाते हैं ।

७ भूमिकाओं का नाम सहित निरूपण वसिष्ठ जी ने किया है—

“ज्ञानभूमिः शुभेच्छा स्यात् प्रथमा समुदाहृता ।

विचारणा द्वितीया स्यात् तृतीया तनुमानसा ॥

सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात् ततोऽसंसक्तिनामिका ।

पदार्थोभावरता पृष्ठा सप्तमी तुर्वगात्मज्ञता ॥

स्थितः किञ्चिदप्यस्मि प्रेक्षेऽहं शास्त्रसज्जनैः ।

वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते धृतिः ॥

शास्त्रसज्जनसंपर्कवैराग्यभ्यासपूर्वकम् ।

सञ्चिचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा ॥



विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेष्वसक्तता ।  
 यत्र सा तनुतामेति प्रोच्यते तनुमानसा ॥  
 भूमिकात्रयतयाभ्यासाच्चित्तैऽर्थाविरतेर्वशात् ।  
 सत्त्वात्मनि स्थिते शृङ्गे सत्त्वापत्तिरुदाहृता ॥  
 दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसर्गफला तु या ।  
 कृत्स्नसत्त्वचमत्कारा प्रोक्ताऽसंसक्तिनामिका ॥  
 भूमिकापञ्चकाभ्यासात् स्वात्मारामतया भृशम् ।  
 आभ्यन्तराणां बालानां पदार्थानामभासनात् ॥  
 परप्रयुक्तेन चिरं प्रयत्नेनावबोधनम् ।  
 पदार्थाभावनी नाम षष्ठी भवति भूमिका ॥  
 भूमिपदकचिराभ्यासाद्भेदस्यानुपलम्भनात् ।  
 यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः” इति ।  
 अर्थः—‘शुभेच्छा’ पहिली भूमिका, विचारणा, दूसरी  
 भूमिका, तनुमानसा तीसरी भूमिका, सत्त्वापत्ति चौथी भूमिका,  
 असंसक्ति पांचवी भूमिका, पदार्थाभावनी छठी भूमिका, और  
 तुरीया सातवी भूमिका है—

इनका क्रम से लक्षण कहते हैं ।

मैं मूढ़ के समान क्या बैठा हूँ श्रीमद् गुरु और सत्य शा-  
 स्त्र की सहायता से मैं अपने स्वरूप को देखूँ तो ठीक है । ऐसा  
 वैराग्यादिक साधनों सहित जो इच्छा है, वह शुभेच्छा नाम  
 की प्रथम भूमिका है । गुरु शृशूपा और स्वधर्म में निरत रहती  
 हुई श्रवण मनन में जो प्रवृत्ति बहररी विचारणानाम की  
 भूमि का जानो । विचारणा और शुभेच्छा के प-  
 रिणाम से इन्द्रियां विषयों को ग्रहण न करे उसने मन की  
 सूक्ष्मता होती है, अर्थात् सविकल्प समाधि प्राप्त होती है तब

‘तनुमानसा’ नाम की तीसरी भूमिका प्राप्त हुई जानो । इन तीन  
 भूमिकाओं के अभ्यास से बाह्य विषयों में अत्यन्त उपराम होने  
 से चित्त की शुद्ध अर्थात् पाया और उस के कार्य रहित सस-  
 स्वरूप आत्मा में त्रिपुटी के लय पूर्वक निर्विकल्प समाधि रूप  
 जो स्थिति उस को सत्त्वापत्ति नाम की चौथी अवस्था समझ-  
 ती । इन चार भूमिकाओं के अभ्यास से बाहरी और भीतरी  
 विषयों के सङ्ग रहित हो समाधि के परिपाक से बड़ा हुआ  
 परमानन्द स्वरूप ब्रह्म के साक्षात्कार युक्त ऐसी चित्त की  
 अवस्था को ‘असंसक्ति’ कहते हैं । इन पांच भूमिकाओं के अ-  
 भ्यास से आत्मा में ही असन्तरति प्राप्त होने से बाहर और भी-  
 तर के पदार्थों की प्रतीति नहीं होती है । और दूसरा पुरुष  
 जब उस को अनेक बार जगाने का प्रयत्न करता तब उसे प-  
 दार्थों का भान होता है, इस प्रकार की जो अन्तःकरण की  
 अवस्था उस को छठी ‘पदार्थाभावनी’ नाम की भूमिका कहते  
 हैं । छः हो भूमिकाओं का बहुत समय तक अभ्यास से जब  
 प्रयत्न द्वारा भी भेद प्रतीत न हो, और केवल स्वरूप में ही  
 चित्त स्थिति कर रहता, तब तुरीया नाम की सातवी भूमिका  
 सिद्ध हुई ऐसा समझो ।

अत्र भूमिकात्रितयं ब्रह्मविद्यायाः साधनमेव  
 नतु विद्याकोटावन्तर्भवति । भूमित्रये भेदस-  
 त्यत्त्वयुद्धेरनिवारितत्वात् । अतएवैतज्जागर-  
 णमिति व्यपदिश्यते । तदुक्तम्—

अर्थः—इन सात भूमिकाओं में पहिली तीन भूमिका ये  
 ब्रह्मविद्या का साधन रूप हैं, परन्तु ब्रह्मविद्या की कोटि में  
 नहीं गिनी जाती क्योंकि तीन भूमिका तक भेद के विषय में स-



अथ भगवत्पुत्रोक्तं श्रीमद्भगवद्गीतासु  
अथ भगवत्पुत्रोक्तं श्रीमद्भगवद्गीतासु

अथ भगवत्पुत्रोक्तं श्रीमद्भगवद्गीतासु

“भूमिकाधिनयं त्वेवद्राम ? जाग्रदिनि स्थितम् ।  
यथावद्वेदयुद्धे जगत्त्रायति इदमेव” इति ।

अर्थः—हे राम ? ये तीन भूमिका जाग्रत अवस्था में हैं ।  
जाग्रत अवस्था में हैं । क्योंकि यह विश्व, यथा वेदयुद्धे  
इस जाग्रत अवस्था में ही रहता है ।

ततो वेदान्तवाक्यानिर्विकल्पको ब्रह्मानन्दक-  
साक्षात्कारश्चतुर्थी भूमिका फलरूपा सत्त्वा-  
तिः । चतुर्थभूमी सर्वजगद्गुणादानस्य ब्रह्म-  
णो वास्तव्यमिदं यममवस्थायां निश्चिन्ता  
ब्रह्मण्यारोपितयोर्जगच्छब्दाभिधेययोर्नामरू-  
पयोर्मिथ्यात्वमवगच्छति । सुसुप्तोः पूर्वोक्त-  
जागरणापेक्षयेयं भूमिः स्वप्नः । तदाह—

अर्थः—इस तीन भूमिकाओं का जय करने पर वेदान्त-  
वाक्य में दत्तगान्ता से अभिन्न ब्रह्म का निर्विकल्प साक्षात्कार  
होगा—यह ‘सत्त्वाति’ नाम की फलरूप चौथी भूमिका है ।  
इस चौथी भूमिका में सायक, सब जगत् का विवेक रूप-  
रूप ब्रह्म का वास्तविक अद्वितीय सत्तारूप स्वभाव का निश्चि-  
न्ता, ब्रह्म में आरोपित ‘जगत्’ ऐसे नाम से कथन करने में  
ब्रह्मण्यारोपित जात होता है । सुसुप्त को पूर्व कथ-  
ित जाग्रत अवस्था की अवस्था से यह भूमिका फलरूप है ।

अथ भगवत्पुत्रोक्तं श्रीमद्भगवद्गीतासु

अथ भगवत्पुत्रोक्तं श्रीमद्भगवद्गीतासु

अथ भगवत्पुत्रोक्तं श्रीमद्भगवद्गीतासु

अथ भगवत्पुत्रोक्तं श्रीमद्भगवद्गीतासु

अथ भगवत्पुत्रोक्तं श्रीमद्भगवद्गीतासु

अथ भगवत्पुत्रोक्तं श्रीमद्भगवद्गीतासु

अथ भगवत्पुत्रोक्तं श्रीमद्भगवद्गीतासु

अर्थः—अद्वैत की स्थिरता प्राप्त होने में और द्वैत की

स्थिति में चौथी भूमिका को पहुँचे हुए जो योगजन जगत्  
समान देखते हैं । और जिस को अलग होने पर दा-  
त कर्तु के बादल की गर्जना के समान, आगे और आगे में  
जब इस प्रकार का भेद बिछा जाता है, और जिस में प्राप्त  
जगत् से केवल सद् वस्तु की ही सुसुप्त स्थापना करता  
है । वे सब प्राणियों में सर्वत्र से स्थित योगजन ही ही हैं ।  
सी की मैं स्तुति करता हूँ । चतुर्थी भूमिका पहुँचा हुआ योगी,  
सब सत्तारूप ही जय रहता है ।

सायं चतुर्थी भूमिका प्राप्तो योगी ब्रह्मवि-  
दित्युच्यते । पञ्चम्यादयस्त्रिचोभूमयो जीवन्मु-  
क्तेशान्तरमेवाः । ते च निर्विकल्पसमाध्य-  
भ्यासचलेन विश्रान्तितारुण्येन संवर्धन्ते ।

अर्थः—इस चतुर्थी भूमिका को प्राप्त हुआ योगी ‘ब्रह्म-  
विद’ कहलाता है । पाँचवी, छठी, और सातवीं भूमिका जी-  
वन्मुक्त के अग्रन्तर भेद है । यह भेद, निर्विकल्प समाधि के  
प्राप्त होने विश्रान्ति की न्युत्तांशकता के कारण होता है ।

तथाचतुर्थी निर्विकल्पकावस्था स्वयमेव भूति-  
र्दान । सोऽयं योगी ब्रह्मविद्वरः । पञ्चभूमौ-  
वास्तव्यमिदं यममवस्थायां निश्चिन्ता । सोऽयं ब्रह्म-



विद्वरीयान् । तदेतद्भूमिद्वयं सुषुप्तिर्गाढ-  
सुषुप्तिरिति चाभिधीयते । तदाह—

अर्थः—पांचवी भूमिका में स्थित योगी, निर्विकल्प, समा-  
धि में से स्वयं जागता है वह योगी ब्रह्मविद् वर कहलाता है ।  
छठी भूमिका में स्थित योगी, निकट वासियों के जगाने पर  
जागता है । इस योगी का नाम ब्रह्मविद् वरीयान् है । इन दोनों  
भूमिकाओं को क्रम से पांचवी को सुषुप्ति और छठी को गाढ  
सुषुप्ति कहते हैं । सो कहते हैं—

“पञ्चमीं भूमिकामेत्य सुषुप्तिपदनानामिकाम् ।  
शान्ताशेषविशेषांशस्तिष्ठत्यद्वैतमात्रके ॥  
अन्तर्मुच्यतया नित्यं बहिर्वृत्तिपरोऽपि तत् ।  
परिश्रान्ततया नित्यं निद्रालुरिव लक्ष्यते ॥  
कुर्वन्नभ्यासमेतस्यां भूमिकायां विवासनः ।  
पृष्ठीं गाढसुषुप्त्याख्यां क्रमात्पतति भूमिकाम् ॥  
यत्र नासन्न सद्रूपोनाहं नाप्यनहंकृतिः ।  
केवलं क्षीणमनन आस्ते द्वैतैक्यनिर्गतः ॥  
अद्वैतं केचिदिच्छान्ति द्वैतमिच्छान्ति केचन ।  
समं ब्रह्म न जानन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम् ॥  
अन्तःशून्योबहिः शून्यः शून्य कुम्भ इवाम्बरे ।  
अन्तःपूर्णोबहिः पूर्णःपूर्णकुम्भ इवार्णवे” इति ।

अर्थः—सुषुप्ति पद नाम की पांचवी भूमिका को पाकर  
जिस को सब भेद रूप अंश निवृत्त हुए हैं, ऐसा पुरुष, केवल अ-  
द्वैत स्वरूप में स्थिति कर रहता है । वह बाह्यवृत्तियों से व्यव-  
हार करता हुआ भी सदा अन्तर्मुख होने से थक गया हो  
ऐसा नित्यनिद्रालु के समान जान पड़ता है । इस भूमिका के

अभ्यास करने से वासना रहित हो वह योगी, क्रम से गाढ  
सुषुप्ति नाम की भूमिका को पाता है । जिस में वह सत् रूप  
नहीं, असत् रूप नहीं अहंकार युक्त नहीं उसी तरह अहंका-  
र रहित नहीं । केवल मनन रहित ऐसा वह पुरुष द्वैत और  
एकता ( अद्वैत ) से अलग हो रहता है । कई एक द्वैत की  
इच्छा करते, बहुत से अद्वैत की इच्छा करते हैं । परन्तु सर्वत्र  
सम ब्रह्म जो द्वैत और अद्वैत दोनों से रहित है, उस को नहीं  
जानते । आकाश में खाली घड़ा के समान वह अन्तः और  
बाह्य शून्य है, जैसे समुद्र में भरे हुए घड़े के समान बाहर, भी-  
तर पूर्ण है ।

गाढ निर्विकल्पसमाधिं प्राप्तस्य संस्कार-  
मात्रशेषस्य चित्तस्य मनोराज्यं कर्तुं बाह्य-  
पदार्थान् ग्रहीतुं वा सामर्थ्याभावादाकाशा-  
वस्थितकुम्भवदन्तर्बहिःशून्यत्वम् । स्वयं-  
प्रकाशसचिदानन्दैकरसे ब्रह्मणि निमग्नत्वे-  
न सलुद्रमध्यस्थापितजलपूर्णकुम्भवदन्त-  
र्बहिःपूर्णत्वम् । तुरीयाभिधां स-  
प्तमीं भूमिं प्राप्तस्य योगिनः स्वतः पर-  
तो वा व्युत्थानमेव नास्ति । ईदृशमेवो-  
द्दिश्य—“देहं विनश्चरन्नवस्थितमुत्थितं वा”—  
इत्यादि भागवतवाक्यं प्रवृत्तम् । असंप्रज्ञा-  
तसमाधिप्रतिपादकानि योगशास्त्राण्यत्रैव  
पर्यवसितानि । सोऽयमीदृशो योगी पूर्वा-  
दाहृतश्रुतौ ब्रह्माविद्वरिष्ठ इत्युच्यते । त-  
देवं पार्श्वस्थबोधितः सिद्धो न परमतीत्यन-



योगीन्द्रोक्तं यथास्थितत्वाच्च कोऽपि विरोधः ।

अर्थः—गाढ़ निर्विकल्प समाधि को प्राप्त हुआ, केवल म-  
स्कारूप से दोष रहे चित्त का मनो राज्य करने या बाहर  
के पदार्थों को ग्रहण करने के लिये सामर्थ्य न होने से वह  
आकाश में रखे घड़े के समान बाहर और भीतर खाली है ।  
उसी तरह स्वर्ण प्रकाश मणिदानन्द स्वरूप ब्रह्म में मन निष्प्र  
होने से और बाहर भी सर्वत्र तुल्य दृष्टि द्वारा, समुद्र के बीच  
में स्थापित पानी से भरे घड़े के समान उसके मन की बाहर  
और भीतर पूर्णता है । तुरीया नाम की सातवीं भूमिका को  
पढ़ने योगी को स्वर्ण या अन्य के प्रयोजन द्वारा उत्थान ही नहीं ।  
ऐसे योगी को संकेत कर 'देहं च' इत्यादि भागवत का वाक्य  
प्रवृत्त हुआ । असंप्रज्ञात समाधि का प्रतिपादक योग शास्त्र का,  
इस भूमिका में ही पर्यवसान है । ऐसे योगी को पूर्वोक्त  
श्रुति ने ब्रह्मविद् वसिष्ठ कहा है । उन भांति 'पाठ्यस्य' यह व-  
चन और सिद्धो न यह वचन क्रम से छठी और सातवीं  
भूमिका में स्थित योगी के स्वरूप का बोधक है । इस लिये  
दोनों वचनों में परस्पर विरोध नहीं है ।

तत्रायं संग्रहः । पञ्चम्यादिभूमिचक्ररूपाया  
जीवन्मुक्ता सम्पाद्यमानायां केनप्रतिभासा-  
भावेन संशयविपर्ययप्रसङ्गाभावाद्दृन्पन्नं तत्त्व-  
ज्ञानमवाधेन रक्षितं भवति । संयं ज्ञानर-  
त्ना जीवन्मुक्तेः प्रथमं प्रयोजनम् ।

अर्थः—उपसंहार—५ वी, ६ वी, ७ वी, भूमिकारूप जी-  
वन्मुक्ति को सम्पादन करने से संशय और विपर्यय का प्रसङ्ग  
नहीं आता इससे ज्ञान की निरालम्बता की रक्षा होती है ।

इति सा यह जीवन्मुक्ति का प्रथम प्रयोजन है ।

तपोऽतितापं प्रयोजनम् । योगसूर्यानां देशस्था-  
दिप्राप्तिहेतुतया तपस्ये द्रष्टव्यम् । तद्धेतुत्वं  
चाजुनभगवताः श्रीरागवसिष्ठयोश्च प्रदत्तो-  
त्तराभ्यामवगम्यते ।

अर्जुन उवाच—

अर्थः—जीवन्मुक्ति का दूसरा प्रयोजन तप है । योगसू-  
र्यादि देव आदि योगी की प्राप्ति का कारण है, इस लिये  
यह तप रूप है ।

इन का तप होना अर्जुन और भगवान् कृष्ण के उसी त-  
र श्रीराम और वसिष्ठ के सम्वाद से जान पड़ता है ।

अर्जुन बोले—

“असतिः अजयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।

अप्राप्य योगसंसिद्धिं काङ्क्षति कृष्ण ? गच्छति ॥

कश्चिन्नो मयि विप्रश्चिच्छिन्नो मयि च नश्यति ।

अप्रतिष्ठां महाबाहो विसृष्टो ब्रह्मणः पथि ॥

एतन्मे संशयं कृष्ण ? च्छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥

त्वदन्यः संशयस्यास्य च्छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥

भगवानुवाच—

अर्थः—हे कृष्ण ! मनोवृत्ति को स्वाधीन न करने द्वारा,  
श्रद्धा युक्त, योग से चल चित्त पुरुष योग की सिद्धि को न  
पाकर किम माने को जाता है । क्या वह योगी कर्म मार्ग और  
योगमार्ग से भ्रष्ट हुआ, निराधार ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग में अज्ञ,  
राज्य में घरे हुए योग की नाई नष्ट हो जाता है, या, हे महाबा-  
हो ! नहीं नष्ट होता है ? हे कृष्ण ! इस मार्ग संशय को तुम



एक ही जगह हो। इसमें दुनगा कोई इस संसार को  
कामे इत्यादि नहीं देखता। इस पर श्रीकृष्णजी बोले—

पापे ! नैवेह नानुश्र विनाशस्तस्य विद्यते ।

न हि कन्याशक्त्याश्चिद् दुर्गतिं नातः । गच्छति ॥

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुपित्वा शाश्वतीः समाः ।

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टो अभिजायते ॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति श्रीमताम् ।

एवाहि दुर्लभतरं लोके जन्म यदादृशम् ॥

तत्र न युद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।

यतने च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुतन्दन ॥ इति ॥

अर्थः—हे पापे ! इस लोक या परलोक में योगभ्रष्ट पुरुष  
का नाश नहीं है। क्योंकि हैं नातः ! शुभ कर्म करने वाला कोई  
दुर्गति को नहीं पाता। योग भ्रष्ट पुरुष, पुण्य करने वालों  
के लोक को पाकर वहाँ अनेक वर्ष निवास कर, अति पवित्र  
ऐसे जो लक्ष्मी वान् उन के घर में उन्मत्त होता है। या वह  
बड़े बुद्धिमान् ऐसे योगियों के ही घर में जन्मता है। ऐसा  
जन्म पाता लोक में बहुत ही कठिन। है कुरुतन्दन ! यह योग-  
ियों के कुल में उन्मत्त हो, पहिले देह में अभ्यास किये हुए  
बुद्धि संयोग अर्थात् आत्मज्ञान को पाता है और अधिकता से  
मिष्ट्र के लिये यत्न करता है।

श्रीगाम उवाच—

“एकामथ द्वितीयां वा तृतीयां भूमिकामुत ।

आरुह्य नृनस्याथ कीदृशी भगवन् ! गतिः” ॥

अर्थः—श्रीगामजी बोले हे भगवन् ! पहिली, दुसरी, वा तीसरी  
भूमिका में आरुह्य हुए पुरुष को मरने पर कैसी गति होती है।

“योगभूमिकयोत्क्रान्तजीवितस्य शरीरिणः ।

भूमिकांशानुसारेण क्षीयते पूर्वदुष्कृतम् ॥

ततः सुरविमानेषु लोकपालपुरेषु च ।

मेरुपवनकुञ्जेषु रमते रमणीसखः ॥

ततः सुकृतसम्भारे दुष्कृते च पुराकृते ।

भोगक्षयपरिक्षीणे जायन्ते योगिनो भुवि ॥

शुचीनां श्रीमतां गेहे गुप्ते गुणवतां सतान् ।

तत्र प्राग्भावनाभ्यस्तं योगभूमित्रयं बुधः ॥

सृष्टोपरिपतत्युच्चैरुत्तरं भूमिकाक्रमम्” इति ॥

अर्थः—योग भूमिका का अभ्यास जिस क्रम से किया होता,  
उसी के अनुसार पूर्व का पाप क्षय हो जाता है। उनके  
बाद वह अप्सरा सहित, देवता के विमान पर बैठ कर, लोक-  
पाल के नगर में और मेरु पर्वत पर, उरवतों की घटाओं में  
होड़ा करता है। उस के बाद भोग के लय द्वारा पूर्व के पुण्य  
का सञ्चय और पापके क्षय होने से पवित्र, गुणवान्, और लक्ष्मी-  
वान् सन्पुरुषों के सुरक्षित घरमें वह योगी जन्म ग्रहण करता  
है। तहां पूर्व जन्म कृत अभ्यास में तीन भूमिकाओं का स्पर्श  
कर उपर की उत्तम भूमिका का यत्न से अभ्यास करता है।

अस्त्येवं योगभूमिनां देवलोकप्राप्तिहेतुत्वस

तावता तपस्त्वं कुत इति चेच्छ्रुतेरिति ब्रूमः ॥

अर्थः—शङ्का—इस प्रमाण में भूमिकायें देव लोक की  
प्राप्ति का कारण हैं, यह बात ठीक है, परन्तु वह तब रूप है,  
इस में क्या प्रमाण है ?

तथाच तैत्तिरीया आमनन्ति—“तपसा देवा

देवतामग्र आयत, तपसर्षयः सुवरन्ध्रविन्दन्” इति ।



अर्थ:—उत्तर, वह तप रूप है, इस में श्रुति का प्रमाण है। तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा है कि—“पूर्व देव गण तप द्वारा देवभाव को पाये और ऋषियों ने तप द्वारा स्वर्ग को पाया।

तत्त्वज्ञानात्प्राचीनस्य भूमिकात्रयस्य तपस्त्वे सति तत्त्वज्ञानस्योत्तरकालीनस्य निर्विकल्प-समाधिरूपस्य पञ्चम्यादिभूमिकात्रयस्य तप-स्त्वं कैमुतिकन्यायसिद्धम् । अतएव स्मर्यते ।

अर्थ:—तत्त्वज्ञान होने के पहिले की भूमिका जब तपरूप है, तब तत्त्वज्ञान हुए पीछे निर्विकल्प समाधि रूप पञ्चमी, छठी और सप्तमी भूमिका तपरूप हो, इस में क्या ही कहना है? इसी लिये स्मृति वाक्य है।

“मनसश्चेन्द्रियाणां च ऐकाग्र्यं परमन्तपः ।

तज्ज्यायः सर्वधर्मेभ्यः सधर्मः पर उच्यते” इति ॥

अर्थ:—मन और इन्द्रियों की एकाग्रता यह परम तप है। यह तप सब धर्मों से श्रेष्ठ है और वह परम धर्म रूप है।

यद्यप्यनेन न्यायेन तपसा प्राप्यं जन्मान्तरं नास्ति तथाऽपि लोकसंग्रहायेदं तप उच्यते ।

अत एव भगवानाह—

“लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि” इति ।

संग्राह्यश्च लोकस्त्रिविधः । शिष्योभक्तस्तद-स्थश्चेति । तत्र शिष्यस्यान्तर्मुखे योगिनि गुरौ प्रामाणिकबुद्ध्यतिशयेन तदुपदिष्टे तत्त्वे परमं विश्वासं प्राप्य चित्तं सहसा विश्राम्यति । अत एव श्रूयते—

अर्थ:—यद्यपि इस न्यायसे तप द्वारा पाने योग्य जन्मान्तर

तथापि लोक संग्रह के लिये एकाग्रता को तप कहते हैं । अभिप्राय से भगवद्गीतामें कहा है—

“लोक संग्रह को देखता हुआ तू कर्म करने योग्य है” ।

अर्थात् विपरीत मार्ग से रोक कर सन्मार्ग में प्रवृत्ति करने योग्य लोक तीन प्रकार का है । शिष्य, भक्त, और गुरुस्थ । तहां शिष्यकी अपनी अन्तर्मुख वृत्ति वाल सदगुरु में अतिशय प्रामाणिकता की बुद्धि होने से गुरुरूपदिष्ट तत्त्व में परम विश्वास पाकर उनके शिष्य का चित्त सहसा विश्रान्ति को प्राप्त होता है ।

श्रुति भी कहती है—

“यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथागुरौ ।

तस्यैते कथिताह्वयार्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः” इति ।

अर्थ:—जिस को देव अर्थात् ईश्वर में परम भक्ति होती, है, वैसी ही गुरु के विषय में होती है उस महात्मा को यह कहा हुआ अर्थ प्रकाशित होता है ।

स्मृति भी कहती है—

“श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमाचिरेणाधिगच्छति”

इति ।

अर्थ:—श्रद्धावाला, इन्द्रियों को वश करने हारा, और श्रीसदगुरु की सेवा में परायण पुरुष ज्ञान को पाता है । ज्ञान प्राप्त कर थोड़े काल में परम शान्ति पाता है ।

अन्नप्रदाननिवासस्थानकल्पनादिना योगिनं मेवमानो भक्तस्तदीयं तपः स्वयमेवाऽऽदत्ते ।

तथा च श्रूयते—



अर्थ:—अन्न देने के लिये, रहने का स्थान देने के लिये, इसादि द्वारा योगी को सेवन करता हुआ उसका भक्त योगी के तप को स्वयं ग्रहण करता है। श्रुति भी कहती है—

“तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां  
द्विषन्तः पापकृत्याम्” इति। तटस्थोऽपि द्वि-  
विधः आस्तिको नास्तिकश्च। तत्राऽऽस्तिको  
योगिनः सन्मार्गाचरणं दृष्ट्वा स्वयमपि स-  
न्मार्गे प्रवर्तते। तथा च स्मृतिः—

अर्थ:—उस का (योगी का) एक पुत्र या शिष्य, उस का सुहृद उस के पुण्य को, और उस का द्वेषी उस के पाप का ग्रहण करते हैं। तटस्थ भी दो प्रकार का है, एक आस्तिक और दूसरा नास्तिक। तिन में नास्तिक योगी को सन्मार्ग से आचरण करते देख कर स्वयं भी सन्मार्ग में होता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में भी लिखा है—

“यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरोजनः।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते” इति।

नास्तिकोऽपि योगिना दृष्टः पापान्मुच्यते।

अर्थ:—श्रेष्ठ पुरुष जो २ आचरण करता, इतर लोग भी वही २ आचरण करते हैं। और जिस २ को वह प्रमाण मानता लोग भी उसी २ को प्रमाण मानता है। नास्तिक पुरुष भी योगी की दृष्टि पड़ने से पाप से छूट जाता है। कहा है—

“यस्यानुभवपर्यन्ता तत्त्वे बुद्धिः प्रवर्तते।

तद्दृष्टिगोचराः सर्वे मुच्यन्ते सर्वपातकैः”

इति। अनेन प्रकारेण सर्वप्राण्युपकारित्वं योगिनो विवक्षित्वा पठ्यते—

अर्थ:—जिस की साक्षात्कार होने तक, तत्त्व के विषय में बुद्धि की प्रवृत्ति होती है, उस की दृष्टि जिन प्राणियों पर पड़ती है—वे सब ही, पाप से छूट जाते हैं। इस भांति योगी सब प्राणियों का उपकारी हैं।

इस अभिप्राय से आगे श्लोक कहते हैं—

“स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले सर्वाऽपि दत्ता  
ऽवनिर्घज्ञानां च सहस्रमिष्टमखिला देवाश्च  
संपूजिताः।

संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्यो-  
ऽप्यसौ यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं  
मनः प्राप्नुयात्॥

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था

विश्वंभरा पुण्यवती च तेन।

अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मि

ल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः” इति।

अर्थ:—जिस का मन, क्षणमात्र भी विचार में स्थिरता को प्राप्त हो, उसने सर्वतीर्थों में स्नान किया, सारी वसुन्धरा का दान दिया, हजार यज्ञों का अनुष्ठान किया, सब देवताओं का पूजन किया, संसार से अपने पितरों का उद्धार किया और तीनों लोकों का भी पूज्य वही पुरुष है। अपार ज्ञान और सुख के सागर स्वरूप इस ब्रह्म में जिसका चित्त लीन होता है, उस का कुल पवित्र है, उस की माता कृतार्थ है, और पृथिवी उस पुरुष द्वारा पुण्य वाली है।

न केवलं योगिनः शास्त्रीयव्यवहारस्यैव तप-



किन्तु सर्वसम्यक् लौकिकव्यवहारस्यापि ।  
तथा च तैत्तिरीयाः स्वशाखायां नारायण-  
स्यान्तिमेनानुवाकेन विदुषोऽपि महिमान-  
मायनन्ति । तस्मिन्नुवाके पूर्वभागे योगि-  
नोऽवयवा यज्ञाङ्गद्रव्यत्वेनाऽऽम्नाताः—

अर्थः—योगी का केवल शास्त्रीय व्यवहारही तपस्वरूप नहीं,  
किन्तु सब लौकिक व्यवहार भी तपस्वरूप है । तैत्तिरीयशाखा प-  
ढ़ने वाले ने अपनी शाखा में नारायण उपनिषद् के आखिरी अनु-  
वाक द्वारा विद्वानों की इस महिमा कही है । इस अनुवाक के पूर्व  
भाग में योगी का अवयव, यज्ञ का अङ्गभूत द्रव्यरूप कहा है—

“तस्यैवं विदुषो यज्ञस्याऽऽत्मा यजमानः श्रद्धा  
पत्नी शरीरमिधमसुरो वेदिलोमानि बर्हिर्वेदः  
शिखा हृदयं यूपः काम आज्यं मन्युः पशुस्त-  
पोऽग्निर्दमः शमयिता दक्षिणा वाग्होता प्राण  
उद्गाता चक्षुरध्वर्युर्मनो ब्रह्मा श्रोत्रमग्नीत्” इति॥  
अत्रच दानं दक्षिणेति दान पदमध्याहर्तव्यम् ।

अर्थः—इस प्रकार जानने हारा पुरुष रूप यज्ञका आत्मा  
यजमान है । श्रद्धा पत्नी है । शरीर समिध है । वक्षस्थल वेद  
है । लोम दर्भ है । शिखा वेद है । हृदय यूप (यज्ञस्तंभ) है ।  
काम घृत है । क्रोध पशु है । तप अग्नि है । दम शमयिता नाम  
का पशु का मारने वाला पुरुष है । वाणी होता है । प्राण  
उद्गाता है । नेत्र अध्वर्यु है । मन ब्रह्मा है । श्रोत्र अग्नीध्र  
है । इस में दान यह दक्षिणा है, ऐसा अध्याहार करना चा-  
हिये । क्योंकि—

“अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचन-

मिति ता अस्य दक्षिणाः” इति छन्दोगैरा-  
म्नातत्वात् । उक्तानुवाकमध्यमभागेन यो-  
गिव्यवहारास्तर्ज्जीवनकालाश्च ज्योतिष्टोमाव-  
यवाक्रियारूपत्वेनांतरसर्वयज्ञावयवाक्रियारूप-  
त्वेन चाऽऽम्नाताः ।

अर्थः—सामवेदीय ‘जो उस का तप, दान आर्जव, अहिं-  
सा, और सत्य वचन है, ये सब उसकी दक्षिणा रूप हैं’—ऐसा  
कथन करते हैं, उपर ले अनुवाक में मध्य भाग से योगी का  
व्यवहार और उसका जीवन काल ज्योतिष्टोम यज्ञ के अवयव  
रूप क्रिया रूप से और उस से पीछे के सब यज्ञों के अवयव रूप  
क्रिया रूप से भी कथन किया है ।

“धावद्ध्यते सा दीक्षा यदश्नाति तद्धवि-  
र्यत् पिवति तदस्य सोमपानं यद्रमते तदु-  
पसदो यत् संचरत्युपविशत्युत्तिष्ठते च स  
प्रवर्ग्यो यन्मुखं तदाहवनीयो या व्याहृति-  
राहुतिर्यदस्य विज्ञानं तज्जुहोति यत्सायं  
प्रातरत्ति तत् समिधं यत्प्रातर्मध्यंदिनं सायं  
च तानि सवनानि ये अहोरात्रे ते दर्शपूर्णमा-  
सौ ये ऽर्धमासाश्च मासाश्च ते चातुर्मास्यानि  
य क्रतवस्ते पशुबन्धा ये संवत्सराश्च परिव-  
त्सराश्च ते ऽहर्गणाः सर्ववेदसं वा एतत्सत्रं  
यन्मरणं तदवभृथ” इति ।

अर्थः—जब तक योगी जीता तब तक उस की दीक्षा है,  
जो वह भोजन करता वह उस का हविष है, जो पीता वह उस  
का सोमपान है, जो व्यवहार करता वह उस का उपसद है,



जो फिरता, बैठता है और उठता है वह प्रवर्ग्य है, जो मुख पर आहारीय है । जो बोलता है वह आहारीय है, जो उसका हस्त है वह होम है, जो साम सुवह भोजन करता है, वह होम को उहरी है, जो उस के प्रातःकाल मध्याह्न, और सायं काल है, वे सवन रूप है, जो रात दिन है वह दर्श पूर्णमास याग है, जो पञ्च और मास है वह चातुर्मास्य (याग) है, जो कर्तु है, वे पयुक्थ है जो संवत्सर और परिवत्सर है, वह अर्ग्य है, जिस में सर्वस्व दक्षिणा है, ऐसा, यह "आयुष्य सत्त" है, जो योगी का मरण है, वह अवभृथ स्नान है ।

सर्ववेदसं-सर्वस्वदाक्षिणाकम् । अत्रैतच्छब्देन प्रकृताहोरात्रादि परिवत्सरान्तं सर्वकाल-समष्ट्युपलक्षितं योगिन आयुर्विवक्ष्यते । यदायुस्तत् सर्वस्वदाक्षिणोपेतं सत्रमित्यर्थः । उत्तरानुवाके चरमभागेन सर्वयज्ञात्मकं योगिनमुदासीनस्य क्रममुक्तिरूपं सूर्याचन्द्रमसोः कार्यकारणब्रह्मणोऽस्मादात्म्यलक्षणं फलमाप्नायते ।

अर्थः—उपर ले अनुवाक में 'एतत्' (यह) शब्द द्वारा, अहोरात्र से लेकर वह परिवत्सर तक सब काल के समूह से द्वारा उपलक्षित योगी की आयु विवक्षित हैं । जो कि उस की सारी आयु है, वह सर्वदक्षिणायुक्त सत्ररूप है, ऐसा अर्थ समझना, उत्तर अनुवाक में अन्तिम भाग द्वारा, सब यज्ञस्वरूप योगी को कार्य ब्रह्म और कारण ब्रह्मरूप सूर्य चन्द्रका अभेद रूप क्रम मुक्ति नाम का जो फल मिलना, उस का निरूपण किया है।

"एतद्वै जरामर्षमग्निहोत्रं सत्रं य एवं विद्वान्

उदगयने प्रमीयते देवानामेव महिमानं गत्वाऽऽदित्यस्य सायुज्यं गच्छत्यथ यो दक्षिणे प्रमीयते पितृणामेव महिमानं गत्वा चन्द्रमसः सायुज्यं सलोकनामामोत्येतौ वै सूर्याचन्द्रमसोर्महिमानौ ब्राह्मणो विद्वानभिजयति तस्माद्ब्रह्मणो महिमानमामोनि तस्माद्ब्रह्मणो महिमानमिन्युपनिषत्" इति । जरामरणावधिकं यद्योगिचरितमस्ति तद्धेदो-क्ताग्निहोत्रादिसंवत्सरसत्रान्तं कर्मस्वरूपमित्येवं मुपासीनो भावनातिशयेन सूर्याचन्द्रमसोः सायुज्यं तादात्म्यं प्राप्नोति । भावनामान्येन समानलोकं प्राप्य तस्मिंलोके सूर्याचन्द्रमसोर्विभूतिमनुभूय तत ऊर्ध्वं सत्यलोके चतुर्मुखस्य ब्रह्मणो महिमानं कैवल्यमाप्नोति । इत्युपनिषदित्यनेन यथोक्तविश्यायास्तत्प्रतिपादकग्रन्थस्य चोपसंहारः क्रियते ।

तदेवं जीवन्मुक्तेस्तपो रूपं द्वितीयं प्रयोजनं सिद्धम् ।

अर्थः—जरा मरण पर्यन्त जो योगी का चरित्र है, वह अग्निहोत्र से लेकर सम्बत्सर सत्र तक कर्म स्वरूप है। इस प्रकार से उपासना करने वाला जो उत्तरायण या दक्षिणायन में मरता है तो देव या पितृओं की महिमा को पाकर अपनी भावना की दृढ़ता के कारण सूर्यचन्द्र के साथ एक रूपता को पाता है । उस लोक में वह विद्वान् ब्राह्मण सूर्यचन्द्र की विभूति को अनुभव करता है । वह पीछे चतुर्मुख ब्रह्मा की महिमा को पाता है । तहां



उम को तत्त्व ज्ञान उत्पन्न होता है । उस के बाद सच्चिदानन्द स्वरूप परब्रह्म की कैवल्य रूप महिमा को प्राप्त होता है । 'इत्युपनिषद्'—यह वचन पूर्वोक्त विद्या को प्राप्ति पादन करने हारा ग्रन्थ की समाप्ति सूचित करता है । इस भांति जीवन्मुक्ति का तप रूप दूसरा प्रयोजन सिद्ध हुआ ।

विसंवादाभावस्तस्यास्तृतीयं प्रयोजनम् ।  
न खल्वन्तर्मुखे बाह्यव्यवहारमपश्यति योगीश्वरे लौकिक स्तैर्थिको वा कश्चिद्विसं-  
वदते । विसंवादो द्विविधः । कलहरूपो नि-  
न्दारूपश्च । तत्र क्रोधादिरहितेन योगिना  
सह कथं नाम लौकिकः कलहायते । तद्राहि-  
त्यं च स्मर्यते ।

अर्थः—विवाद का अभाव यह जीवन्मुक्ति का तीसरा प्रयोजन है । योगी या जो अन्तर्मुख होने से बाह्य व्यवहार को नहीं देखता, उस के साथ कोई लौकिक मनुष्य या साम्प्रदायिक मनुष्य विवाद नहीं करता । कलह रूप और निन्दारूप इस भांति दो प्रकार का विवाद है । तिस में क्रोधादि रहित योगी के साथ लौकिक मनुष्य क्यों कर कलह करता है ? नहीं करता है । योगी क्रोधादिक दोष रहित होता है ऐसा स्मृति कहती है ।

“क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ।

अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कश्चन” ।

अर्थः—कोई क्रोध करे, तो उस पर क्रोध न करे, कोई निन्दा करे तो भी 'तुम्हारा कुशल हो' ऐसा कहे । असन्त बोले तो क्षमा करे, और किसी का अपमान न करे ।

ननु जीवन्मुक्तेः प्राचीनो विद्वत्संन्यासस्ततो-

ऽपि प्राचीनं तत्त्वज्ञानं तस्मादपि प्राचीनो  
विविदिपासंन्यासः । अत्रैतं क्रोधादिराहि-  
त्यादयोधर्माः कथं स्मृता इति चेत् ।

अर्थः—शङ्का—विद्वत्संन्यास, जीवन्मुक्ति के पूर्व है, उम के पहिले तत्त्वज्ञान है, और उस के भी पहिले विविदिपा संन्यास है । इस विविदिपा संन्यास में ही क्रोध आदिक त्याग-करना चाहिये तो जीवन्मुक्ति दशा में क्रोधादिक रहित होना इत्यादि धर्म स्मृति में किस लिये कहा ? ।

बाढम् । अत एव जीवन्मुक्तस्य क्रोधादयः  
शङ्कितुमशक्याः । अत्यर्वाचीने पदे विविदि-  
पासंन्यासेऽपि यदा क्रोधादयो न सन्ति तदो-  
त्तमपदे तत्त्वज्ञाने कुतस्ते स्युः, कुतस्तरां च  
विद्वत्संन्यासे, कुतस्तमां च जीवन्मुक्तौ, अतो  
न योगिना सह लौकिकस्य कलहः सम्भ-  
वति । नापि निन्दारूपो विसंवादः शङ्कनीयः ।  
निन्ध्यस्थानिश्चितत्वात् । तथा च स्मर्यते ।

अर्थः—उत्तर—तुम्हारा कहना ठीक है इभी लिये जीव-  
न्मुक्ति की हालत में तो क्रोधादि की शङ्का भी करनी योग्य नहीं । जब सब से पहिले विविदिपा संन्यास में ही क्रोधादि नहीं होता तब उत्तम पद तत्त्वज्ञान प्राप्त होने पर वे कहां से हो ? और विद्वत्संन्यास में तो सम्भव ही नहीं । और जीवन्मु-  
क्ति में तो अत्यन्त असम्भव है । इस लिये योगी के साथ लौ-  
किक मनुष्य का कलह सम्भव नहीं । ऐसे निन्दारूप विवाद की भी शङ्का न करनी चाहिये ।

स्मृति कहती है कि—



“यन्न सन्तं न चासन्तं नाऽश्रुतं न बहु श्रुतम् ।  
न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद काश्चित्स वै यतिः” इति ।  
सदसत्त्वे उत्तमाधमजाती । तैर्थिकोऽपि  
किं शास्त्रप्रमेये विसंवदते किं वा योगिच-  
रिते । आद्ये न तावद्योगी परशास्त्रप्रमेयं  
दूषयति ।

अर्थः—जिम को कोई उत्तम या अधम जाति ऐसा नहीं  
जानता, वैसे मूर्ख या विद्वान् नहीं जानता और सदाचारी या  
दुराचारी नहीं जानता वह यति है ।

साम्प्रदायिक पुरुष भी क्या शास्त्र के प्रतिपाद्य विषय में विवाद  
करते हैं ? या योगी के चरित के सम्बन्ध में झगड बैठते हैं ?  
साम्प्रदायिक पुरुष तो उस के साथ विवाद करते नहीं, क्यों  
कि योगी किसी शास्त्र का प्रमेय ( प्रतिपाद्य ) को दूषण नहीं  
देता नहीं । क्योंकि—

“तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो वि-  
मुञ्चथ । नानुध्यायाद् बहूञ्शब्दान् वाचो  
विग्लापनं हि तत्” इत्यादि श्रुत्यनुरो-  
धात् । नापि स्वशास्त्रप्रमेयं प्रतिवादिनोऽग्रे  
समर्थयते ।

अर्थः—“उस एक आत्मा को ही जाने अन्य बात को  
छोड देवे । बहुत शब्दों का चिन्तन न करे, क्योंकि वह वाणी  
को परिश्रम देना मात्र है” । वैसे वह अपने शास्त्र के सि-  
द्धान्त को दूसरे के सामने सिद्ध नहीं करता । क्योंकि—

“पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद् ग्रन्थमशेषतः ।  
परमं ब्रह्म विज्ञाय उत्कावत्तान्यथात्सृजेत्”

इत्यादिश्रुत्यर्थपरत्वात् । यदा प्रतिवादिनमपि  
स्वात्मतया वीक्षते तदा विजिगीषायाः का  
कथा । नापि लोकायतिकव्यतिरिक्तः सर्वो-  
ऽपि तैर्थिको मोक्षमङ्गीकुर्वन्योगिचरितेऽपि  
विसंवदितुमर्हति । आर्हतकापालिकबौद्धवैशे-  
षिकनैयायिकशैववैष्णवसांख्ययोगादिमोक्ष-  
शास्त्रेषु प्रतिपाद्यप्रमेयस्य नानाविधत्वेऽपि  
मोक्षसाधनस्य यमनियमाद्यष्टाङ्गयोगस्यैक-  
विधत्वात् । तस्मादविसंवादेन सर्वसंमतो  
योगीश्वरः । एतदेवाभिप्रेत्य वसिष्ठ आह ।

अर्थः—जैसे धान्य का प्रयोजन वाला धान्य को निकाल  
कर उस के भूमी को छोड देता वैसे सारे ग्रन्थों को छोड  
देवे । परम ब्रह्म को जानने पर उसी के समान उन का  
त्याग करे ।

इस श्रुति के अर्थ में वह तत्पर होता है, जब प्रतिवादी  
को भी अपने आत्मा रूप देखता है तब जीतने की इच्छा की  
तो बात ही क्या कहनी ? केवल लोकायतिक ( चार्वाक के  
सिवाय सब साम्प्रदायिक पुरुष योगी के चरित्र में विवाद  
करने योग्य नहीं । क्योंकि आर्हत, बौद्ध, वैशेषिक, नैयायिक,  
शैव, वैष्णव शाक्त और सांख्य योगादिकों के मोक्ष शास्त्र में  
प्रमेय का भेद होने पर भी मोक्ष का साधक जो यम नियमादि  
अष्टाङ्ग योग का अनुष्ठान, है, वह सब सम्प्रदायों में एक ही  
प्रकार का होता है । इस भांति योगी के साथ किसी को भी  
विचार न होने से योगीश्वर सब को संमत है ।

“यस्येदं जन्म पाश्चात्यन्तमाश्नेव महामते ॥



विशान्ति विद्या विमला मुक्ता वेणुमिवोत्तमम् ॥  
आर्यता हृद्यता मैत्री सौम्यता मुक्तताज्ञता ।  
समाश्रयन्ति तं नित्यमन्तःपुरमिवाङ्गनाः ॥  
पेशलाचारमधुरं सर्वं वाञ्छन्ति तं जनाः ।  
वेणुं मधुरनिध्वानं वने वनमृगा इव ॥

सुषुप्तप्रवह्यशमितभाववृत्तिना  
स्थितः सदा जाग्रति येन चेतसा ॥  
कलान्वितो विधुरिव यः सदा बुधैर्निषेवते  
मुक्त इतीह स स्मृतः” इति ।

अर्थः—हे महामते ! जिस का, यह अन्तिम जन्म होता है, उस में जैसे उत्तम वांस में मोती होती है वैसे सब निर्मल विद्या में प्रवेश कर रहती हैं । जैसे स्त्रियां आकर हवेली में रहती हैं वैसे, आर्यपन, मनोहरता, मित्रता, सौम्यता, मुक्तपन, और ज्ञानीपन उस को सदा आश्रय कर रहती है । जैसे वांसुरी की सुरीली आवाज को वन में वसने हारे मृग सुनने इच्छा करते हैं वैसे उत्तम आचरणों से प्रिय उस योगी को सब लोग चाहते हैं । सुषुप्ति में स्थित पुरुष के समान जिस की विषयाकार वृत्ति शान्त होने पर भी जो सदा चित्त से जाग्रद् अवस्था में स्थित है, और कलावान् चन्द्रमा की जैसे लोक सेवा करता है, तैसे जिस को विद्वान् सेवा करता वह इस संसार में मुक्त कहलाता है ।

“मातरीव शमं यान्ति विषमाणि मृदूनि च ।  
विश्वासमिह भूतानि सर्वाणि शमशालिभिः ॥  
तपस्विषु बहुज्ञेषु याजकेषु नृपेषु च ।  
बलवत्सु गुणाढ्येषु शमयानेव राजते” इति ।

तदेवमबाधं जीवन्मुक्तेर्विसंवादाभावरूपं तृतीयं प्रयोजनं सिद्धम् ।

दुःखनाशसुखाविर्भाविरूपे चतुर्थपञ्चमप्रयोजने विद्यानन्दात्मकेन ब्रह्मानन्दगतेन चतुर्थाध्यायेन निरूपिते । तदुभयमत्र सङ्क्षिप्योच्यते ।

अर्थः—शान्ति शील पुरुष में सब मृदु और विषमभूत पाता में जैसे शान्ति पाता है वैसे शान्ति पाता है, और विश्वास करता है । तपस्विओं में, बहुत जानने वालों में, याजकों में, राजाओं में, बलवानों में और गुणवानों में शान्तिशील पुरुष ही शोभता है ।

इस भांति निर्बाध पन विवाद का अभाव रूप जीवन्मुक्ति का तीसरा प्रयोजन सिद्ध हुआ । चौथा, पांचवा, प्रयोजन का निरूपण, ब्रह्मानन्दान्तर्गत विद्यानन्द नामक चौथे अध्याय में पञ्चदशी में किया है । ये दोनों प्रयोजन यहां संक्षेप में कथन किया जाता है—

“आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पुरुषः ।

किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्”

इत्यादिश्रुत्या दुःखस्यैहिकस्य विनाश उक्तः—

अर्थः—‘यह आत्मा मैं हूं’ इस प्रकार जो कोई आत्मा को जाने तो, वह किस की इच्छा करे, किस की कामना के लिये शरीर के साथ सन्ताप अनुभवकरे ? इत्यादि श्रुति से योगी के ऐहिक दुःखका विनाश कहा है—

“एतं ह वाव न तपति किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरवमिति ।

इत्यादिश्रुतय आमुष्मिकहेतुपुण्यपाप-



चिन्तारूपस्य दुःखस्य नाशमाहुः । सुखा-  
विर्भावस्त्रेधा सर्वकामावाप्तिः, कृतकृत्यत्वं,  
प्राप्तप्राप्तव्यत्वं, चेति । सर्वकामावाप्ति-  
स्त्रेधा—सर्वसाक्षित्वं, सर्वत्राकामहतत्वं,  
सर्वभोक्तरूपत्वं चेति । हिरण्यगर्भादि  
स्थावरान्तेषु देहेष्वनुगतं साक्षिचैतन्यरूपं  
यद् ब्रह्म तदेवाहमस्मीति जानंतः स्वदेह इव  
परदेहेष्वपि सर्वकामसाक्षित्वमस्ति । तदे-  
तदभिप्रेत्य श्रूयते—

अर्थः—“मैंने शुभ कर्म क्यों नहीं किया ? और पाप  
क्यों किया ? इस प्रकार योगी को सन्ताप नहीं होता ।  
इत्यादि श्रुतियां, परलोक के हेतु पुण्य पाप की चिन्ता रूप  
दुःख नाश का कथन करती हैं । सुख का आविर्भाव तीन  
प्रकार का है सर्वकामावाप्ति, कृतकृत्यता और प्राप्तप्राप्त  
व्यपन । सब कामनाओं की प्राप्ति भी ३ प्रकार की है । सबका  
साक्षीपन सर्वत्र कामनाओं करके हत न होना, और सब  
का भोक्तापन हिरण्य गर्भ से जो स्थावर तक सब देहों में  
व्याप्त साक्षी चैतन्य जो ब्रह्म है, वही मैं हूं इस रीति से जानने  
हारे पुरुष का जैसे अपने शरीर में सब भोगों का साक्षीपन  
है वैसे ही अन्य की देह में भी है । इसी अभिप्राय से श्रुति  
कहती हैः—

“सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह । ब्रह्मणा विप-  
श्चितलोकेति । भुक्तेषु भोगेष्वकामहतत्वं  
यत्तत्कामप्राप्तिरित्युच्यते ।

अर्थः—‘सर्वज्ञ ब्रह्म स्वरूप से वह एक समय सब भोगों

को भोगता है—संसार में भोग भोगने पावे उसमें इच्छा  
नहीं हो इस को ‘कामप्राप्ति’ कहते हैं । इसलिये सब भोगों में  
दोष देखने वाला तत्त्ववित् पुरुष को किसी पदार्थ में इच्छा  
होती ही नहीं, इसलिये उस को सर्व काम की प्राप्ति है ही ।

तथा च सर्वभोगदोषदर्शिनस्तत्त्वविदः  
सर्वत्राऽकामहनत्वादस्ति सर्वकामावाप्तिः ।  
अतएव सार्वभौमोपक्रमेषु हिरण्यगर्भपर्य-  
न्तेष्टोत्तरोत्तरशतगुणेष्वानन्देषु—“श्रोत्रिय-  
स्य चाकामहतस्य ” इति श्रुतम् । सद्रूपेण  
चिद्रूपेणाऽऽनन्दरूपेण च सर्वत्रावस्थितं  
स्वात्मानमनुसंदधतः सर्वभोक्तरूपत्वमस्ती-  
त्यभिप्रेत्येवं श्रूयते ।

अर्थः—इसलिये चक्रवर्ती राजा से लेकर हिरण्यगर्भ  
पर्यन्त उत्तरोत्तर सौ २ गुणा आनन्द में ‘श्रोत्रियस्य०’ ऐसा  
कहा है । अर्थात् सब आनन्द कामनाओं करके हत न हुए  
तत्त्ववित् पुरुष को प्राप्त ही हैं । इस भांति श्रुति कहती है ।  
सब रूप से, चित् रूप से, आनन्द रूप से सर्वत्र स्थित  
अपने आत्मा का अनुसन्धान करता योगी को सर्व भोगों  
का भोक्तापन है । इस अभिप्राय से श्रुति कहती है—

“अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् । अहमन्नादोऽ-  
हमन्नादोऽहमन्नादः ” इति । कृतकृत्यत्वं  
स्मर्यते—

अर्थः—मैं अन्न ( भोग्य ) हूं, मैं अन्न हूं, मैं अन्न हूं ।  
मैं अन्न का खाने वाला हूं, मैं अन्न का खाने वाला हूं, मैं अन्न  
का खाने वाला हूं ।



चिन्तारूपस्य दुःखस्य नाशमाहुः । सुखा-  
विभावस्त्रंशा सर्वकामावाप्तिः, कृतकृत्यत्वं,  
प्राप्तप्राप्तव्यत्वं, चेति । सर्वकामावाप्ति  
स्त्रंशा—सर्वसाक्षित्वं, सर्वत्राकामहतत्वं,  
सर्वभोक्तरूपत्वं चेति । हिरण्यगर्भादि  
स्थावरान्तेषु देहेष्वनुगतं साक्षिचैतन्यरूपं  
यद् ब्रह्म तदेवाहमस्मीति जानंतः स्वदेह इव  
परदेहेष्वपि सर्वकामसाक्षित्वमास्ति । तदे-  
तदभिप्रेत्य श्रूयते—

अर्थः—“मैंने शुभ कर्म क्यों नहीं किया ? और पाप  
क्यों किया ? इस प्रकार योगी को सन्ताप नहीं होता ।  
इत्यादि श्रुतियां, परलोक के हेतु पुण्य पाप की चिन्ता रूप  
दुःख नाश का कथन करती हैं । सुख का आविर्भाव तीन  
प्रकार का है सर्वकामावाप्ति, कृतकृत्यता और प्राप्तप्राप्त  
व्यपन । सब कामनाओं की प्राप्ति भी ३ प्रकार की है । सबका  
साक्षीपन सर्वत्र कामनाओं करके हत न होना, और सब  
का भोक्तापन हिरण्य गर्भ से जो स्थावर तक सब देहों में  
व्याप्त साक्षी चैतन्य जो ब्रह्म है, वही मैं हूँ इस रीति से जानने  
हारे पुरुष का जैसे अपने शरीर में सब भोगों का साक्षीपन  
है वैसे ही अन्य की देह में भी है । इसी अभिप्राय से श्रुति  
कहती हैः—

“सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह । ब्रह्मणा विप-  
श्चितलोकेति । भुक्तेषु भोगेष्वकामहतत्वं  
यत्तत्कामप्राप्तिरित्युच्यते ।

अर्थः—‘सर्वज्ञ ब्रह्म स्वरूप से वह एक समय सब भोगों

को भोगता है’—संसार में भोग भोगने पावे उसमें इच्छा  
ही हो इस को ‘कामप्राप्ति’ कहते हैं । इसलिये सब भोगों में  
देखने वाला तत्त्ववित् पुरुष को किसी पदार्थ में इच्छा  
होती ही नहीं, इसलिये उस को सर्व काम की प्राप्ति है ही ।

तथा च सर्वभोगदोषदर्शिनस्तत्त्वविदः  
सर्वत्राऽकामहनत्वादस्ति सर्वकामावाप्तिः ।  
अतएव सार्वभौमोपक्रमेषु हिरण्यगर्भपर्य-  
न्तेषूत्तरोत्तरशतगुणेष्वानन्देषु—“श्रोत्रिय-  
स्य चाकामहतस्य ” इति श्रुतम् । सद्रूपेण  
चिद्रूपेणाऽऽनन्दरूपेण च सर्वत्रावास्थितं  
स्वात्मानमनुसंदधतः सर्वभोक्तरूपत्वमस्ती-  
त्यभिप्रेत्यैवं श्रूयते ।

अर्थः—इसलिये चक्रवर्ती राजा से लेकर हिरण्यगर्भ  
पर्यन्त उत्तरोत्तर सौ २ गुणा आनन्द में ‘श्रोत्रियस्य०’ ऐसा  
कहा है । अर्थात् सब आनन्द कामनाओं करके हत न हुए  
तत्त्ववित् पुरुष को प्राप्त ही हैं । इस भांति श्रुति कहती है ।  
सब रूप से, चित् रूप से, आनन्द रूप से सर्वत्र स्थित  
अपने आत्मा का अनुसन्धान करता योगी को सर्व भोगों  
का भोक्तापन है । इस अभिप्राय से श्रुति कहती है—

“अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् । अहमन्नादोऽ-  
हमन्नादोऽहमन्नादः ” इति । कृतकृत्यत्वं  
स्मर्यते—

अर्थः—मैं अन्न ( भोग्य ) हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ ।  
मैं अन्न का खाने वाला हूँ, मैं अन्न का खाने वाला हूँ, मैं अन्न  
का खाने वाला हूँ ।



“ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।  
नैवास्ति किञ्चित् कर्तव्यमस्ति चेन्न स त-  
त्त्ववित् ॥

“यस्त्वात्मरतिरेव स्यात् आत्मतृप्तश्च मानवः ।  
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते”  
इति ॥

अर्थः—ज्ञान रूप अमृत द्वारा तृप्त हुए और कृतकृत्य योगी का कोई भी कर्तव्य नहीं, और जो कर्तव्य हो तो, वह तत्त्वज्ञानी नहीं है । जो आत्मा ही में रमण करने वाला है, उसको कर्तव्य नहीं ।

प्राप्तप्राप्त्यताऽपि श्रूयते —“अभयं वै  
जनक ! प्राप्तोऽसि” इति “तस्मात्तत्सर्वं  
मभवत्” इति “ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति” इति ॥

अर्थः—प्राप्त प्राप्त्य पन (पाने योग पाचुकनापन) भी श्रुति कहती है—‘हे जनक ! तू अभय को पाया है’ ‘इस कारण वह सर्व रूप हुआ’ ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही है’—इत्यादि ।

नन्वेतौ दुःखविनाशसुखाविर्भावौ तत्त्वज्ञा-  
नेनैव सिद्धत्वाच्च जीवन्मुक्तिप्रयोजनता-  
मर्हतः । मैवम् ।

अर्थः—शङ्का—दुःख का नाश और सुख का आविर्भाव ये दोनों तत्त्वज्ञान द्वारा ही सिद्ध है, अत एव ये दोनों जीव-  
न्मुक्ति के प्रयोजन होने में संघटित ही नहीं होते ।

सुरक्षितयोस्तयोरत्र विवक्षितत्वात् ।

यथा तत्त्वज्ञानं पूर्वमेवोत्पन्नमपि जीवन्मुक्त्या

सुरक्षितं भवति, एवमेतावपि सुरक्षितौ भवतः ।

अर्थः—उत्तर जैमे पूर्वही उत्पन्न हुआ तत्त्वज्ञानभी जीवन्मुक्ति के सुरक्षित होता, तैमे जीवन्मुक्ति में दुःखनाश और सुखा-  
विर्भाव की सबतरह रक्षा होती है, ऐसा कहने का अभिप्राय है ।

नन्वेवं जीवन्मुक्तेः पञ्चप्रयोजनत्वे सति स-  
माहितो योगीश्वरोलोकव्यवहारं कुर्वतस्त-  
त्त्वविदोऽपि श्रेष्ठ इति वक्तव्यम् । तच्च  
रामवसिष्ठयोः प्रश्नोत्तराभ्यां निराकृतम् ।

अर्थः—शङ्का—जो जीवन्मुक्तिके पांच प्रयोजन होय तो, समाधिनिष्ठ योगी, लोक व्यवहार करना हुआ तत्त्वज्ञानी से श्रेष्ठ है, ऐसा कहना चाहिये । परन्तु श्रीराम और वसिष्ठजी के सम्वाद से उसका श्रेष्ठपन खण्डित होता है ।

श्रीरामः—

भगवन्भूतभव्येश ? कश्चिज्जातसमाधिकः ।  
प्रबुद्ध इव विश्रान्तो व्यवहारपरोऽपि सन् ॥  
कश्चिदेकान्तमाश्रित्य समाधिनियमे स्थितः ।  
तयोस्तु कतरः श्रेयानिति मे भगवन् ? वद ॥

अर्थः—श्री रामजी बोले—हे भूत भावि के नियन्ता भग-  
वन् ! कोई पुरुष समाधि निष्ठ ज्ञानी के समान, व्यवहार करता हुआ भी विश्राम युक्त है, तथा कोई पुरुष एकान्त देश में जाकर नियम से समाधि में ही स्थित है, इन दोनों में कौन अच्छा है ? सो हे भगवन् ! आप मुझे कहें—

वसिष्ठः—

“इमं गुणसमाहारमनात्मत्येन पश्यतः ।

अन्तः शीतलता याऽसौ समाधिरिति कथ्यते ॥



दृश्यैर्न मम सम्बन्ध इति निश्चित्य शीतलः ।  
कश्चित्संन्यवहारस्थः कश्चिद्ध्यानपरायणः ॥  
द्वावेतां राम ! सुसमावन्तश्चेत्परिशीतलौ ।  
अन्तः शीतलता या स्यात्तदनन्ततपःफलम् ॥

अर्थः—वसिष्ठजी बोले—इस गुण के कार्य संसार को अनात्म रूप देखने वाले के अन्तःकरण की जो शीतलता है, वह समाधि रूप है, ऐसा कहा है । दृश्य के साथ मेरा सम्बन्ध है ही नहीं, ऐसा निश्चय कर शान्त हो कोई पुरुष व्यवहार में स्थिर होता है, और कोई पुरुष ध्यान में तत्पर होता । ये दोनों पुरुष जो अत्यन्त शीतल अन्तःकरण वाले हों तो, हे राम ! वे समान ही हैं । अन्तःकरण की शीतलता प्राप्त होतो वह अनन्त तप का फल है ।

नैव दोषः । अत्र वासनाक्षयरूपमन्तःशीतल-  
त्वमवश्यं सम्पादनीयमित्येतावदेव प्रतिपाद्य-  
ते । न तु तदनन्तरभाविनो मनोनाशस्य श्रे-  
ष्ठत्वं निवार्यते । शीतलत्वं तृष्णायाः प्रशमन-  
मित्येतादृशीं विवक्षां स्वयमेव स्पष्टीचकार ।

अर्थः—समाधान—तुम कहते हो यह दोष नहीं । वासनाक्षय रूप अन्तर की शीतलता को अवश्य सम्पादन करे यही यहां वसिष्ठ जी के कहने का मतलब है । परन्तु उस से वासनाक्षय होने के बाद होने वाले मनोनाश की श्रेष्ठता का कोई चारण नहीं होता ।

तृष्णा की शान्ति ही शीतलता है, ऐसा अभिप्राय वसिष्ठजीने स्वयं ही स्पष्ट किया है—

“अन्तः शीतलतायां तु लब्धायां शीतलअगत् ।  
अन्तस्तृष्णोपतप्तानां दावदाहमिदअगत्” इति ॥

ननु समाधिनिन्दाव्यवहारप्रशंसा चात्राप-  
लभ्यते—

अर्थः—अन्तर में शीतलता मिली हो तो, उस को संसारभर शीतल है । और जिसका अन्तःकरण तृष्णा से सन्तप्त है, उस को जगत रूपी वन में अग्नि जलता के समान है ।

शङ्का—समाधिकी निन्दा और व्यवहार की प्रशंसा भी वसिष्ठ के वचन से मालूम होती है—

“समाधिस्थानकस्थस्य चेतश्चेद्वृत्तिचञ्चलम् ।  
तत्तस्य तु समाधानं सममुन्मत्तताण्डवैः ॥  
उन्मत्तताण्डवस्थस्य चेतश्चेत्क्षीणवासनम् ।  
तत्तस्योन्मत्तनृत्यं तु समं ब्रह्मसमाधिना” इति ॥

अर्थः—समाधि में स्थित पुरुष का चित्त जो वृत्ति से चञ्चल होय तो, उस की समाधि उन्मत्त पुरुष के नृत्यके समान है । और उन्मत्त के नाच में स्थित हो तोभी जो उस का चित्त वासना रहित हो तो, उस का उन्मत्त के समान नृत्य भी ब्रह्म में समाधिके समान है ।

मैवम् । अत्र हि समाधिप्राशस्त्यमेवाङ्गी-  
कृत्य वासना निन्द्यते । इयमत्र वचनव्यक्तिः ।  
यद्यपि व्यवहारात्समाधिः प्रशस्तस्तथाऽप्य-  
सौ सवासनश्चेत्तदा निर्वासनाद् व्यवहाराद-  
धम एवेति स न समाधिः । यदा समाहित-  
व्यवहर्त्तारवुभावप्यतत्त्वज्ञौ सवासनौ चेत्त-  
दा समाधेरुत्तमलोकप्राप्तिहेतुपुण्यत्वेन प्राश-  
स्त्यम् । यदावुभौ ज्ञाननिष्ठौ निर्वासनौ च  
तदापि वासनाक्षयरूपां जीवन्मुक्तिं परिपा-



लक्षणं मनोनाशरूपः समाधिः प्रशस्त एव  
श्रेष्ठत्वात्पञ्चप्रयोजनोपे-  
नाया जीवन्मुक्तेर्न कोऽपि विघ्न इति सिद्धम्

इति श्रीमद्भारण्यप्रणीतजीवन्मुक्तिविवेके  
जीवन्मुक्तिस्वरूपसिद्धिप्रयोजननिरूपणं  
नाम चतुर्थं प्रकरणम् ॥ ४ ॥

अर्थः—समाधान—यहां समाधि की श्रेष्ठता मानकर समाधि की निन्दा किसी जाती है। उपरले वचन का मतलब यह है कि समाधि व्यवहार से समाधि उत्पन्न है, समाधि जो वह जगत्, युक्त होय तो, वह व्यवहारसे भी अधम है। इस लिये वह समाधि ही न गिनी जाती। जो समाधिरूप और व्यवहार करनेवाला तत्त्वविद न होने से वासना युक्त होवे तो, वह समाधि उत्तम लोक की प्राप्ति का हेतु पुण्य रूप होने से अज्ञान के व्यवहार से श्रेष्ठ है। और जो व्यवहार करने वाला और समाधि चित्तवाला पुरुष, दोनों ज्ञान निष्ठ और वासनाराहित हों तो भी, समाधि का सब रूप जीवन्मुक्ति का पालन करने वाला वह मनो-नाश रूप समाधि श्रेष्ठ ही है। इस प्रकार योगीश्वर श्रेष्ठ है, इस लिये पांच प्रयोजन वाली जीवन्मुक्ति में कोई भी बाधा नहीं।

इस प्रकार जीवन्मुक्ति प्रकरण में स्वरूप प्रमाण साधन प्रयोजनों द्वारा जीवन्मुक्तिनिरूपण नाम का चौथा प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमं प्रकरणम् ।

स्वरूपप्रमाणसाधन प्रयोजनैर्जीवन्मुक्तिर्निर्दि-  
पिता । अथ तदुपकारिणं विद्वत्संन्यासं निरू-  
पयामः । विद्वत्संन्यासश्च परमहंसोपनिषदि  
प्रतिपादितः । तां चोपनिषदमनूय व्या-  
ख्यास्यामः । तत्रादौ विद्वत्संन्यासयोग्यं  
प्रश्नमवतारयति ।

अर्थः—अब जीवन्मुक्ति का उपकारक विद्वत्संन्यास का निरूपण किया जाता है। विद्वत्संन्यास का प्रतिपादन परम हंसोपनिषद में किया है। इस उपनिषद का पाठ सहित हम व्याख्यान करेंगे। तहां आदि में विद्वत्संन्यास के योग्य प्रश्न का अवतरण करते हैं।

अथ योगिनां परमहंसानां कोऽयं मार्गस्तेषां  
का स्थितिरिति नारदो भगवन्तनुपगम्यो  
वाच" इति ।

अर्थः—परम हंस योगीयों का कौन सा मार्ग है ? और  
उन की स्थिति कैसी है ? इस भक्ति नारदजी ने ब्रह्मा के  
पास जाकर प्रश्न किया ।

यद्यप्ययं शब्दापेक्षित आनन्तयेप्रतियोगी  
न कोऽप्यत्र प्रतिभाति तथाऽपि प्रष्टव्या-  
र्थोऽत्र विद्वत्संन्यासः । तस्मिँश्च विदित-  
तत्त्वो लोकव्यवहारैर्विभिन्न्यमानो मनोवि-  
श्रान्तिरकामयमानोऽधिकारी । तव स्तादृगधि-



कारिसंपत्त्यनन्तरमथशब्दार्थः । केवलयोगि-  
गिनं केवलपरमहंसं च वारयितुं पदग्रथमु-  
क्तम् । केवलयोगी तत्त्वज्ञानाभावेन त्रि-  
कालज्ञानाकाशगमनादिषु योगैश्वर्यचमत्का-  
रंप्वासक्तः संगमविशेषैस्तत्रोपयुक्ते । ततः  
परमपुरुषार्थाद्भ्रष्टो भवति । अस्मिन्नर्थे सूत्रं  
पूर्वमेवादाहतम्—“ते समाधानुपसर्गा व्यु-  
त्थाने सिद्धयः” इति । केवलपरमहंसस्तु  
तत्त्वविवेकेनैश्वर्येष्वसारतां बुद्ध्वा विरज्य-  
ति । तदप्युदाहतम्—

अर्थः—यद्यपि ‘अथ’ शब्द इस स्थल में अनन्तर अर्थ में  
है, तथापि किमके अनन्तर यह कोई मालूम नहीं पड़ता तो  
भी यहाँ प्रश्न का विषय विद्वत्संन्यास है । इस विद्वत्संन्यास  
में, तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी लौकिक व्यवहारों द्वारा  
विशेष पाने से चित्त विश्रान्ति की इच्छावाला पुरुष अधिकारी है ।

इस लिये वैसे अधिकार को प्राप्त होने पर ऐसा उपनि-  
षद् के आरम्भ में दिये ‘अथ’ का अर्थ है । केवल परमहंस  
के वारण करने के लिये योगी का ग्रहण किया है और के-  
वल योगी के वारण करने के लिये परमहंस का ग्रहण किया  
है । केवलयोगी को तत्त्वज्ञान न होने से, त्रिकाल ज्ञान आ-  
काश में गमन आदिक योग ऐश्वर्य का आश्चर्य कारक व्यव-  
हारों में वह आसक्ति पाता है, और उस से विविध संयमों  
करके अपने योग बल का उस में उपयोग करता है, जिस से  
वह परम पुरुषार्थ मोक्ष से भ्रष्ट हो जाता है, ‘ते समाधा०’ यह  
सूत्र पहिले ही कहा है । केवल परमहंस तो तत्त्व के विवेक

द्वारा ऐश्वर्य को असार जान कर उस से विराग को प्राप्त  
होता है । उस का भी उदाहरण इस भान्ति आगे दिया है—

“चिदात्मन इमा इत्थं प्रस्फुरन्तीह शक्तयः ।  
इत्यस्याऽऽश्चर्यजालेषु नाभ्युदेति कुतूहलम्” इति ॥  
विरक्तोऽप्यसौ ब्रह्मविद्याभारेण विधिनिपे-  
धाबुल्लङ्घयति । तदुक्तम्—

अर्थः—इस जगत् में चैतन्यरूप आत्मा की ये सारी-  
शक्तियाँ इस प्रकार फुरती हैं, ऐमा समझ कर आश्चर्य के स-  
मूह में इस जीवन्मुक्त पुरुष को कौतुक उत्पन्न नहीं होता ।

विरक्त होने पर भी केवल परमहंस पुरुष, ब्रह्म विद्या के  
वल द्वारा विधि निषेध का उल्लङ्घन करता है । कहा है, कि—

“निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को  
निषेधः” इति ॥

तथाच श्रद्धालवः शिष्टास्तमेवं निन्दन्ति—

अर्थः—त्रिगुणातीत मार्ग में चलने वाले तत्त्ववित् पुरुष  
को क्या विधि है या क्या निषेध है ? अर्थात् वह विधि नि-  
षेध के वश नहीं ऐसे परमहंस को श्रद्धावान् शिष्ट पुरुष इस  
भांति निन्दा करते हैं ।

“सर्वे ब्रह्म वदिष्यन्ति संप्राप्ते तु कलौ युगे ।

नानुतिष्ठन्ति मैत्रेय शिशुनोदरपरायणाः” इति ।

योगिनि तु परमहंसे यथोक्तं दोषद्वयं नास्ति ।

अन्योऽप्यस्यातिशयः प्रश्नोत्तराभ्यां दर्शितः ॥

अर्थः—हे मैत्रेय ! कलियुग जब होगा तब सब मनुष्य  
ब्रह्म की वार्त्ता मान्न करेंगे, परन्तु शिशुनोदरपरायण वे शुभ  
क्रियाओं को नहीं करते ॥



योगी परमहंस में तो, सिद्धि में आसक्ति और यथेष्ट आचरण ये दोनों दोष होते नहीं । अन्य भी योग युक्त परमहंस की श्रेष्ठता श्रीरामचन्द्र और वसिष्ठ मुनि के प्रश्नोत्तर से मालूम पड़ती है ।

श्रीरामः—

“एवं स्थितेऽपि भगवन् ? जीवन्मुक्तस्य सन्मतेः ।

अपूर्वोऽतिशयः कोऽसौ भवत्यात्मविदां वर ?” ॥

अर्थः—श्रीरामजी बोले, ऐसा है तौ भी है भगवन् ! हे आत्मज्ञानी में श्रेष्ठ ! शुभ मति वाले जीवन्मुक्त की कोई अपूर्व श्रेष्ठता है सो कहो ।

वासिष्ठः—

“ज्ञस्य कस्मिंश्चिदेवाङ्ग ? भवत्यतिशयेन धीः ।

नित्यतृप्तः प्रशान्तात्मा स आत्मन्येव तिष्ठति ॥

मन्त्रसिद्धैस्तपःसिद्धैस्तन्त्रसिद्धैश्च भूरिशः ।

कृतमाकाशयानादि तत्र का स्यादपूर्वता ॥

एक एव विशेषोऽस्य न समो मूढबुद्धिभिः ।

सर्वत्राऽऽस्थापरित्यागाग्नीरागममलं मनः ॥

एतावदेव खलु लिङ्गमालिङ्गमूर्त्तः

संशान्तसंसृतिचिरभ्रमनिर्वृतस्य ॥

तज्ज्ञस्य यन्मदनकोपविषादमोह—

लोभापदामनुदिनं निपुणं तनुत्वम्” इति ।

अर्थः—वासिष्ठ जी बोले हे राम ! ज्ञानवान् पुरुष की बुद्धि कि सी भी श्रेष्ठ वस्तु में मोह को प्राप्त नहीं होती । निरतृप्त और प्रशान्त चित्तवाले उस स्वरूप में ही स्थिति वाला होता है । मन्त्र सिद्धि वाला, तप की सिद्धिवाला, उसी तरह

तन्त्र की सिद्धि वाला कदाचित् आकाश में गमन करे तो, उसमें अपूर्वता क्या है ? कोई नहीं । आकाश में बहुत से पक्षी उड़ते हैं, उसी तरह यह भी एक पक्षी है, ज्ञानी में एक विशेषता है कि जो मूढ पुरुषों में नहीं, वह यह है कि सब दृश्य पदार्थों में से सब बुद्धि जाती रहने से उसका निर्मल मन राग रहित होता है ॥

आगे को सूचित करने वाले इतर चिन्ह रहित स्वरूप वाले संसार रूपी अनादि काल का भ्रम जिस का जाता रहा है, ऐसे ज्ञानवान् पुरुष का मुख्य चिन्ह काम, क्रोध, विषाद, मोह, लोभ, और आपत्ति की प्रति दिन अत्यन्त क्षीणता होती यही है” ।

एतेनातिशयेनोपेतानां दोषद्वयरहितानां मार्गस्थिती पृच्छयेते । वेपभाषादिरूपो हि व्यवहारो मार्गः । चित्तोपरमरूप आन्तरोधर्मः स्थितिः ।

अर्थः—इस प्रकार की श्रेष्ठता वाला और सिद्धि में आसक्ति और यथेष्ट आचरण ये दो दोषों से रहित ऐसा योगी का मार्ग और स्थिति को पूछते हैं । वेप भाषादि रूप जो उसका व्यवहार है वह उस का मार्ग जानो । तथा चित्त का उपरामरूप जो अन्तःकरण का धर्म है, उसे स्थिति समझो ।

भगवांश्चतुर्मुखो ब्रह्मा यथोक्तप्रश्नोत्तरमवतारयति—“ तं भगवानाह” इति । वक्ष्यमाणमार्गं श्रद्धातिशयमुत्पादयितुं मार्गं प्रशंसति—



अर्थ:—भगवान् चतुरानन ब्रह्मा, पूर्वोक्त प्रश्न का उत्तर  
[३६]—“उस मार्ग में भगवान् करते हैं” ।

जब वे जो करने वाले मार्ग में श्रद्धा उत्पन्न करने के लिये  
उसकी प्रशंसा करते हैं—

“सोऽयं परमहंसानां मार्गो लोके दुर्लभतरो  
न तु बाहुल्यम्” इति ॥

यः पृष्ठः सोऽयमिति योजना । अयमित्युत्त-  
रग्रन्थे वक्ष्यमाण आच्छादनादिः स्वशरीरो-  
पभोगेन लोकोपकारेण च निरपेक्षोमुख्यो-  
मार्गः परामृश्यते । तादृशस्य परमकाष्ठां प्रा-  
प्तस्य वैराग्यस्यादृष्टचरत्वात्तस्य मार्गस्य  
दुर्लभत्वम् । न चैतावताऽत्यन्ताभावः श-  
ङ्कनीय इत्याभिप्रेत्य बाहुल्यमेव प्रतिषेधति ।  
नत्विति । बाहुल्येनेति वक्तव्ये लिङ्गव्यत्यय-  
श्छान्दसः ।

अर्थ:—“सो यह परमहंस मार्ग अत्यन्त दुर्लभ है । उसकी  
बाहुल्य नहीं”—‘सः’ ( वह ) अर्थात् जो पूछा उस को समझे ।  
और ‘अयं’ ( यह ) अर्थात् अब जो कहने में आवेगा, और जो  
आच्छादन आदि अपने शरीर के उपभोग का साधन रहित  
और लोकोपकार की अपेक्षा रहित है, उसे मुख्य मार्ग समझे,  
‘इस प्रकार के परम अवधिको प्राप्त’ हुए वैराग्य पहिले देखे  
हुए न होने से उस का दुर्लभ बन कथन किया है । यह उपर से  
वैराग्य की अभावकी शङ्का हो तो, उस के निवारण के  
लिये ‘न तु बाहुल्यं’ ( साधन नहीं होने ) इस वाक्य से उस की  
अधिकता का निषेध किया है । ‘बाहुल्येन—नहीं कहकर “वह”

कहा है सो छान्दस प्रयोग है ।

नन्वयं मार्गो दुर्लभतरश्चेत्तर्हि तदर्थं प्रयत्नो  
न कर्त्तव्यः तेन प्रयोजनाभावादिवाशपाऽऽह ।

अर्थ:—शङ्का—जब यह मार्ग आने दुर्लभ है, तो उस के  
लिये प्रयास करने की क्या आवश्यकता है । क्योंकि उस में  
कोई प्रयोजनभी नहीं । ऐसी शङ्का का उत्तर—

“यद्येकोऽपि भवति स एव नित्यपूतस्थः स  
एव वेद पुरुष इति विदुषो मन्यन्ते” इति ॥

अर्थ:—‘जो वैसा पुरुष एक भी होता है तो, वही सदा  
शुद्ध परमात्मा में स्थित और वेद पुरुष है, ऐसा विद्वान् लोग  
मानते हैं ।

“मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिन्नति सिद्धये ।  
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः”  
इति न्यायेन यत्र कापि यदा कदाचित् योगी  
परमहंसो यदि कश्चिल्लभ्यते तर्हि स एव  
नित्यपूतस्थो भवति । नित्यपूतः परमात्मा ।

“य आत्मा ऽपहत पाप्मा” इति श्रुतेः ।  
एवकारेण केवलयोगी केवलपरमहंसश्च व्या-  
वर्तते । केवलयोगी नित्यपूतं न जानाति  
केवलपरमहंसो जानन्नपि चित्तविश्रान्त्य-  
भावाद् बहिर्मुखो ब्रह्मणि न तिष्ठति । वेद-  
प्रतिपाद्यः पुरुषो वेदपुरुषः विदुषो विद्वां-  
सो ब्रह्मानुभवचित्तविश्रान्तिप्राप्तपादकशा-  
स्त्रपारङ्गता योगिनः । परमहंसस्य ब्रह्मनि-  
ष्ठत्वं सर्वे जना मन्यन्ते । यथोक्तविद्वांसभ्यु



तदप्यसहमाना ब्रह्मत्वमेव मन्यन्ते । तथाच स्मर्यते ।

अर्थ:—हजारों मनुष्यों में कोई एक पुरुष अन्तःकरण की सहाय्य सिद्धि के लिये यत्न करना और यत्न करने वाले चित्त शुद्धि नाट्यों में से कोई ही एक मुझ ( परमात्मा को ) ठीक २ जानता है । इस न्याय से, जहां कहीं, और जब कभी जो योगी परमहंस मिले तो नहीं नित्य पूतस्थ है । नित्य पूत ( सदा पवित्र ) परमात्मा ही है । क्योंकि, 'जो आत्मा निष्पाप है' । ऐसा श्रुति कहती है । 'यद्येको' इस उपनिषद् वाक्य में 'एव' ( ही ) ऐसा पद है । वह केवल योगी और केवल परमहंस के निमित्त है । क्योंकि केवल योगी तो, नित्य पूत आत्मा को जानता ही नहीं । और केवल परमहंस जानता भी है तौभी उस का चित्त विश्राम को न पाने से वहिर्मुख होता है, इस से ब्रह्म में स्थिति नहीं कर सकता । वेद प्रतिपादन करने योग्य पुरुष वेद पुरुष है । ब्रह्मानुभव और चित्त विश्रान्ति के निमित्त प्रतिपादन करने वाले शास्त्रों का पार पाय हुए पुरुष को यहां विद्वान् जानो । परमहंस योगी का ब्रह्म निष्ठपन सर्वमनुष्य मानते हैं । और पूर्वोक्त विद्वान् तो, उस को सहन न करता हुआ उसका ब्रह्म पन ही मानता है । स्मृति में ऐसा कहा है—

“दर्शनादर्शनं हित्वा स्वयं केवलरूपतः ।

यस्तिष्ठति स तु ब्रह्म ब्रह्म न ब्रह्म वित्स्वयम्” इति ॥

अतो न प्रयोजनाभावः शङ्कितुमपि शक्यते ।

अर्थ:—दर्शन और अदर्शन का त्याग कर अद्वैत स्वरूप से रहता है, वह पुरुष स्वयं, हे ब्रह्मन् ? ब्रह्म वित् नहीं बल्कि ब्रह्म ही है ।

इस लिये योगी परमहंस दशा का कोई प्रयोजन ही नहीं, ऐसी शङ्का भी नहीं हो सकती ।

नित्यपूतस्थत्वं वेदपुरुषत्वं च सुखतो विशद-  
यन्नर्थात्का स्थितिरिति प्रश्नोत्तरं सूचयति ।

अर्थ:—नित्यपूतस्थपन और वेदपुरुषपन वाणी से स्पष्ट करते हुए 'उन की स्थिति कैसी होती है ? इस प्रश्न का उत्तर तात्पर्य से कहते हैं ।

“महापुरुषो यच्चित्तं तत्सर्वदा मध्येवावतिष्ठते ।

तस्मादहं च तस्मिन्नेवावस्थीयते” इति ।

अर्थ:—वह पुरुष योगी है जो अपना चित्त है उसे मुझ में ही ठहराता है । तिस कारण मैं भी उसी में रहता हूं ।

वैदिकज्ञानकर्माधिकारिषु पुरुषेषु मध्ये योगि-

नः परमहंसस्यात्यन्तमुत्तमत्वान्महापुरुषत्वम् ।

स तु महापुरुषो यच्चित्तं स्वकीयं तत्सदा

मध्येवावस्थापयति । संसारगोचराणां त-

दीयचित्तवृत्तीनामभ्यासवैराग्याभ्यां निरु-

द्धत्वात् । अतएव भगवान् प्रजापतिः

शास्त्रसिद्धं परमात्मानं स्वानुभवेन परामृ-

शन्मयीति व्यपदिशति । तस्माद्योगी मध्येव

चित्तं स्थापयति । तस्मादहमपि परमात्म-

त्वस्वरूपत्वेन तस्मिन्नेव योगिन्याविर्भूतोऽव-

स्थितोऽस्मि नेतरेष्वज्ञानिषु । तेषामविद्यावृ-

त्तत्वात् । तत्त्वचित्स्वप्नयोगिषु बाह्यचित्त-

वृत्तिभिरावृतत्वान्नास्त्याविर्भावः ॥

इदानीं कोऽयं मार्ग इति पृष्टं मार्गमुपदिशति—



अर्थ:—वैदिकज्ञान और कर्मके अधिकारी पुरुषों में योगी परमहंस अत्यन्त उत्तम हैं, इस लिये उस को महापुरुष कहते हैं। यह महापुरुष, सदा मुक्त में ही चित्त स्थिर करता क्योंकि ज्ञान और वैराग्य से, संसार के विषयों से उस की इच्छाओं निरोध को प्राप्त होती हैं। इस लिये भगवान् प्रजापति स्वयं साक्षात् अनुभव किये आत्मा को लेकर, 'मायि' (मुझ में) ऐसा कहा है जिस कारण यह योगी मुक्त में ही सदा चित्त स्थापन करता, इस लिये मैं भी परमान्मात्सरूप से उस में प्रकट हो रहा हूँ। इतर अज्ञानी में नहीं रहता। क्योंकि वे अविद्या से आवृत होते हैं। तत्त्ववित् होने पर भी जो योगी नहीं, उन में मेरा स्वरूप बहिर्दृष्टिसे आवृत होने से भी मेरा आविर्भाव नहीं। अब योगी परमहंस का कौन मार्ग है ? इस प्रश्न का उत्तर दिया है।

“असौ स्वपुत्रमित्रकलत्रबन्धवादीन् शिष्या-  
यज्ञोपवीते स्वाध्यायं च सर्वकर्माणि सं-  
न्यस्यायं ब्रह्माण्डं च हित्वा कौपीनं दण्डमा-  
च्छादनं च स्वशरीरोपभोगार्थाय च लोक-  
स्पोषकारार्थाय च परिग्रहे”दिति ॥

अर्थ:—यह योगी परमहंस अपना पुत्र, मित्र, स्त्री, बन्धु, आदि को, शिष्या और यज्ञोपवीत को, स्वाध्याय और सर्व कर्मों को त्याग कर, वैसे ही इस ब्रह्माण्ड को भी त्याग कर, केवल अपने शरीर के उपभोगार्थ निर्वाह के लिये और लोकोपकार के लिये कौपीन, (लङ्कोट) दण्ड और आच्छादन को ग्रहण करे।

योग्यस्थः पूर्वजन्मसञ्चितपुण्यपुञ्जं परिपक्वं

सति मातृपितृजात्यादिना निमित्तेन वि-  
विदिषासंन्यासरूपपरमहंसाश्रमसंन्यासकृत्यैव  
श्रवणादिसाधनान्यमुष्टाय तत्त्वं सम्यगव-  
गच्छति, ततो गार्हस्थ्यप्रार्थित्वा लौकिककर्मैक-  
व्यवहारसहस्रैश्चिन्ते चिन्तिते सति विश्रान्ति-  
सिद्धये विद्वत्संन्यासं चिकीर्षति तं प्रति  
स्वपुत्रमित्रेत्याद्युपदेशः। पूर्वमेव विविदिषा-  
संन्यासं कृत्वा तत्त्वं विदितवतो विद्वत्संन्या-  
सं चिकीर्षीः कलत्रपुत्रादिप्रसङ्गाभावात् ।

अर्थ:—जो गृहस्थ पूर्वजन्म के सञ्चित पुण्य के परिपाक होने से, माता, पिता, सम्बन्धी आदि निमित्त के कारण वि-  
विदिषासंन्यासरूपपरमहंस के आश्रम को स्वीकार किये  
बिना श्रवण, मनन, आदिक साधनों को कर यथार्थ तत्त्वज्ञान  
का सम्पादन करता और उस के बाद गृहस्थाश्रम के कारण  
प्राप्त लौकिक वैदिक हजारों व्यवहारों के कारण, जब उन का  
चित्त निक्षेप को प्राप्त होता है, तब जो चित्त विश्रान्ति के  
लिये विद्वत्संन्यास धारण करने की इच्छा करता उस के लिये  
पुत्र, मित्र आदिकों के त्याग का कथन किया है। क्योंकि  
जिस ने प्रथम से ही विविदिषासंन्यास धारण कर तत्त्वज्ञान  
प्राप्त किया है, और उस के बाद विद्वत्संन्यास धारण करने की  
इच्छा रखता है, उस को स्त्री, पुत्रादिक का प्रसङ्ग ही नहीं होता।

नन्वयं विद्वत्संन्यासः किमितरसंन्यासवत्  
प्रेषोच्चारणार्थविध्युक्तप्रकारेण सम्पादनी-  
यः, किं वा जीर्णवस्त्रसोपद्रवसामादित्याग-  
वत् लौकिकत्यागमात्ररूपः । नाऽऽयः । त-



स्वविदः कर्तृत्वरहित्येन विधिनिषेधानाधि-  
कारात् । अतएव स्मर्यते ।

अर्थः—शङ्का—क्या यह संन्यास, इतर संन्यास के समान प्रैषोच्चारण आदि विधि कथितानुसार सम्पादन करना चाहिये ? या जैसे अपने पुराने वस्त्र को त्याग कर दिया जाता उसभांति या जैसे रोगादि उपद्रव वाले गांव को छोड़ दिया जाता उस तरह ही पुत्रादिकों का त्याग करे ? पहिला अर्थात् प्रैषोच्चारणादि विधिपूर्वक त्याग तो सम्भव नहीं होता क्योंकि तत्त्व विव पुंस्व अकर्ता होने से उस को विधिनिषेध का अधिकारही नहीं । स्मृति भी कहती है ।

“ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।

नैवास्ति किञ्चित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्वचित्” इति॥

न द्वितीयः । कौपीनदण्डाद्याश्रमालङ्क-  
धानश्रवणात् ।

अर्थः—शङ्का—ज्ञानरूपी अमृत कर के तृप्ति पाए हुए कृतकृत्य योगी को कुछ कर्तव्य नहीं । और जो उसको कुछ कर्तव्य है तो, वह तत्त्व विव नहीं है ।

और कौपीन दण्डादि आश्रम के चिन्ह के विधान का श्रवण होने से लौकिक त्याग रूप दूसरा पक्ष भी सम्भव नहीं ।

नैष दोषः । प्रतिपत्तिकर्मबहुभयरूपत्त्वाप-  
त्तेः । तथा हि—ज्योतिष्टोमे दीक्षितस्य दी-  
क्षाद्वनियमानुष्ठानकाले कण्डूयितुं हस्तं प्र-  
तिपिच्य कृष्णविषाणा विहिता ।

अर्थः—समाधान—प्रतिपत्ति कर्मके समान विद्वत्संन्यास लौकिक और वैदिक दोनों कर्म रूप हैं, इस लिये प्रोक्त दोष

नहीं है । प्रतिपत्ति कर्म इस प्रकार है ।

जिस ने ज्योतिष्टोम यज्ञ की दीक्षा ग्रहण किया हो—उस के लिये दीक्षाका अङ्गभूत कर्म करते समय हाथ में क्षीर को खुजलाने का निषेध कर काले मृग के सीङ्ग से खुजलाने का विधान किया है । तहां प्रमाण

“घृद्धस्तेन कण्डूयेत पामनंभानुकाः प्रजाः  
स्युर्यत्तस्मयेत नग्नंभानुकाः” इति “कृ-  
ष्णविषाणया कण्डूयते”—इति च । तस्याश्च  
कृष्णविषाणायाः समासे नियमे प्रयोजना-  
भावाद्धोतुमशक्यत्वाच्च त्यागः स्वत एव  
प्राप्तः । तं च त्यागं सप्रकारं वेदो वि-  
दधाति—

अर्थः—जो हाथ से शिर खुजलावे तो, खुजली की धी-  
मारी युक्त प्रजा होती जो हास्य करे तो, लाज  
हीन प्रजा होती । इस लिये काले मृग के सीङ्ग से  
खुजलावे । नियम पूरा होने पर काले मृग के सीङ्ग का कोई  
प्रयोजन न होने से और उस को धारण करना अशक्य भी  
होने से उस का स्वयं त्याग प्राप्त होता है । परन्तु उसका वि-  
धिपूर्वक त्याग का वेद विधान करता है ।

“नीतासु दीक्षणासु चान्वाले कृष्णविषाणां  
प्रास्यति” इति । तदिदं प्रतिपत्तिकर्म लौ-  
किकं वैदिकं चेत्युभयरूपम् । एवं विद्वत्सं-  
न्यासोऽप्युभयरूपः । न च तत्त्वविदि कर्तृ-  
त्वस्यात्यन्ताभावः शङ्कनीयः । निदात्मन्या-  
रोपितस्य कर्तृत्वस्य विषयाऽप्योचितत्वेऽपि



चित्तिच्छाद्योपेतोऽन्तःकरणोपाधौ चिक्रिया-  
सहस्रयुक्तं स्वतः सिद्धस्य कर्तृत्वस्य या-  
वद्द्रव्यभावितयाऽनपोदितत्वात् । न च ज्ञा-  
नामृतेनेत्यादि स्मृतिविरोधः । सत्यपि ज्ञाने  
विश्रान्तिरहितस्य तृप्त्यभावेन विश्रान्तिस-  
म्पादनलक्षणकर्तव्यशेषसद्भावेन कृतकृत्य-  
त्वाभावात् ।

अर्थः—दक्षिणा ले चुकने पर कृष्णविषाण को चा-  
त्वाल ( ज्योतिष्टोम यज्ञ करने में खोदा हुआ गडहा या खाई ) में  
डालना । यह कर्म लौकिक और वैदिक दोनों रूप है इसी तरह वि-  
द्वत्संन्यास भी दोनों रूप है । तत्त्व वित् में कर्तापन का एकदम  
अभाव है, ऐसी शङ्का न करो । क्योंकि चैतन्यस्वरूप आत्मा  
में आरोपित कर्तापन को ज्ञान से निरोध करने पर भी अनेक  
विकार युक्त चिदाभास सहित अन्तःकरण रूप उपाधि में जो  
स्वतः सिद्धकर्तापन रहता है, वह अन्तःकरण रहता तब तक  
रहने वाला होने से उसको पुरुष दूर नहीं करता । इस से  
'ज्ञानामृतेन' इस पूर्वोक्त स्मृति के साथ कोई विरोध नहीं आता  
क्योंकि उस को ज्ञान होने पर भी, शेष चित्त को विश्रान्ति  
नहीं होती इस लिये उस को तृप्ति प्राप्त हुई नहीं, तिस से चित्त  
विश्रान्ति सम्पादन करना रूप कर्तव्य बाकी होने से वह कृत  
कृत्य नहीं हुआ ।

ननु तत्त्वविदो विध्यङ्गीकारे सति तेनाऽपूर्वे-  
ण देहान्तरमारभ्येत ।

अर्थः—शङ्का—जो तत्त्व ज्ञानी को विधि अङ्गीकार करो तो,  
उस से हुए अपूर्व करके अन्य देह की प्राप्ति हो जाये ।

मैवम् । तस्याऽपूर्वस्य चित्तविश्रान्तिप्रतिव-  
न्धनिवारणलक्षणस्य दृष्टफलस्य सम्भवे  
सत्यदृष्टफलकल्पनाया अन्याय्यत्वात् । अ-  
न्यथा श्रवणादिविधिष्वपि ब्रह्मज्ञानोत्पत्ति-  
प्रतिवन्धनिवारणरूपं दृष्टफलमुपेक्ष्य ज-  
न्मान्तरहेतुत्वं कल्प्येत । तस्माद् विध्यङ्गी-  
कारे दोषाभावाद् विविदिपुरिव विद्वानपि  
गृहस्थो नान्दीमुखश्राद्धोपवासजागरणादि-  
विधिमनुसृत्यैव संन्यसेत् ।

अर्थः—समाधान—यह दोष यहां प्राप्त नहीं होता, क्योंकि  
चित्त विश्रान्ति में प्रतिवन्धक कारण निवारण करना यह उस  
अपूर्व का प्रत्यक्ष फल सम्भव है, इस लिये जन्मान्तर की प्राप्तिरूप  
अदृष्ट फल की कल्पना करनी योग्य नहीं । जो वैसा न माने तो,  
श्रवण आदिक विधियों का भी ब्रह्मज्ञानके उत्पत्ति का प्रतिवन्ध  
होते उस का निवारणरूप जो दृष्ट फल है, उस का अनादर कर ज-  
न्मान्तर प्राप्तिरूप फल की कल्पना हो सकती । इस लिये तत्त्व-  
ज्ञानी को विधि मानने में कोई भी दोष नहीं । उस से ज्ञान  
की इच्छावाले पुरुष के समान ज्ञानवान् गृहस्थ भी नान्दीमुख  
श्राद्ध, उपवास, जागरण, आदि विधियों को अनुसरण कर  
विद्वत्संन्यास को धारण करे ।

यद्यप्यत्र श्राद्धादिकं नोपादिष्टं तथाऽप्य-  
स्य विद्वत्संन्यासस्य विविदिपासंन्यास-  
विकृतित्वात् “प्रकृतिवद् विकृतिः क-  
र्त्तव्या” इति न्यायेन तदीया धर्माः सर्वे-  
प्यत्र प्राप्नुवन्ति । यथाऽग्निष्टोमस्य वि-



कृतान्यविराजादिषु तर्दायधर्मप्राप्तिस्तद्वत् ।  
 तस्मादितरसंन्यासवदत्रापि प्रैषमन्त्रेण पु-  
 त्रमित्रादित्यागं सङ्कल्पयेत् । बन्धवा-  
 दानित्यादिशब्देन भृत्यपशुगृहक्षेत्रादिलौ-  
 किकपरिग्रहादिविशेषाः संगृह्यन्ते । स्वा-  
 ध्यायं चेति चकारेण तदर्थनिर्णयोप-  
 युक्तानि पदवाक्यप्रमाणशास्त्राणि वे-  
 दोपबृंहकाणीतिहामपुराणानि च समुचि-  
 नोति । औत्सुक्यनिवृत्तिमात्रप्रयोजनानां  
 काव्यनाटकादीनां त्यागः कैमुतिकन्यायसि-  
 द्धः । सर्वकर्माणीति सर्वशब्देन लौकि-  
 कवैदिकनित्यनैमित्तिकनिषिद्धकाम्यानि सं-  
 गृह्यन्ते । पुत्रादित्यागेनौहिकभोगः परि-  
 हृतः । सर्वकर्मत्यागेन चाऽऽमुष्मिकभोगा-  
 शा चित्तविक्षेपकारिणी परिहृता । अय-  
 मिति हान्दमविभक्तिव्यत्ययेनेदं ब्रह्माण्ड  
 मिति योजनीयम् । ब्रह्माण्डत्यागो नाम त-  
 त्यागितेतोर्विराटुपासनस्य त्यागः । ब्रह्माण्डं  
 चेति चकारेण सुखात्मप्राप्तिहेतोर्हिरण्यग-  
 र्भोपासनस्य तत्त्वज्ञानहेतुर्वा अवणार्दीनां च  
 समुच्चयः । स्वपुत्रादिहिरण्यगर्भोपासना-  
 न्तर्भौतिकमाऽमुष्मिकं च मुक्तसाधनं सर्वं प्रै-  
 षमन्त्रोच्चारणेन परित्यज्य कौपीनादिकं  
 परिशुद्धीयात् । आकृष्टादयं चेति चकारेण  
 पादुकादीनां समुचिनोति । तथा च स्मृतिः—

अर्थः—यद्यपि विद्वत्संन्यास में श्राद्ध आदिक का कथन  
 नहीं किया, तथापि विद्वत्संन्यास यह, विविदिषा संन्यास की  
 विकृति है, और विकृति प्रकृति के समान करना, यह न्याय  
 है, इस लिये विविदिषा संन्यास के सब धर्म विद्वत्संन्यास में प्राप्त  
 होते हैं । जैसे अग्निष्टोम यज्ञ की विकृति अतिरात्र आदि यज्ञ  
 में अग्निष्टोम के सब धर्म प्राप्त होते हैं । तैसे विविदिषा संन्यास  
 की विकृति विद्वत्संन्यास है, इस लिये विविदिषा संन्यास की  
 अङ्ग भूत क्रियायें इस विद्वत्संन्यास में भी करनी चाहिये,  
 ऐसा समझना, ऐसा है इस लिये इतरसंन्यासी के समान इस सं-  
 न्यास में भी प्रैषोच्चारण द्वारा पुत्र मित्रादि का साग करना ।  
 श्रुति में वन्पु आदि ऐसा कहा है, इस लिये आदि शब्द से  
 चाकर, पशु, गृह, क्षेत्र आदि लौकिक वस्तुओं, का साग समझो ।  
 'स्वाध्यायं च' यहां चकार का ग्रहण किया है, इस लिये उस से  
 वेदान्त के निर्णय में उपगंगी व्याकरण, न्याय मीमांसा, आदि  
 शास्त्रों का तथा वेदार्थ का उपबृंहण करने वाला इतिहाम पुन-  
 ण आदिक का भी ग्रहण समझना, अर्थात् वे भी त्यागने के  
 योग्य हैं, तब उत्सुकता की निवृत्ति मात्र जिन का प्रयोजन है,  
 इस प्रकार काव्य नाटकादि का त्याग तो, कैमुतिकन्याय में सिद्ध  
 है । सब कर्मों के साग में अर्थात् नित्य, नैमित्तिक, काम्य और  
 निषिद्ध कर्मों का त्याग समझना । पुत्रादि के साग पर से ऐहिक  
 भोग का त्याग जानना । सर्व कर्म के त्याग से चित्त को  
 विक्षेप डालनेवाली आर्मांषादि भोग की भाशा का त्याग जान  
 लेना । 'अयं' इस हान्दम प्रयोग से इस स्थल में 'इदं ब्रह्माण्ड'  
 ऐसी योजना समझनी । ब्रह्माण्ड का त्याग अर्थात् ब्रह्माण्ड की  
 प्राप्ति का कारण विमल उपासना का त्याग जानना । 'ब्रह्माण्ड'



न' यहाँ चकार के ग्रहण से मूत्राण्डा के प्राप्ति का कारण हि-  
रण्यगर्भोपासना का, तथा तत्त्वज्ञान के प्राप्ति का कारण श्र-  
वणादि का साग समझ लेना । अपने पुत्र से उस हिरण्य-  
गर्भोपासना तक इस लोक परलोक के सब सुखों के साधनों  
को पैय पन्त्र का उच्चारण से साग कर कौपीन आदि ग्रहण  
करना । आच्छादन को ग्रहण करने कहा है, परन्तु च शब्द  
से पादुका आदिक का ग्रहण करना भी समझना ।

स्मृति में यही कहा है—

“कौपीनयुगलं वासः कन्यां शीतनिवारिणीम् ।  
पादुके चापि गृहीयात्कुर्यान्नान्यस्य संग्र-  
हम्” इति ॥

अर्थ:—दो लङ्गोटा, एक ओढ़ने का वस्त्र, शीत से बचाने  
के लिये गुद्दी और पादुका इतनी वस्तु संन्यासी ग्रहण करे,  
अन्य का संग्रह न करे ।

स्वशरीरोपभोगो नाम कौपीनेन लज्जाव्या-  
वृत्तिः । दण्डेन गोसर्पाद्युपद्रवपरिहारः ।  
आच्छादनेन शीतादिपरिहारः । चकारा-  
त्पादुकाभ्यामुच्छिष्टदेशस्पर्शादिपरिहारं स-  
मुच्चिनोति । लोकस्वोपकारो नाम दण्डा-  
दिलिङ्गेन तर्दीयमुत्तमाश्रमं परिज्ञाय त-  
दुचिताभिवन्दनमिक्षाप्रदानादिप्रवृत्त्या मुकृ-  
तसिद्धिः । चकाराभ्यामाश्रममर्यादायाः शि-  
ष्टाचारप्राप्तायाः पालनं समुच्चिनोति ॥

अर्थ:—कौपीन से लज्जा की रक्षा होनी है, दण्ड से पैय,  
सर्प, आदिके उपद्रवों से बचना है, आच्छादन से शीत आदि

सुखों का परिहार होता है । और पादुका धारण करने से उ-  
च्छिष्ट भूमि का स्पर्श नहीं हो सकता । इन सब को शरीर का  
उपभोग कहना । और दण्डादि चिह्न को देख कर उस का  
उत्तम आश्रम है, ऐसा समझ कर लोक उस को यथोचित अ-  
भिवन्दन करते हैं, और भिक्षा देते हैं, उस से उस लोक के  
पुण्य की वृद्धि होती है । इस प्रकार चिह्न धारण करने का  
लोकोपकार भी फल है, पूर्वोक्त उपनिषद् के ( स्वशरीरोप-  
भोगाय च लोकोपकाराय च ) इस भांति दो चकार का ग्र-  
हण किया है, उस से शिष्टाचार द्वारा प्राप्त आश्रम मर्यादा का  
पालन भी दण्डादि चिह्न धारण का फल है, ऐसा समझना ।

कौपीनादिपरिग्रहस्याऽऽनुकूल्यत्वमभिप्रेत्य  
मुख्यत्वं प्रतिषेधति—

“तच्च न मुख्योऽस्ति” इति ।

यत् कौपीनादिपरिग्रहणमस्ति तदप्यस्य यो-  
गिनः परमहंसस्य मुख्यः कल्पो न भवति ।  
किं त्वनुकूल्य एव । विविदिषासंन्यासि-  
नस्तु दण्डग्रहणं मुख्यमिति कृत्वा दण्ड-  
विधोगस्य निषेधः स्मर्यते—

अर्थ:—जो योगी परमहंस कौपीन आदिधारण करे तो,  
उस को अनुकूल पडे इस अभिप्राय से उन को कौपीनादिक  
धारण करने कहा है । इस लिये कौपीनादि धारण की मुख्य-  
ता का निषेध करता है ।

‘तच्च न मुख्योऽस्ति’ जो कौपीन आदि ग्रहण करना यह  
उन का अर्थान परमहंस का मुख्य विधि नहीं, किन्तु योग  
विधि है । और विविदिषा संन्यासी को तो दण्ड ग्रहण आ-



दिक मुख्य है । इस लिये ही स्मृति दण्ड साग का निषेध करती है ।

“दण्डात्मनोस्तु संयोगः सर्वदैव विधीयते ।

न दण्डेन विना गच्छेद्विदुःशेषत्रयं शुभ” इति ॥

अर्थः—दण्ड और शरीर का सम्बन्ध सदा रखना चाहिये। तीन धनुष ( नाभ निषेध ) जहां तक जाये उतनी जमीन तक भी अपने आश्रम धर्म को जानने द्वारा संन्यासी को विना दण्ड के न चलना चाहिये ।

“प्रायश्चित्तनपि दण्डनाशे प्राणायामशतं स्मर्यते—“दण्डत्यागे शतं चरेत्” इति ।

योगिनः परमहंसस्य मुख्यं कल्पं प्रश्नोत्तरगतं दर्शयति—

अर्थः—किसी निमित्त से यदि दण्ड का त्याग हो जावे तो १०० प्राणायाम करे । इस भान्ति दण्ड का नाश होय तो स्मृति उस का प्रायश्चित्त भी कथन करती है, योगी परमहंस के मुख्य विधि को प्रश्नोत्तर द्वारा बतलाते हैं ।

“कोऽयं मुख्य इति चेदयं मुख्यः, न दण्डं न शिखं न यज्ञोपवीतं नाऽऽच्छादनं चरति परमहंसः” इति ॥

न शिखमिति छान्दसो लिङ्गव्यत्ययोऽनुसन्धेयः । यथा विविदिषुः परमहंसः शिखा-यज्ञोपवीताभ्यां रहितो मुख्यस्तथा योगी दण्डाच्छादनाभ्यां रहितः सन्मुख्यो भवति । दण्डस्य वैणवत्वादिलक्षणमाच्छादनस्य कन्यात्वादिलक्षणं च परीक्षितुं दण्डादिकं

सम्पादयितुं रक्षितुं च चित्ते व्यापृते सति चित्तवृत्तिनिरोधलक्षणां योगों न सिद्ध्येदिति । तच्च न युक्तम् । न हि वरविधाताय कन्योद्वाहः” इति न्यायात् ॥

आच्छादनाद्यभावे शीतादिबाधायाः कः प्रतीकार इत्याशङ्क्याऽऽह—

अर्थः—इसका मुख्य विधि क्या है ? ऐसा पूछो तो, परमहंस दण्ड, शिखा, या यज्ञोपवीत, या आच्छादन, कुछ न रखे । यही मुख्य विधि है ।

व्याकरण की रीति से ‘न शिखां’ चाहिये इस के बदले ‘न शिखं’ ऐसा प्रयोग किया है, यह छान्दस प्रयोग है । जैसे विविदिषा संन्यासी शिखा और यज्ञोपवीत रहित मुख्य है, तैसे योगी परमहंस दण्ड और वस्त्र रहित मुख्य है । क्योंकि दण्ड बास का है, या अन्य काठ का है, इस भान्ति दण्ड की परीक्षा करने के लिये, वैसे ही आच्छादन भी कन्या रूप है ? या अंगरखा के समान है ? इस रीति आच्छादन की परीक्षा करने के लिये, वैसे ही दण्ड मिलने के लिये और उस की रक्षा के लिये योगी की वृत्ति बाग्वार बाहरी व्यापार वाली होने में उस का मुख्य कर्तव्य जो चित्त वृत्ति का निरोध रूप योग है सो सिद्ध नहीं हो सकता । जैसे कन्या का व्याह वरके मारने के लिये नहीं, किन्तु उस की वंश वृद्धि के लिये है । तैसे ही परमहंस आश्रम धारण किया जाता है, वह केवल चित्त वृत्ति के निरोध के लिये ही धारण करने में आता है । किन्तु चित्त वृत्ति के विक्षेप के लिये धारण करने में नहीं आता । दण्ड



आरिक्त धारण करने से तो, ऊपर बताये हुए प्रमाण से निज विशेष को प्राप्त होता है, इस लिये दण्ड आदि का ग्रहण यह परम हंस के लिये मुख्य विधि नहीं। बख आदि न रखे तो, शीत, आतप, आदि से शरीर की रक्षा किम रीति करे ? ऐसी शंका हो इस लिये श्रुति उत्तर देती है—

“न शीतं न चोष्णं न दुःखं न सुखं न माना-  
अमाने च षडूर्ध्वजर्मम्” इति ॥

अर्थः—उस को ठण्ड, गर्मी, दुःख, सुख, मान अपमान, होते नहीं। तैसे ही वह छः ऊर्मि रहित होता है ॥

निरुद्धाशेषचित्तवृत्तेर्योगिनः शीतं नास्ति  
तत्प्रतीत्यभावात् । यथा लीलायामासक्तस्य  
बालस्याऽऽच्छादनादिरहितस्यापि हेमन्त-  
शिशिरयोः प्रातःकाले शीतं नास्ति तथा  
परमात्मन्यासक्तस्य योगिनः शीताभावः ।  
घर्मकाले उष्णाभावश्च तथैवावगन्तव्यः ।  
वर्षाभावसमुच्चयार्थश्चकारः । शीतोष्णयोर-  
प्रतीतौ तज्जन्ययोः सुखदुःखयोरभाव उप-  
पन्नः । निदाघे शीतं सुखजनकं हेमन्ते दुःख  
जनकम् । उक्तविपर्यय उष्णे द्रष्टव्यः । मानः  
पुरुषान्तरेण सम्पादितः सत्कारः, अवमानः  
तिरस्कारः ।

अर्थः—सब वृत्तियों का जिन ने निरोध कर लिया है, ऐसे योगी को शीत की प्रतीति होती नहीं। जैसे क्रीड़ा में खुश रहने वाला लड़का बख आदिसे रहित होय तो भी हेमन्त शिशिर, ऋतु के प्रातः काल में भी उस को शीत नहीं मालूम

पड़ता। तैसे ही परमात्मा में आसक्त योगी को शीत आदि का अमर नहीं होता, उसी तरह उष्ण काल में गर्मी का अभाव होता है। चातुर्मासे में वृष्टि का अभाव भी च शब्द से लेना चाहिये। उस को शीत और उष्णता की अप्रतीति होने से, उस से होने वाले सुख दुःख का उस को अभाव होता है। यह वार्ता योग्य ही है, उष्ण काल में शीत सुख कारक है, और हेमन्त में दुःखकारक है, उसी तरह हेमन्त में उष्णता सुख जनक है, और उष्ण काल में दुःख जनक है। मान अर्थात् अन्य पुरुष से किया सत्कार। अपमान अर्थात् तिरस्कार।

यदा योगिनः त्वात्मव्यतिरिक्तं पुरुषान्तर-  
मेव न प्रतीयते तदा मानावमानौ दूरादपे-  
तौ । चकारः शत्रुमित्ररागद्वेषादिद्वन्द्वाभावं  
समुच्चिनोति । षडूर्ध्वयः—क्षुत्पिपासे शोक-  
मोहौ जरामरणे च । तेषां त्रयाणां द्वन्द्वानां  
क्रमेण प्राणमनोदेहधर्मत्वादात्मतत्त्वाभिमुख-  
स्य योगिनस्तद्वर्जनं न विरुद्ध्यते ॥

अर्थः—जब योगी को अपने आत्मा के सिवाय अन्य पु-  
रुष ही नहीं। तब मान अपमान, हो ही कैसे ? चकार का ग्रहण  
शत्रु, मित्र, राग, द्वेष, आदिक द्वन्द्व धर्मों के समुच्चय को दूर करता  
है। भूख, प्यास, शोक, मोह, और जरा, मरण, ये छः ऊर्मियां  
समझो, इन में से भूख प्यास, प्राणका धर्म हैं। शोक मोह अन्तः  
करण के धर्म हैं, और बुढ़ापा, मृत्यु, शरीर के धर्म हैं। इसलिये  
आत्माभिमुख योगी में छः ऊर्मियों का त्याग विरुद्ध नहीं।

नन्वस्त्वेवं समाध्यवस्थायां शीताशभावः,  
व्युत्थानदशायां तु निन्दादिलेशः संसारि-



णमिवैनं बाधत एवेत्याशङ्क्याऽऽह—

अर्थः—समाधि दशा में योगी को शीत आदि का अभाव हो, परन्तु व्युत्थान दशा में तो, संसारी के समान निन्दा आदि क्लेश उस को बाध करता ही है, ऐसी शङ्का का उत्तर ।

“निन्दागर्वमत्सरदम्भदर्पेच्छाद्वेषसुखदुःख-  
कामक्रोधलोभमोहहर्षास्मृयाहङ्कारादींश्च हि-  
त्या” इति ॥

अर्थः—निन्दा, गर्व, मत्सर, दम्भ, दर्प, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, काम, क्रोध, लोभ, मोह, हर्ष, अस्मृया, और अहङ्कार आदिक को त्याग कर ।

विरोधाभिः पुरुषैः स्वस्मिन्नापादिता दोषो-  
क्तिर्निन्दा । अन्येभ्योऽधिकोऽहमिति चित्तवृ-  
त्तिर्गर्वः । विद्याधनादिभिरन्यसदृशो भ-  
वामीति बुद्धिर्मत्सरः । परेषामग्रे जपध्या-  
नादिप्रकटनं दम्भः । भर्त्सनादिषु दृढबुद्धि-  
दर्पः । धनाद्यभिलाषः इच्छा । शत्रुवधा-  
दिषु बुद्धिः द्वेषः । अनुकूलद्रव्यादिलाभेन  
बुद्धिस्वास्थ्यं सुखम् । तद्विपर्ययो दुःखम् ।  
योपि दायाभिलाषः कामः । कामितार्थविघात-  
जन्यो बुद्धिर्लोभः क्रोधः । लब्धस्य धनस्य  
त्यागासहिष्णुत्वं मोहः । हितेऽप्यहितबुद्धि-  
रहितेषु हितबुद्धिर्मोहः । चित्तगतसुखाभि-  
व्यञ्जिका सुखविकासादिहेतुर्धीर्ज्ञानदर्पः ।  
परकीयगुणेषु दोषत्वारोपणमस्मृया । देहेन्द्रि-  
यादिसङ्घातेऽवात्मभ्रमोऽहङ्कारः । आदिशब्दे-

न भोग्यवस्तुषु समकारमसीचीनत्वादियुद्ध-  
यांगृह्यन्ते । चकारो यथोक्तं निन्दादि वि-  
परीतं स्तुत्यादिकं समुच्चिनोति । एता-  
न्सर्वान्निन्दादीन् हित्वा पूर्वोक्तवासना-  
क्षयाभ्यासेन परित्यज्यावतिष्ठेतेति शेषः ॥

अर्थः—विरोधी पुरुषों को के आपे में दोषों के कथन का नाम 'निन्दा' है । 'मैं दूसरे से अधिक हूँ' इस प्रकार की चित्त की वृत्ति का नाम गर्व है । 'विद्याधनादि से मैं दूसरों के समान' होऊँ ऐसी बुद्धि को मत्सर जानो । अन्य के आगे जप ध्यान आदि प्रकट करना 'दम्भ' है । दूसरे के तिरस्कार करने में दृढ बुद्धि रखना यह दर्प कहा जाता है । धन आदिक की लालसा 'इच्छा' है । शत्रुवधादि विषयक बुद्धि को 'द्वेष' कहते हैं । धन आदि अनुकूल पदार्थ की प्राप्ति से बुद्धि की स्वस्थता का नाम सुख है । इस के उलटा होना दुःख है । स्त्री आदि की इच्छा का नाम काम है । इच्छित अर्थ के विघात से हुई बुद्धि के क्षोभ का नाम 'क्रोध' है । प्राप्त धन के त्याग को न सहसकना लोभ है । हित में अहित बुद्धि और अहित में हित बुद्धि 'मोह' है । चित्त में रहने वाले सुख को सूचित करनेवाली सुख के विकाम का हेतुरूप जो बुद्धि की वृत्ति है, वह हर्ष है । अन्य के गुणों में दोषों का आरोपण करना अस्मृया है । देह इन्द्रिय आदि के सङ्घात में, वह आत्मा है अर्थात् मैं हूँ ऐसी भ्रान्ति का नाम अहङ्कार है । आदि शब्द से भोग्य पदार्थों में मे गणत्व और उस में अणुता का भी त्याग समझो । चकारका प्रवृत्ति निन्दादि से विपरीत स्तुति आदि के प्रवृत्ति के लिये है । इन सब निन्दा आदि दोषों को वासनाक्षय के अभ्यास



द्वारा त्याग कर रहे ।

ननु विद्यमाने स्वदेहे तत्परित्यागो न सम्भवतीत्याशङ्क्याऽऽह—

अर्थः—शंका,—जब तक शरीर है, उन का त्याग सम्भव नहीं ।

“स्ववपुः कुणपमिव दृश्यते यतस्तद्रपुरपध्वस्तम्,” इति ।

अर्थः—समाधान,—अपने शरीर को मुर्दे के समान देखना है, क्योंकि उस शरीर का ज्ञान होने पर नाश हो जाता है ।

पूर्वं यत्स्वकीयं वपुस्तदिदानीं योगिना स्वात्मचैतन्यात्पृथग्भूतत्वेन कुणपमिवावलोकयते । यथा श्रद्धालुः स्पर्शनभीत्या शवदेहं दूरे स्थितोऽवलोकयति तथाऽयं योगी तादात्म्यभ्रान्त्युदयभीत्या सावधानो देहं चिदात्मनः सकाशान्निरन्तरं विविनक्ति, यतः कारणान्तद्रपुराचार्योपदेशागमानुभवैरपध्वस्तं चिदात्मनः सकाशान्निराकृतम् । ततश्चैतन्यवियुक्तस्य देहस्य शवतुल्यतया दृश्यमानत्वात्सत्यपि देहे निन्दादित्यागो घटत इत्यभिप्रायः ॥

अर्थः—पूर्व में जिसको, यह मेरा शरीर है, ऐसा माना था, उस शरीर को ज्ञान होने पर योगी चैतन्य-स्वरूप आत्मा से अलग मुर्दे की नाई देखता है । जैसे कोई श्रद्धालु पुरुष छूने के डर से मुर्दे को दूर खड़ा हुआ देखता है, उसी भांति योगी भी शरीर के साथ ता-

दात्म्य की भ्रांति उदय के भय से देह का चिदात्मा से सदा विवेक किया करता है । क्योंकि वह शरीर श्री सद्गुरु के उपदेश से शास्त्र प्रमाण से, और अपने अनुमान से ही चैतन्य स्वरूप आत्मा से अलग कर लिया है । इसलिये चैतन्य रहित शरीर मुर्दे के समान योगी देखता है । अतएव देह रहने पर भी योगी को निन्दा का त्याग घटना है ।

ननूत्पन्नोदिग्भ्रमः सूर्योदयदर्शनेन विनष्टोऽपि यथा कदाचिदनुवर्तते तथा चिदात्मनि देहात्मत्वसंशयाद्यनुवृत्तौ निन्दादिक्लेशः पुनःपुनः प्रसज्येतेत्याशङ्क्याऽऽह—

अर्थः—जैसे उत्पन्न हुई दिशा की भ्रांति सूर्योदय होने पर यद्यपि हट जाती है पर तौ भी किसी समय फिर उदय को प्राप्त होती है । उसी प्रकार चैतन्य-स्वरूप आत्मा में फिर देह में आत्मापन का संशय आदि उत्पन्न होता है तो, निन्दादि क्लेश का प्रसंग बार-बार आवे, ऐसी शंका पैदा हो तो उसको निवारण के लिये कहते हैं किः—

“संशयविपरीतमिथ्याज्ञानानां यो हेतुस्तेन नित्यनिवृत्तः” इति ॥

आत्मा कर्तृत्वादिधर्मोपेतस्तद्रहितो वेत्यादिकं संशयज्ञानम् । देहादिरूप एवाऽऽत्मेति विपरीतज्ञानम् । एतदुभयं भोक्तृविषयम् । मिथ्याज्ञानं तु भोग्यविषयमत्र विवक्षितम् । तच्चाऽनेकविधं “संकल्पप्रभवान् कामान्” इत्यत्र स्पष्टीकृतम् । तद्धेतुश्चतुर्विधः ।

अर्थः—संशयज्ञान, विपरीतज्ञान, और मिथ्या ज्ञान के



जो हेतु हैं, वे योगी में से मदैव के लिये निवृत्त हो जाते हैं।

आत्मा कर्त्तापित आदि धर्मवाला हैं? या वह धर्मों में रहित है? इत्यादि संशयज्ञान का स्वरूप है। आत्मा देहादिस्पर्शी है, यह मिथ्याज्ञान का स्वरूप है। ये दोनों ज्ञान भोक्ता में करने हारे हैं। इस स्थल में मिथ्याज्ञान भोग्य सम्बन्धी समझना। यह मिथ्याज्ञान अनेक प्रकार का है (मंकल्पप०) इस श्लोक के व्याख्यान में स्पष्ट कहा है। संशय आदि ज्ञान का हेतु ४ प्रकार का श्रीपद्मअलिमुनि ने कहा है।

“अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसु-  
खात्मख्यातिरविद्या” इति

अनित्ये गिरिनदीसमुद्रादौ नित्यत्वभ्रान्ति-  
रेका। अशुचौ पुत्रभार्यादिशरीरे शुचित्व-  
भ्रान्तिर्द्वितीया। दुःखे कृषिवाणिज्यादौ  
सुखत्वभ्रान्तिस्तृतीया। गौणमिथ्यात्मनि  
पुत्रभार्यादावन्नमयादिकेऽनात्मनि मुख्या-  
त्मत्वभ्रान्तिश्चतुर्थी। एतेषां संशयादीनां  
हेतुरद्वितीयब्रह्मात्मतत्त्वावरकमज्ञानं तद्वास-  
ना च। तच्चज्ञानं योगिनः परमहंसस्य  
महावाक्यार्थबोधेन निवृत्तम्। वासना तु  
योगाभ्यासेन निवृत्ता। उदाहृतायां दिग्-  
भ्रान्तावज्ञाने निवृत्तेऽपि वासनायाः सद्-  
भावाद्यथापूर्वं भ्रान्तिव्यवहारः। योगिनस्तु  
भ्रान्तिहेतुद्वयराहित्यात् कुतः संशयादी-  
न्यनुवर्तेरन्। तमेवमनुवृत्त्यभावमभिप्रेत्य  
तेन हेतुद्वयेन योगी नित्यानन्द इत्युक्तम्।

सत्यामप्यज्ञानतद्वासनानिवृत्तेरुत्पत्तौ तस्या  
निवृत्तेर्दिनाशाभावान्नित्यत्वं द्रष्टव्यम्। त-  
न्नित्यत्वे हेतुमाह—

अर्थः—अनित्य, अशुचि, दुःख, और अनात्म पदार्थ में नित्य,  
शुचि, सुख, और आत्मापन की जो भ्रान्ति है—वह अविद्या है।

पर्वत, नदी, समुद्र, आदि, पदार्थ जो अनित्य है, उन में  
नित्यपन की भ्रान्ति करनी यह पहिली अविद्या है। स्त्री पुत्रा-  
दिकों के अशुचि शरीर में शुचिपन की भ्रान्ति होनी यह दु-  
सरी अविद्या है। दुःखरूप कृषि व्यापार आदि में सुखपन  
की भ्रान्ति यह तीसरी अविद्या है। और स्त्री पुत्रादिकों के  
शरीर जो गौण आत्मा है, वैसे ही अन्न का विकाररूप स्थूल  
शरीर जो मिथ्यात्मा है, उन दोनों में मुख्यात्म भ्रान्ति यह  
४ थी अविद्या है। पूर्वोक्त संशय आदिकों का कारण, अपने  
स्वरूप में अभिन्न ब्रह्म को आवरण करने वाला अज्ञान और  
उसकी वासना है। उस में अज्ञान तो महावाक्य के अर्थ के  
ज्ञान होने से नाश को प्राप्त हो जाता है। और वासना योगा-  
भ्यास से क्षीण हो जाती है। पहिले ही दिया हुआ दृष्टान्त  
रूप से दिशा की भ्रान्ति रूप अज्ञान, सूर्योदय में नाश को  
प्राप्त हो जाने पर भी उस की वासना बनी ही रहती है, उसने  
पुनः दिग्भ्रान्ति होती है। और योगी को तो भ्रान्ति के  
दोनों कारण नाश को प्राप्त होने से उस को संशय आदिक  
क्यों कर हों? होते ही नहीं। इस प्रकार संशय आदिक दो  
कारणों का अभाव होता है, इस अभिप्राय से ही ‘सदा  
संशय आदि का कारण रहित, ऐसा भ्रान्ति कहती है। यथापि  
योगी में अज्ञान तथा वासना की निवृत्ति उत्पन्न होती है,



तथापि उस निवृत्ति का नाश न हो इस लिये उन को सदा निवृत्ति का कथन किया है । संशय आदि के कारणों की निवृत्ति के निरूपण में कारण कहते हैं ।

“तन्नित्यत्वबोधः” इति ।

सर्वनामत्वात्प्रासङ्गार्थवाची तच्छब्दोऽत्र सर्व-  
वेदान्तप्रसिद्धं परमात्मानमाचष्टे । तस्मि-  
न्परमात्मनि नित्यो बोधो यस्य योगिनः सो  
ऽयं तन्नित्यबोधः । योगी हि—

“तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः”

इति श्रुतिमनुसृत्य चित्तविक्षेपान् योगेन  
परिहृत्य नैरन्तर्येण परमात्मविषयमेव प्रज्ञां  
करोति । अतो बोधस्य नित्यत्वाद्वोधविना-  
श्ययोरज्ञानतद्वासनयोर्निवृत्तिर्निश्चयेत्यर्थः ॥

बुध्यमानस्य परमात्मनस्तार्किकेश्वरवत्तदस्थ-  
त्वशङ्कां वारयति—

“तत्स्वयमेवावस्थितिः” इति ।

यद् वेदान्तवेद्यं परं ब्रह्मास्ति तत्स्वयमेव न  
तु स्वस्मादन्यदित्येवं निश्चित्य योगिनोऽव-  
स्थितिर्भवति ॥

तस्य योगिनो ब्रह्मानुभवप्रकारं दर्शयति —

अर्थः—‘उस परमात्मा का जिसको सदा ज्ञान है ।

ऐसा योगी पुरुष—धीर ब्रह्मविद् पुरुष उस परमात्मा का  
साक्षात्कार कर ब्रह्माकार बुद्धि को करे’—इस श्रुति के  
अनुसार योग द्वारा चित्त के विभेद का निरोध कर निरन्तर  
परमात्माकार बुद्धि करता है । इसीसे ज्ञान के निरूपण

के कारण ज्ञान द्वारा नाश होने वाला अज्ञान और इसकी  
ज्ञानता की निवृत्ति उस में नित्य है । अनुभव गम्य परमा-  
त्मस्वरूप तार्किक ईश्वर के समान तदस्थ होगा, ऐसी शंका  
का कारण कहते हैं—

वेदान्त से जानने योग्य जो परमात्मा का स्वरूप है, वह  
मैं स्वयं हूँ, मुझ से वह अलग नहीं । ऐसी निश्चय पूर्वक  
योगी की ब्रह्मविषयकस्थिति होती है ।

योगी को किस प्रकार से ब्रह्म का अनुभव होता है, सो  
बतलाते हैं ।

“तं शान्तमचलमद्वयानन्दविज्ञानघन एवा-  
स्मि तदेव मम परमं धाम,” इति ।

अर्थः—वह शान्त, अचल, अद्वितीय, आनन्द स्वरूप, वि-  
ज्ञान घन परमात्मा, मैं हूँ । वही मेरा वास्तविक स्वरूप है ।

तमित्यादिपदत्रये द्वितीया प्रथमार्थे द्रष्टव्या ।

यः परमात्मा शान्तः क्रोधादिविक्षेपरहितः

अचलोगमनादिक्रियारहितः, स्वगतसजा-

तीयविजातीयद्वैतशून्यः सच्चिदानन्दैकर-

सोऽस्ति स एवाऽहमस्मि । तदेव ब्रह्म-

तत्त्वं मम योगिनः परमधाम वास्तवं स्व-

रूपम् । न त्वेतत्कर्तृत्वभोक्तृत्वादियुक्त-

म् । एतस्य मायाकल्पितत्वात् ।

अर्थः—जो परमात्मा शान्त अर्थात् क्रोधादि विभेदरहित  
है, अचल अर्थात् गमनादिक्रियारहित है, सजातीय, विजातीय  
और स्वगत भेद रहित है, और अखण्ड सत् चित आनन्द स्व-  
रूप है, वही मैं हूँ । वह ब्रह्म स्वयं ही मैं हूँ, योगी का धाम



धाम अर्थात् वास्तविक स्वरूप है। कर्तापन, भोक्तापन, इत्यादि धर्मनाला मेरा स्वरूप नहीं, वह तो, माया कल्पित है।

नन्वात्मनः परब्रह्मत्व आनन्दावाप्तिरिदानीं  
कृतो नेत्यत्राऽऽनन्दावाप्तिः सदृष्टान्तमुक्ता-  
ऽभियुक्तः।

अर्थः—जो आनन्द स्वरूप होयतो, वह सदा सब में स्थित है, तब इस समय आनन्द की प्रतीति क्यों नहीं होती? ऐसी शङ्का का उत्तर विद्वानों ने दृष्टान्त सहित दिया है।

“गवां सर्पिः शरीरस्थं न करोत्यङ्गपोषणम् ।  
तदेव कर्म राचितं पुनस्तस्यैव भेषजम्” ॥  
एवं सर्वशरीरस्थः सर्पिवत् परमेश्वरः ।  
विना चोपासनं देवो न करोति हितं नृपु” इति ।  
यदि योगिनः पूर्वाश्रमप्रसिद्धा आचार्य-  
पितृभ्रात्रादयः कर्मिणः श्रद्धाजडाः शिखा-  
यज्ञोपवीतसन्ध्यावन्दनादिरादित्येन पाख-  
ण्डित्वमारोप्य व्यामोहयेयुस्तदा व्यामोहनि-  
वृत्तये योगिनां वर्त्तमानं निश्चयं दर्शयति ॥

अर्थः—जैसे घी गौ के शरीर में ही रहता, तौ भी वह उसके शरीर का पोषण नहीं करता, परन्तु वही क्रिया द्वारा बाहर निकाला जाता है तो, शरीर की पुष्टि का औषध स्वरूप होता है। तैसे परमात्मा देव, घी के समान शरीर में रहता है तथापि वह उपासना विना मनुष्य का हिता नहीं करता।

यदि योगी के पूर्वाश्रम के प्रसिद्ध गुरु, पिता, भाई, आदिक सम्बन्धीजन, कंठ और श्रद्धाजड़ वे शिखा, यज्ञोपवीत, सन्ध्यावन्दन आदि के अभाव के कारण उस में पाखण्डपन का

आरोप कर उसको व्यामोह उत्पन्न करे तो, उस व्यामोह की निवृत्ति के लिये योगी के वर्तमान निश्चय को दिखलाते हैं—

“तदेव च शिखा तदेवोपवीतं च परमा-  
त्मनोरेकत्वज्ञानेन तयोर्भेद एव विभग्नः  
सा संध्या” इति ।

अर्थः—वह ब्रह्म ही शिखा है, वही उपवीत है, और जी-  
वात्मा परमात्मा के अभेद से जो उनका भेद नाश होता,  
वही संध्या है।

यद्वेदान्तवेद्यस्य परब्रह्मणोज्ञानं तदेव कर्माङ्ग-  
भूतवाह्य शिखायज्ञोपवीतस्थानीयम् ।  
अन्ये च मन्त्रद्रव्यलक्षणे कर्माङ्गभूते चका-  
रात् समुचीयन्ते । शिखायज्ञसाध्यैः कर्मभि-  
रुत्पन्नं यत् स्वर्गादिषुखं तत्सर्वं ब्रह्मज्ञाने-  
नैव लभ्यते । विषयानन्दस्य सर्वस्य ब्रह्मानन्द-  
लेशत्वात् ।

“एतस्यैवाऽऽनन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रा-  
मुपजीवन्ति”

इति श्रुतेः । एतदेवाभिप्रेत्याऽऽथर्वणिका  
ब्रह्मोपनिषयामनन्ति—

अर्थः—वेदान्त से जानने योग्य परमात्मा का जो ज्ञान,  
वही कर्म के अङ्ग भूत बाहरी शिखा, यज्ञोपवीत, की जगह है।  
और अन्य मन्त्र द्रव्य लक्षण कर्माङ्गभूत का दो चकार से समु-  
च्चय होता है। शिखा आदिक अङ्गों से करने योग्य कर्मों  
से उत्पन्न हुए जो स्वर्ग आदि सुख हैं, वे सब ब्रह्म ज्ञान से ही  
प्राप्त होते हैं। क्योंकि सम्पूर्ण विषयानन्द ब्रह्मानन्द का लेश



सब द्वे, अग्नि अन्य प्राणिगण इसी ब्रह्मानन्द के लेश को भोगने हैं ऐसा कहती है । इसी अभिप्राय से अथर्ववेद के जानने वाले ब्रह्मोपनिषद् में कहते हैं ।

“सशिखं वपनं कृत्वा बहिः सूत्रं त्यजेत्पुनः ।  
यदक्षरं परं ब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत् ॥  
सूचनात् सूत्रमित्याहुः सूत्रं नाम परं पदम् ।  
तत्सूत्रं विहितं येन स विप्रो वेदपारगः ।  
येन सर्वमिदं प्रोक्तं सूत्रे मणिगणा इव ।  
तत्सूत्रं धारयेद्योगी योगवित्तरत्नदर्शिवान् ॥  
बहिः सूत्रं त्यजेद्विद्वान् योगमुत्तममाश्रितः ।  
ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेद्यः स चेतनः ॥  
धारणात्तस्य सूत्रस्य नोच्छिष्टोनाशुचिर्भवेत् ।  
सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम् ॥  
ते वै सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः ।  
ज्ञानशिखा ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः ॥  
ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमुच्यते ।  
अग्रेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा ॥  
स शिखीत्युच्यते विद्वान्नेतरे केशधारिणः ।  
कर्मण्यधिकृता ये तु वैदिके ब्राह्मणादयः ॥  
तैर्विधार्यमिदं सूत्रं कर्मभिः तद्धि वै स्मृतम् ।  
शिखा ज्ञानमयी यस्योपवीतश्चापि तन्मयम् ॥  
ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदोविदुः ।  
इदं यज्ञोपवीतं च परमं यत्परायणम् ॥  
विद्वान् यज्ञोपवीतीत्यात्तज्ज्ञास्तं याद्विज्वनं विदुः”  
इति ॥

अर्थः—शिखा सहित सौर करा के विद्वान् परमहंस बाह्य सूत्र का त्याग करे । जो नाश रहित पर ब्रह्म है, वह सूत्र है, इस लिये उस को धारण करे । वेदान्त शास्त्र सूचित करता है, इस लिये परम पद ( परमात्मा सूत्र है ) इस सूत्र को जिम ने जाना उसी ब्राह्मण ने वेद का पार पाया है । जिम तरह सूत्र में मणि गुथे हुए रहने वैसे ही सारा दृश्य जगत् जिम के द्वारा व्याप्त है, उस सूत्र को योगवित् और तत्त्व दर्शी पुरुष-धारण करे । उत्तम योग का आश्रम करने हारे विद्वान् को बाह्य यज्ञोपवीत त्यागना चाहिये । जो पुरुष ब्रह्म की सत्त्वरूप सूत्र को धारण करते वह ज्ञानवान् है । यह सूत्र धारण करने से पुरुष उच्छिष्ट या अशुचि नहीं होता जो ज्ञान रूपी यज्ञोपवीत वाले पुरुष के भीतर, उपर कहा हुआ सूत्र रहता वे जगत् में सूत्र को जानने हारे हैं, और वेही नित्यमिदं यज्ञोपवीत वाले हैं । जिन को ज्ञानरूप शिखा है, जो ज्ञान में ही निष्ठा-वाला है, तथा जिन को ज्ञानरूप यज्ञोपवीत है, उन्ही को परम पावन ज्ञान है ऐसा कहा है । जैसे अग्नि को अपने स्वरूप से अलग शिखा नहीं, तैसे जिस को ज्ञानरूप शिखा है, वही शिखा वाला कहलाता है, इतर केश को धारण करने हारा शिखा युक्त नहीं । जो ब्राह्मण आदि वर्ण वैदिक कर्म में अधिकारी है, उन्हे बाह्य सूत्र धारण करना चाहिये । क्योंकि वे कर्म के अङ्गभूत हैं । जिन को ज्ञान रूप शिखा है, और ज्ञान मय उपवीत है उनका ही सम्पूर्ण ब्राह्मणपन है, ऐसा वेद वेत्ता लोग कहते हैं । यह प्रसिद्ध, श्रेष्ठ और सब का उत्तम आश्रम रूप जो ब्रह्मरूप यज्ञोपवीत है, उस को आपे से अभिन्न जानता है, वह यज्ञोपवीत वाला है, और उस को ही ज्ञानी



छोग यह करने द्वारा कहते हैं ॥

तस्माद्योगिनः शिखायज्ञोपवीते विद्यन्ते ।  
तथैव सन्ध्याऽपि विद्यन्ते । यः शास्त्रगम्यः  
परमात्मा यश्चाहम्प्रत्ययगम्यो जीवात्मा तयो-  
रेकत्वज्ञानेन महावाक्यजन्येन भ्रान्तिप्रती-  
तो भेदो विशेषेण भग्न एव पुनर्भ्रान्त्यनु-  
दयो भङ्गस्य विशेषः । येयमेकत्वबुद्धिः सेव-  
मुभयोरालम्बनोः सन्धौ जायमानत्वात्संध्येत्यु-  
च्यते । अहोरात्रयोः सन्धावनुष्ठेया क्रिया  
यथा सन्ध्या तद्वत् । एवं च सति योगी श्र-  
द्धाजडैर्न व्यामोहयितुं शक्यः ।

कोऽयं मार्ग इति प्रश्नस्यासौ स्वपुत्रेत्यादि-  
दिनोत्तरमुक्तम् । का स्थितिरित्येतस्य महा-  
पुरुष इत्यादिना सङ्क्षिप्तोत्तरमुक्त्वा संशय-  
विपरितेयादिना तदेव प्रपञ्चयेदानीमुप-  
संहरति ।

अर्थः—जिस कामग योगी को शिखा और यज्ञोपवीत होता है । उसी प्रकार उस को सन्ध्या भी है । जो शास्त्रगम्य परमात्मा है तथा जो मैं ऐसा प्रतीति द्वारा गम्य जीवात्मा है, उन के अभेद को विनष्ट करने वाले महावाक्य से उत्पन्न ज्ञान करके भ्रान्ति से भाँति होने वाला विशेष रूपसे नष्ट होता है फिर से उदय को नहीं प्राप्त होता यही नाशमे विशेष है । इस भाँति दोनों का अभेद ज्ञान जीवात्मा परमात्मा की सन्धि में होता है । इसलिये वह योगी की सन्ध्या कही जाती है । जैसे रात दिन की सन्धि में करने योग्य क्रिया सन्ध्या

कहलाती, उसी भाँति अरोंक्ष ज्ञान भी जीवात्मा और परमात्मा की सन्धि में होता है । इसलिये वह भी परमहंस की सन्ध्या ही समझी जाती है । इस प्रकार विचार करने द्वारा योगी को श्रद्धाजड पुरुष व्यामोह उत्पन्न नहीं कर सकता । परमहंस का कौन मार्ग है ? उस का उत्तर 'स्वपुत्रः' इत्यादि श्रुति द्वारा दिया है । उस के बाद उस की स्थिति कैसी होगी है ? इस का उत्तर 'महापुरुषः' इत्यादि वचन से संक्षेप में देकर और 'संशयः' इत्यादि वचन से उसका विचार से उत्तर दिया, अब उपसंहार करते हैं—

“सर्वान्कामान् परित्यज्य अद्वैते परमे स्थि-  
तिः” इति ।

अर्थः—सब कामनाओं का परित्याग कर योगी परमहंस की परम अद्वैत में स्थिति होती है ।

क्रोधलोभादीनां कामपूर्वकत्वात्कालपरिजित्या-  
गेन चित्तदोषाः सर्वेऽपि परित्यज्यन्ते ।  
एतदेवाभिप्रेत्य वाजसनेयिभिर्वाक्येनात्मनः—

अर्थः—क्रोध आदिकों की उत्पत्ति भी काम से ही है, इसलिये काम के परित्याग द्वारा चित्त के सब दोषों का त्याग समझना इसी अभिप्राय से वाजसनेयी शास्त्रा वाले कहते हैं—

“अथो खल्व्वाहुः काममय एवायं पुरुषः” इति ।

अतो निष्कामस्य योगिचित्तस्याऽद्वैते निश्चि-  
द्वता स्थितिरुपपद्यते ॥

अर्थः—और यह पुरुष निश्चय काम मय ही है—इस-  
लिये निष्काम योगी के चित्त की अद्वैत ब्रह्म में निश्चित स्थिति  
पड़ती है ॥



ननु दण्डग्रहणविधिवासनयोपेता विवि-  
दिपासंन्यासिनो योगिनं दण्डराहितं परम-  
हंसं नाभ्युपगच्छन्तीत्याशङ्क्याऽऽह—

अर्थः—दण्ड ग्रहण की विधि की वासना से युक्त विवि-  
दिपा संन्यासी दण्ड रहित योगी को परमहंस नहीं मानते, ऐसी  
शंका के उत्तर में कहते हैं—

“ज्ञानदण्डो धृतो येन एकदण्डी स उच्यते ।  
काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वांशं ज्ञानवर्जितः ॥  
स गतिं नरकान् घोरान् महारौरवसंज्ञितान् ।  
तितिक्षाज्ञानवैराग्यशमादिगुणवर्जितः ॥  
भिक्षामात्रेण यो जीवेत् स पापी यतिवृत्तिहा ।  
इदमन्तरं ज्ञात्वा स परमहंसः” इति ॥

अर्थः—जिस ने ज्ञान दण्ड धारण किया है, वह एक दण्डी  
कहलाता है । जो काष्ठ का दण्ड धारण कर सब का अन्न  
खाता, और ज्ञान रहित है, वह संन्यासी महा रौरव नामक  
घोर नरक में जाता है । तितिक्षा, ज्ञान, वैराग्य, और शमादि  
गुण रहित जो संन्यासी केवल भिक्षा मांगकर जीवे वह,  
पापी संन्यासियों का स्वरूप भंग करने वाला है । इस भांति  
एक दण्डी, और दण्ड रहित योगी पुरुषों में अन्तर समझ कर  
योगी पुरुष को ही परमहंस कहना ठीक है ।

परमहंसस्य योऽयमेकदण्डः स द्विविधः ।  
ज्ञानदण्डः काष्ठदण्डश्च । यथा त्रिदण्डिनो-  
वाग्दण्डो मनोदण्डः कायदण्डश्चेति त्रैवि-  
ध्यम् । वाग्दण्डादयो मनुना स्मर्यन्ते—

अर्थः—परमहंस का एक दण्ड दो प्रकार का है—एक

काष्ठ का दण्ड दूसरा ज्ञान रूपी दण्ड । जैसे त्रिदण्डी संन्या-  
सी को काष्ठ के दण्ड के विषय वाग्दण्ड, मनोदण्ड, और  
काय दण्ड हैं, तैसे परमहंस को ज्ञान दण्ड है । वाग्दण्डादि  
तीन दण्ड मनुभगवान् कहते हैं—

“वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कर्मदण्डस्तथैव च ।  
यस्यैते नियता बुद्धौ स त्रिदण्डीति चाच्यते ॥  
त्रिदण्डमेतन्निक्षिप्य सर्वभूतेषु मानवः ।  
कामक्रोधौ तु संयम्य ततः सिद्धिं निगच्छति ॥  
तेषां स्वरूपं दक्षः स्मरति—

अर्थः—वाणी, मन और शरीर को दण्ड के समान प-  
कड़ के वश में रखने से संन्यासी त्रिदण्डी कहलाता है ।  
मनुष्य सब प्राणियों में इन तीन दण्डों को रखने के काम क्रोध  
को नियम से रखे, तब वह सिद्धि को पाता है । इनके स्वरूप  
को दक्षस्मृति कहती हैः—

“वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कर्मदण्डस्तथैव च ।  
यस्यैते नियता दण्डास्त्रिदण्डीति स उच्यते ॥  
वाग्दण्डे मौनमातिष्ठेत्कर्मदण्डे त्वनीहताम् ।  
मानसस्य तु दण्डस्य प्राणायानो विधीयते”  
इति ।

अर्थः—वाग्दण्ड, मनोदण्ड, और कर्मदण्ड इन तीन  
दण्डों को जिस ने नियम से वश में कर रक्खा है, वे त्रिदण्डी  
कहलाते हैं । वाग्दण्ड में मौन धारण करना, कर्मदण्ड में क्रिया  
रहित होना, और मनोदण्ड के बरतें प्राणायाम करना ।

“कर्मदण्डोऽल्पभोजनम्” इति स्मृत्यन्तर-  
पाठः । ईदृशं त्रिदण्डित्वं परमहंसस्याप्यस्ति ।



तदेतदभिप्रेत्य पितामहः स्मरति—

अर्थः—'थोडा भोजन करना, यह कर्मदण्ड है' ऐसा अन्य स्मृति में पाठ है । ऐसा त्रिदण्डी होना परमहंस का भी है । इसी अभिप्राय से श्री ब्रह्मा कहते हैंः—

“यतिः परमहंसस्तु तुर्गाख्यः श्रुतिचोदितः ।

यमनियमयुक्तो विष्णुरूपी त्रिदण्डभृत्” इति ।

अर्थः—परमहंस संन्यासी को श्रुति ने तुर्ग—इस नाम से कथन किया है । यम नियम युक्त और वाग्दण्ड आदि तीन दण्ड धारण करने वाले यति विष्णुरूप हैं ।

एवं साति मौनादीनां वागादिदमनहेतुत्वा-  
यमा दण्डत्वं तथेवाज्ञानतत्कार्यदमनहेतां ज्ञा-  
नस्य दण्डत्वम् । अयं ज्ञानदण्डो येन परमहं-  
सेन धृतः स एव मुख्य एकदण्डीत्युच्यते ।  
मानसस्य ज्ञानदण्डस्य कदाचिच्चित्तविक्षेपेण  
विस्मृतिः प्रसज्येतेति तस्मिन्वारणार्थं स्मारकः  
काष्ठदण्डोऽभिप्रेत्यते । तदेतच्छास्त्रार्थरहस्यम-  
बुद्धा वेपमात्रेण पुरुषार्थसिद्धिमभिप्रेत्य काष्ठ-  
दण्डो येन परमहंसेन धृतः स पुरुषो बहुविध-  
सन्तापोपेतत्वाद्भारान्महारौरवसंज्ञकान्न-  
रकानामिति । तत्र हेतुरुच्यते । परमहंसवेपं  
दृष्ट्वा ज्ञानित्वभ्रान्त्या सर्वे जनाः स्वस्वगृहे  
भोजयन्ति । स्वयं च जिह्वालम्पटोवर्ज्यावर्ज्य-  
विवेकनश्रुत्वा सर्वमन्नमश्नानि तेन प्रत्यवायं  
प्राप्नोत्यज्ञानी । यानि तु “नाशदोषेण भस्का-  
रीति” “चातुर्वर्ण्यं चरैरैक्यम्” इत्यादि स्मृ-

तिवचनानि ज्ञानिविषयाणि । अयं च ज्ञानव-  
र्जित इति युक्तोऽस्य नरकः । अत एव  
ज्ञानहीनस्य यतेर्भिन्नानियममाह मनुः ।

अर्थः—ऐसा है इस लिये जैसे मन आदि, वाणी आदि  
के दमन का कारण होने से दण्डरूप है, वैसेही ज्ञान भी अ-  
ज्ञान और उस के कार्य को दमन करने वाला होने से दण्ड-  
रूप है । यह ज्ञान दण्ड जिस परमहंस ने धारण किया है  
वही मुख्य एक दण्डी कहलाता है । मानस दण्ड का किसी  
समय चित्त के विक्षेप द्वारा निस्सारण होने का प्रसङ्ग आ पड़े  
तो, उस के स्मरण के लिये स्मारक चिन्हरूप से काष्ठ दण्ड  
धारण किया जाता है । इस भ्रान्ति शास्त्र के तात्पर्य समझे बिना  
केवल वेप मात्र से जिम्मे काष्ठ का दण्ड धारण किया हो यह  
परमहंस अनेक प्रकार के सन्ताप युक्त होने से घोर महारौरव  
नामक नरक में जाता है ।

नरक प्राप्ति का कारण यह है कि केवल परमहंस का वेप  
देख कर सब लोग 'यह ज्ञानी होगा' ऐसी भ्रान्ति से उस को  
अपने २ घर भोजन कराते और वह स्वयं भी जिह्वा इस में  
लम्पट होने से वर्ज्य अवर्ज्य के विवेक को त्याग कर खाता  
है, उस में वह अज्ञानी वेपधारी परमहंस पापी होता है । 'सं-  
न्यासी को अन्न का दोष नहीं लगता' और 'संन्यासी चारो-  
वर्णों की भिक्षा ग्रहण करे' इत्यादि स्मृति वाक्य ज्ञानवान् 'सं-  
न्यासी के नियम में हैं, अज्ञानी संन्यासी भक्ष्य अभक्ष्य का-  
विवेक त्यागने से नरक का ही अधिकारी है । जिस को ज्ञान  
प्राप्त नहीं हुआ वैसे संन्यासी के लिये मनु जी भिक्षा  
का नियम करने हैं—



“न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया ।  
नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सत कर्हि चित्” ॥  
एककालं चरेद् भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे ।  
भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जते” इति ॥  
ज्ञानाभ्यासिनं प्रति त्वेवं स्मर्यते—

अर्थः—उत्पात के कथन द्वारा शुभाशुभ निमित्त के सूचन द्वारा, नक्षत्र विद्या द्वारा, सामुद्रिक द्वारा, उपदेश द्वारा, वाद करके, किसी समय संन्यासी भिक्षा मिलने की इच्छा नहीं रखे । एक ही समय भीख लेवे, अधिक भिक्षा में आसक्त न हो । क्योंकि जो यति भिक्षा में प्रीति वाला होता है, तो, वह विषयों में भी आसक्त हो जाता है । ज्ञानाभ्यासी परमहंस के लिये इस भांति स्मृति कहती है ।

“एकवारं द्विवारं वा भुञ्जीत परमहंसकः ।  
येन केन प्रकारेण ज्ञानाभ्यासो भवेत्सदा” इति ।  
एवं च सति ज्ञानदण्डकाष्ठदण्डयोर्यदन्तरमुत्त-  
मत्वाधमत्त्वरूपं तदिदमवगत्योत्तमं ज्ञानद-  
ण्डं यो धारयति स एव मुख्यः परमहंस इत्य-  
भ्युपगन्तव्यम् ।

अर्थः—परमहंस संन्यासी एक वार या दो वार भोजन करे । सब तरह से वह ज्ञानाभ्यास ही में तत्पर रहे ।

इस भांति ज्ञान दण्ड की उत्तमता और काष्ठ दण्ड की अधमता समझ के जो ज्ञान दण्ड धारण करना है वही मुख्य परमहंस है ऐसा मानना चाहिये ।

नन्वस्वाभिज्ञस्य परमहंसस्य ज्ञानदण्डो, मा-  
भूत् काष्ठदण्डनिर्यन्धः, इतरा तु चर्या सर्वा-

कीदृशीत्याशङ्क्याऽऽह ।

अर्थः—ज्ञानवान् परमहंस को ज्ञान दण्ड रहे, उसको काष्ठ दण्ड के लिये आग्रह न हो, परन्तु बाकी उस की चर्या ( व-  
र्त्ताव ) कैसी होती है ? ऐसी शङ्का के उत्तर में कहते हैं ।

“आशाम्बरो निर्नमस्कारो न स्वधाकारो न  
निन्दास्तुतिर्यादृच्छिको भवेद्भिक्षुर्नाऽऽवाहनं  
न विसर्जनं न मन्त्रं न ध्यानं नोपास-  
नं न लक्ष्यं नालक्ष्यं न पृथक् नापृथक् न चाहं  
न त्वं न सर्वं चानिकेतस्थितिरेव स भिक्षुः  
सौवर्णादीनां नैव परिग्रहेत् तल्लोकं नावलोक-  
येच्च” इति ।

आशा दिशस्ता एवाम्बरं वस्त्रमाच्छादनं य-  
स्यासावाशाम्बरः । यत्तु स्मृतिवचनम् ।

अर्थः—दिशा रूपी वस्त्र धारण करने हारा, नमस्कार र-  
हित, निन्दास्तुति रहित, सब व्यवहारों में आग्रह रहित, संन्यासी  
होवे । देवता आवाहन, विसर्जन, मन्त्रजप, ध्यान, और उपा-  
सना आदि उसे न करना चाहिये । उस को लक्ष्यार्थ, अलक्ष्यार्-  
थ, पृथक्, अपृथक्, मैं, तू, सर्व, इत्यादि कोई विकल्प नहीं ।  
उस को एक जगह मुकाम न करना चाहिये, सुवर्णादि ग्रहण  
न करे, और सुवर्णादि उसी प्रकार शिष्य आदि के सामने भी  
अवलोकन न करे ।

‘आशा’ अर्थात् दिशारूपी वस्त्र धारण करने वाले योगी  
‘आशाम्बरधर’ या ‘दिगम्बर’ कहलाते हैं ।

“जान्वोरुर्ध्वमधोनाभेः परिधायैकमम्बरम् ।  
द्वितीयमुत्तरं वासः परिधाय गृहानयेत्” इति ।



अर्थ:—घुटने के उपर और नाभि के नीचे एक वस्त्र धारण कर और उपर दूसरा वस्त्र धारण कर यदि घर २ भीख मांगने को जावे ।

यह स्मृति वाक्य, जो संन्यासी योगी नहीं, उसके लिये समझना । वैसाही—

“योनवेत्पूर्वसंन्यासी तुल्यो वै धर्मतो यदि ।

तस्मै प्रणामः कर्त्तव्यो नेतराय कदाचन” इति ॥

अर्थ:—जिम्ने अपनी अपेक्षा प्रथम संन्यास ग्रहण किया हो, और धर्म में अपने समान होय उस संन्यासी को प्रणाम करे, इतर संन्यासी को किसी समय नहीं प्रणाम करे ।

तस्याप्ययोगिविषयत्वान्नास्य नमस्कारः कर्त्तव्योऽस्ति । अत एव ब्राह्मणलक्षणे

“निर्नमस्कारमस्तुतिम्” इत्युदाहृतम् । गया-प्रयागतीर्थेषु श्रद्धाजाड्यात्प्राप्तः स्वधाकारो निषिध्यते, पूर्वत्र निन्दागर्वत्यादिवाक्येन

परकृतया स्वनिन्दया क्लेशोनिवारितः, अत्र तु स्वकर्त्तृकेऽन्यविषये निन्दास्तुती निषिध्यते । यादृच्छिकत्वं निर्बन्धराहित्यम् । न

कचिदपि व्यवहारे निर्बन्धं कुर्यात् । यस्तु देवपूजायां निर्बन्धः स्मर्यते—

अर्थ:—यह वचन भी अयोगी संन्यासी के लिये है । योगी संन्यासी किसी को नमस्कार न करे । इसी लिये पहिले ब्राह्मण लक्षण के वर्णन में ‘नमस्कार और स्तुति रहित’ ऐसा कथन कर आये हैं । गया, प्रयाग आदिक तीर्थों में जाकर अतिशय श्रद्धा वशतः प्राप्त हुए श्राद्ध का भी उस को निषेध

है । पूर्व में ‘निन्दा गर्व’ इत्यादि वाक्य से, अन्य द्वारा कियी हुई अपनी निन्दा से हुए क्लेश का वारण किया और यहां तो आपे से दूसरी की निन्दा और स्तुति का निषेध करना है । कोई भी व्यवहार उस को आग्रह पूर्वक न करना चाहिये ।

“भिक्षाटनं जपः शौचं स्नानं ध्यानं सुरार्चनम् ।

कर्त्तव्यानि पडेनानि सर्वथा नृपदगडवत्” इति ॥

अर्थ:—भिक्षाटन करना, जप, शौच, स्नान, ध्यान, और देव पूजन, ये छः कर्म संन्यासी, राजदण्ड के समान सर्वथा करे ।

तस्याप्ययोगिविषयत्वमभिप्रेत्य नाऽऽवाह-  
नमित्याम्नातम् । सकृत्स्मरणं ध्यानम्,  
नैरन्तर्येणानुस्मरणमुपासनमिति तयोर्भेदः ।

यथा योगिनः स्तुतिनिन्दालौकिकव्यवहा-  
राभावः, यथा वा देवपूजादिधर्मशास्त्रव्य-  
वहाराभावः, तथा लक्ष्यत्वादिज्ञानशास्त्र-  
व्यवहारोऽपि नास्ति । यत्साक्षिचैतन्यमस्ति

तदिदं तत्त्वमसीति वाक्ये त्वंपदेन लक्ष्यं  
देहादिविशिष्टं चैतन्यं लक्ष्यं न भवति, किं  
तु वाच्यम् । तच्च वाच्यं तत्पदार्थावपृथ-  
क्, लक्ष्यं त्वपृथक् । स्वदेहनिष्ठो वाच्योऽर्थो-

ऽहमिति व्यवहारार्हः । परदेहनिष्ठस्त्वमिति  
व्यवहारार्हः । लक्ष्यं वाच्यमित्युभयविधं चैत-  
न्योपेतमन्यज्जडं जगत्सर्वमिति व्यवहारार्ह-

मित्येतादृशोविकल्पो न कोऽपि योगिनोऽस्ति,  
तदीयचित्तस्य ब्रह्मणि विश्रान्तत्वात् । अत  
एव स भिक्षुरनिकृतस्थितिरेव । यदि निष-



कतिनात्मनि प्रविश्यते सत्त्वादेवेनदानीं न-  
स्मिन्ममत्वे सति तदीयदानिष्टव्यांश्चित्तं वि-  
शिष्येत । तदेवानभिप्रेत्य गौडपादाचार्या  
आहुः ।

अर्थः—इस भांति स्मृति में देव पूजन में आग्रह बतलाया  
है, वह भी योगी के लिये नहीं । इसी अभिप्राय में 'नावाहनं'  
इत्यादि श्रुति ने कथन किया है । एकवार स्मरण करने का  
नाम 'ध्यान' और निरन्तर स्मरण करने का नाम 'उपासना'  
है, यही ध्यान और उपासना में भेद है । जैसे योगी को स्तुति  
आदिक लौकिक व्यवहार नहीं होते और जैसे देव पूजा आदि  
वर्णशास्त्र सम्बन्धी व्यवहार नहीं होते तैसे लक्ष्यत्व आदि ज्ञान  
शास्त्र का व्यवहार भी उस को नहीं होता । सो इस भांति  
जो मात्मा चैतन्य है, वह "तत्त्वमसि" इस महावाक्य में 'त्वं' पद  
द्वारा लक्ष्य है, देहादि उपाधि युक्त चैतन्य 'त्वं' पद का लक्ष्य  
अर्थ नहीं है, परन्तु वह 'त्वं' पद का वाच्य अर्थ है । वह वा-  
च्य अर्थ तत्त्व पद के अर्थ से अलग है, लक्ष्य अर्थ पृथक् नहीं ।  
अपने देह में स्थित वाच्य अर्थ 'अहं' (मैं) ऐसे पद द्वारा व्य-  
वहार करना योग्य है । तथा अन्य देह में स्थित वाच्य अर्थ  
'त्वं' (तु) ऐसे पद से व्यवहार करना योग्य है । लक्ष्य तथा  
वाच्य इन दो प्रकार के चैतन्य सहित अन्य जड़ जगत् 'मयं'  
ऐसा व्यवहार करना योग्य है । इस प्रकार का कोई भी वि-  
कल्प योगी को दुःखा नहीं क्योंकि उस का चित्त ब्रह्म में वि-  
श्राम को प्राप्त होता है । इस लिये वह संन्यासी एक जगत् वास  
नहीं करता । क्योंकि जो एक ही जगत् में वास करने के लिये  
वह कोई पट बान्धे तो, उस में पक्ष्म बन्धन से जो उस की

हानि या बाँध होती होय तो, उस का चित्त विशेष को  
प्राप्त हो । इसी अभिप्राय में गौडपादाचार्य कहते हैं—

"निस्तुतिर्निर्नमस्कारोनिःस्वधाकार एव च ।

चलाचलनिकेतश्च यतियौहच्छिको भवेत्" इति ।

यथा मटो न परिग्रहातव्यस्तथा सौवर्णराज-  
तार्दीनां मिश्राचमनादिपात्राणामेकमपि न  
गृह्णीयात् । तदाह यमः—

अर्थः—किमी की भी स्तुति या नमस्कार करने में प्रवृ-  
त्ति नहीं, आहु न करने हान, जर्जर और अन्धा रूप पर-  
वाला, और आग्रह सहित संन्यासी को होना चाहिये ।

जैसे मट न बान्धे, तैसे सोना रूप की पिशा या आचम-  
नादि के पात्र में से एक भी उस को न रखना चाहिये । यम  
स्मृति में भी ऐसा ही कहा है—

"हिरण्यमयानि कृष्णावसमयानि च ।

वर्तानां नान्यपात्राणि वर्जयेत्तानि मिश्रुकः" इति ।  
मनुर्गप—

अर्थः—सोने का पात्र, लोहे का पात्र इत्यादि अन्य पात्र  
यति को रखने योग्य नहीं । इस लिये मिश्रु उन का त्यागकरे ।  
मनुजी भी ऐसा ही कहते हैं—

"अनैजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निव्रेणानि च ।

तेषां मृदाभिः स्मृतं शौचं चमसानामिवाध्वरे ॥

अलावुदारुपात्रं वा मृन्मयं वैणवं तथा ।

एतानि यतिपात्राणि मनुः स्थापयितुं शक्नोति" इति

बोधायनोऽपि—

अर्थः—संन्यासी के लिये धातु के पात्र न हों, और दूरे



पूरे या छिड़वाले भी न हो, जैसे गङ्गा के चमस पात्र की शुद्धि मट्टी से होती, उसी तरह संन्यासियों के पात्रों की भी शुद्धि होती है। तुम्ही का पात्र, काट का पात्र, माटी का पात्र और वांस का पात्र इतने यतियों के पात्र होते हैं, स्वायंभव मनुजी ने कहा है।

वौधायन भी ऐसा ही कहते हैं—

“स्वयमाहृतपर्णेषु स्वयंशीर्णेषु वा पुनः ।

भुञ्जीत न वटाश्चत्थकरंजानां च पर्णके ॥

आपद्यपि न कांस्येण मलाशी कांस्यभोजनः ।

सौवर्णे राजते ताञ्जे मृन्मये त्रपुसीसयोः” इति ।

तथा लोकं जनं शिष्यवर्गं न गृह्णीयात् ।

तदाह मनुः—

अर्थः—स्वयं लाये हुए या स्वयं गिरे पड़े पत्तों पर यति भोजन करें। तो भी बड, पीपल, और करंज, के पत्ते पर भोजन न करें। आपत्काल में भी कांस्य पात्र में भोजन न करें, क्योंकि कांस्य पात्र में भोजन करने द्वारा यती मल का भोजन करने वाला है। वैसे सोना, रूपा और तामे के पात्र में उसी तरह माटी का कलाई या सीसा के पात्र में भोजन न करे।

संन्यासी, लोक यानी शिष्यों का भी संग्रह न करे इस सम्बन्ध में मनुजी बोलते हैं।

“एक एवचरेत् नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायकः ।

सिद्धिमेकस्य पश्यन् हि तज्जहाति न हीयते”

इति ।

मेधातिथिरपि—

अर्थः—अकेला की सिद्धि देख कर मोक्ष के लिये नाकर

आदिक की सहायता बिना ही यती नित्य अकेला विचरे वह किसी का त्याग नहीं करता और न उसे लोग सांगते।

मेधातिथि भी कहते हैं—

“आसनं पात्रलोभश्च संचयः शिष्यसंग्रहः ।

दिवा स्वापो वृथाऽऽलापोयतेर्वन्धकराणि पद ॥

एकाहात्परतोग्रामे पञ्चाहात्परतः पुरे ।

वर्षाभ्योऽन्यत्र यत्स्थानमासनं तदुदाहृतम् ।

उक्तालाब्वादिपात्राणामेकस्यापि न सङ्ग्रहः ।

भिक्षोर्भेक्षभुजश्चापि पात्रलोभः स उच्यते ॥

गृहीतस्य तु दण्डादोर्द्ध्वीयस्य परिग्रहः ।

कालान्तरोपभोगार्थं संचयः परिकीर्तितः ॥

शुश्रूषालाभपूजार्थं यशोऽर्थं वा परिग्रहः ।

शिष्याणां न तु कारुण्यात्स ज्ञेयः शिष्यसंग्रहः ॥

विद्या दिनं प्रकाशत्वादविद्या रात्रिरुच्यते ।

विद्याभ्यासे प्रमादो यः स दिवास्वाप उच्यते ॥

आध्यात्मिकीं कथां मुक्त्वा भैक्षचर्यां सुरस्तुतिः ।

अनुग्रहात्पथिप्रश्नो वृथाऽऽलापः स उच्यते” इति ॥

अर्थः—आसन, पात्र का लोभ, संचय, शिष्य का संग्रह, दिन का सोना, व्यर्थ बकना, ये छः संन्यासियों को बन्धन करने वाले वस्तु हैं। गांव में एक दिन वास करे शहर में पांच दिन, रहे, और चातुर्मास के सिवाय एक जगह मुकाम करें इस को आसन कहते हैं। भिक्षान्न का भोजन करने वाला यति उक्त तुम्बरी आदि पात्रों में से एक एक का भी संग्रह न करे, वह पात्र लोभ कहलाता है। दण्ड आदिक जो अपने पास हो, उस से विशेष आगे काम में आवेगा इस विचार से ग्र-



हण करना उस का नाम संचय है। अपनी सेवा के लिये, लाभ के लिये, पूजा के लिये, यश के लिये, या दया वशतः भी शिष्यों को साथ रखना 'शिष्य संग्रह' जानो। प्रकाश रूप होने से विद्या का नाम दिन और अन्धकार गय होने से अविद्या का नाम रात्रि है, इस लिये विद्या में जो प्रमाद रखे उस का दिन में शयन कहते हैं। अध्यात्म शास्त्र की कथा में, भिक्षा मांगने समय, या देवता की स्तुति करते समय जो आवश्यक बोलना पड़े उस के सिवाय रास्ते में जो सामने मनुष्य आवे हों उन पर अनुग्रह कर उसी का कुशल प्रश्न पूछना वृथा भाषण है।

लोकं शिष्यजनरूपं न गृहीयादित्येतावदेव न भवति, किन्तु तस्य लोकस्यावलोकं दर्शनमपि न कुर्यात्। तस्य बन्धहेतुत्वात्। न चेत्यनेनान्यदपि स्मृतिनिषिद्धं न कुर्यादित्यभिप्रेतम्। तच्च निषिद्धं मेधातिथिर्दर्शयति—

अर्थः—शिष्य का संग्रह न करे ऐसा ही नहीं किन्तु उन का अवलोकन भी न करे। श्रुति में 'न च' यों च कारका ग्रहण किया है, इस लिये स्मृति के निषेध करने में अतिरिक्त अन्य वस्तु का भी त्याग करो ऐसा समझना चाहिये। निषिद्ध वस्तु मेधातिथि दिखलाते हैं—

“स्थावरं जङ्गमं बीजं तैजसं विषमायुधम्।

पडेतानि न गृहीयाद्यातिर्भूत्रपुरीषवत्।

रसायनं क्रियावादं उद्योगं क्रयविक्रयम्।

विविधानि च शिल्पानि वर्जयेत्परदण्डवत्” इति।

अर्थः—स्थावर, जङ्गम, बीज, तैजस पदार्थ, विष, और

शस्त्र इन लः वस्तुओं को यति मृत्र और पुरीष के समान ग्रहण न करे। रसायन, कर्म सम्बन्धी बात, ज्योतिष, अर्थात् किसी ग्रह आदिक को देखना, क्रय विक्रय और विविध कारीगरी, इतनी वस्तुओं को परायी स्त्री के समान त्याग देने।

योगिनो लौकिकवैदिकव्यवहारगतानि या-  
नि बाधकानि सन्ति तेषां वर्जनमभिहितम्।  
अथ प्रश्नोत्तराभ्यामत्यन्तबाधकं प्रदर्श्य  
तद्वर्जनमाह।

अर्थः—योगी को लौकिक उसी तरह वैदिक व्यवहार में जो बाधक वस्तु हैं, उन के त्याग का कथन किया है, अब प्रश्नोत्तर द्वारा अत्यन्त बाधक वस्तुओं को देखा कर उन का त्याग कहते हैं—

“आबाधकः क इति चेदाबाधकोऽस्त्येव।  
यस्माद्भिक्षुर्हिरण्यं रसेन दृष्टं चेतस्रब्रह्महा  
भवेत्। यस्माद्भिक्षुर्हिरण्यं रसेन स्पृष्टं चेतस्र  
पौलकसो भवेत्। यस्माद्भिक्षुर्हिरण्यं रसे-  
न ग्राह्यं चेतस्र आत्महा भवेत्। तस्माद्-  
भिक्षुर्हिरण्यं रसेन न दृष्टं च न स्पृष्टं च न  
ग्राह्यं च” इति।

अर्थः—यति को असन्त बाध करने वाला क्या पदार्थ हैं?—उत्तर,—उस को असन्त बाध करने वाली वस्तु है, क्योंकि यदि वह सुवर्ण को प्रीति पूर्वक देखे, तो वह ब्रह्महत्या करने वाला होता, और जो सुवर्ण को प्रीति पूर्वक छूने तो, वह चाण्डाल होता, और भिक्षु जो सुवर्ण को प्रीति से ग्रहण करता तो, वह आत्मा को हनन करने वाला होता है। इस लिये



संन्यासी सुवर्ण को प्रीति से न देखे प्रीति से उस का स्पर्श न करे और प्रीति पूर्वक उस को ग्रहण भी न करे ।

आकारोऽभिव्याप्त्यर्थः “आङ्गीषदर्थेऽभिव्याप्तौ” इत्याभिहितत्वात् । अभिव्याप्तो बाधकोऽत्यन्तबाधकस्तस्य सद्भावं प्रतिज्ञाय हिरण्यस्य तथाविधबाधकत्वमुच्यते । रसेनाभिलाषयुक्तेनाऽऽदरेण हिरण्यं यदि दृष्टं स्यात्तदानीं स द्रष्टा भिक्षुर्ब्रह्महा भवेत् । हिरण्यासक्त्या तत्सम्पादनरक्षणयोः सर्वदा प्रयतमानस्तद्वैयर्थ्यपरिहाराय प्रपञ्चमिथ्यात्वप्रतिपादकान् वेदान्तान् दूषयित्वा तत्सत्यत्वमवलम्बते । ततः शास्त्रसिद्धमद्वितीयं ब्रह्म तेन भिक्षुणा हतमिव भवति । तस्मादसौ ब्रह्महा भवेत् । तथा च स्मर्यते ।

अर्थः—‘याति ही को अत्यन्त बाधक है, ऐसी प्रतिज्ञा कर सुवर्ण को अत्यन्त बाधक कहा है । याति जो सुवर्ण को इच्छा पूर्वक आदर सहित देखे तो वह ब्रह्म हत्या करने वाला होता है । क्योंकि सुवर्ण में आसक्ति होने से उस को मिलने और रक्षा करने के लिये सदा यत्न करता याति, सुवर्ण का व्यर्थ पन को हटाने के लिये, संसार के मिथ्यापन को प्रतिपादन करने वाले वेदान्त वाक्यों को दूषण देकर, उस के सत्यपन का अवलम्बन करता है । उस से शास्त्र सिद्ध अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व को मानो संन्यासी ने मार डाला है । इस से वह ब्रह्म हत्या करने वाला होता है । स्मृति में भी ऐसा ही कहा हैः—

“ब्रह्म नास्तीति यो ब्रूयाद्देष्टि ब्रह्मविदं च यः ।

अभूतब्रह्मवादी च त्रयस्ते ब्रह्मघातकाः” इति ॥

“ब्रह्महा स तु विज्ञेयः सर्वधर्मबहिष्कृतः” ।

अभिलाषपूर्वकं हिरण्यं स्पृष्टं चेत्तदा तत्स्पृष्टा भिक्षुः पतितत्वात्पौलकसो म्लेच्छसदृशो भवेत् । पातित्यश्च स्मर्यते—

अर्थः—जो ‘ब्रह्म नहीं है’ ऐसा कहता, और जो ब्रह्मवित् पुरुष से द्वेष करता, और जो मिथ्या ब्रह्म वादी है, ये तीन पुरुष ब्रह्महत्या करने हारे हैं । सर्व धर्मों से भ्रष्ट हुए पुरुष को ब्रह्महत्या करने हारा जानो ।

इच्छा पूर्वक सुवर्ण का स्पर्श करे तौभी वह स्पर्श करने हारा संन्यासी पतित होने से पुलकस अर्थात् उसे म्लेच्छ समान जानो । इस का पतित होना स्मृति में लिखा हैः—

“पतत्यसौ ध्रुवं भिक्षुर्यस्य भिक्षोर्द्वयं भवेत् ।

धीपूर्वं रेतउत्सर्गो द्रव्यसंग्रह एव च” इति ॥

अर्थः—जो संन्यासी बुद्धि पूर्वक वीर्यपात और धनका संग्रह ये दो वस्तु करता वह भिक्षु निश्चय पतित होता है ।

अभिलाषपुरःसरं हिरण्यं न ग्राह्यम् । गृहीतं चेत्तदा स भिक्षुर्देहेन्द्रियादिसाक्षिणमसङ्गं चिदात्मानं हतवान् भवेत् । असङ्गत्वमपोह्य स्वात्मनो हिरण्यादि द्रव्यं प्रति भोक्तृत्वेन प्रतिपन्नत्वात् । तस्याश्चान्यथाप्रतिपत्तेः सर्वपापरूपत्वं स्मर्यते—

अर्थः—संन्यासी इच्छा पूर्वक सुवर्ण को न ग्रहण करे । क्योंकि सुवर्ण ग्रहण करने से वह देहेन्द्रिय का साक्षी आत्मा का हनन करने हारा होता है । क्योंकि अपने



आत्मा के अतङ्गपन को त्याग कर उस ने आत्मा को हिरण्य आदिक द्रव्य का भोक्ता होना माना है । आत्मा का अन्यथा ज्ञान सब पापरूप है, ऐसा स्मृति कहती है ।

“योन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते, ।

किं तेन न कृतं पापं चौरैणाऽऽत्मापहारिणा”॥

किञ्चाऽऽत्मघातिनः सुखलेशेनापि रहिता

बहुविधदुःखेनाऽऽवृता लोकाः श्रूयन्ते—

अर्थः—जो आत्मा के स्वरूप अन्य प्रकार का हुआ स्वयं उस से अन्य प्रकार का मानता उस आत्मा को हरण करने वाले चोर पुरुष ने कौन पाप नहीं किया ? बहुत किया ।

आत्मघाती को जिस में लेश भी सुख नहीं ऐसे अनेक दुःख युक्त लोक की प्राप्ति होती है, ऐसा श्रुति कहती है ।

दृष्टं चेत्यनेन चकारेण श्रुतं च समुचीयते ।

स्पृष्टं चेत्यनेन कथितस्य समुच्चयः । ग्राह्यं चे-

त्यनेन व्यवहृतं चेति समुच्चयः । दर्शनस्पर्शन-

ग्रहणवदभिलाषपूर्विका हिरण्यवृत्तान्तश्रवण-

तद्गुणकथनतदीयक्रयादिव्यवहारा अपि

प्रत्यवायहेतव इत्यर्थः । यस्मात्साभिलाष-

हिरण्यदर्शनादयो दोषकारिणस्तस्माद्भि-

क्षुणा हिरण्यदर्शनादयो वर्जनीया इत्यर्थः ॥

हिरण्यवर्जनस्य फलमाह—

अर्थः—सुवर्ण का दर्शन, उस का छूना, और उस का ग्रहण जैसे दोषों का कारण है, वैसेही अभिलाष पूर्वक सुवर्ण सम्बन्धी बात करना, और उस के गुणों का कथन करना और उस के द्वारा खरीद फरोखत करना आदि व्यवहार करना भी

प्रसवायका ही कारण है । सुवर्ण की इच्छा पूर्वक उस का दर्शन इत्यादि दोष उपजाने वाले होनेसे संन्यासी सुवर्ण सम्बन्धी सारे व्यवहारों को छोड़ देवे । सुवर्ण के त्याग का फल कहते हैं—

“सर्वे कामा मनोगता व्यावर्तन्ते दुःखे नो द्वि-

प्रः सुखं निःस्पृहस्त्यागो रागे सर्वत्र शुभा-

शुभयोरनभिस्नेहो न द्वेष्टि न मोदते च स-

र्वेषामिन्द्रियाणां गतिरुपरमते य आत्मन्ये-

वाचस्थीयते,” इति ।

अर्थः—जो पुरुष (द्रव्य की इच्छा त्यागकर) परमात्मा में ही स्थिति करता, उस के मन में रही हुई इच्छाओं का नाश हो जाता है । दुःख में तो उद्वेग पाता नहीं सुख में स्पृहारहित होता, उस के राग में त्याग होता, सर्व शुभ में वह स्नेह रहित होता, वह किसी से द्वेष नहीं करता, वह किसी पदार्थ से हर्ष को प्राप्त नहीं होता, और उस के सब इन्द्रियों की गति विषयों में से निवृत्त होती है ।

पुत्रभार्यागृहक्षेत्रादिकामानां सर्वेषां हिर-

ण्यमूलत्वाद्धिरण्ये परित्यक्ते सति ते कामा-

मनोगता मनस्यवस्थानाद् व्यावर्तन्ते व्यावृ-

त्ता भवन्ति । कामनिवृत्तौ सत्यां कर्मप्रा-

प्तयोर्दुःखसुखयोरुद्वेगस्पृहे न भवतः । ए-

तच्च स्थितप्रज्ञप्रस्तावे प्रपञ्चितम् । ऐहिकयोः

सुखदुःखयोरधिज्ञेयकत्वे सत्यामुष्मिकाधि-

षयरोगेऽपि त्यागो भवति । ऐहिक-

सुखस्पृहायुक्तो हि तदुद्वृत्तान्तेनानुमित



आमुष्मिके सुखे रागवान् भवति । तस्मा-  
दैहिकनिःस्पृहस्याऽऽमुष्मिके रागाभावो यु-  
ज्यते । एवं सति सर्वत्र लोकद्वयेऽपि यौ-  
शुभाऽऽशुभावनुकूलप्रतिकूलविषयौ तयोरन-  
भिस्नेहः । एतच्च द्वेषराहित्यस्याप्युपल-  
क्षणम् । तादृशो विद्वान् शुभकारिणं कं  
चिदपि पुरुषं न द्वेष्टि शुभकारिणि च मोदं  
न प्राप्नोति । द्वेषमोदरहितो यः पुमानात्म-  
न्येव सर्वदाऽवतिष्ठते तस्य सर्वस्य सर्वेषा-  
मिन्द्रियाणां गतिः प्रवृत्तिरुपरमते । इन्द्रि-  
योपरतौ न कदाचिदपि निर्विकल्पकसमाधे-  
र्विघ्नो भवति । तेषां का स्थितिरिति प्रश्न-  
स्य सङ्क्षेपविस्तराभ्यामुत्तरं पूर्वमुक्तं तदेवात्र  
पुनरपि हिरण्यनिषेधप्रसङ्गेन स्पष्टीकृतम् ॥

अर्थः—पुत्र, स्त्री, घर, क्षेत्र, इत्यादि सब भोग्यपदार्थों का  
मूल सुवर्ण अर्थात् द्रव्य है । इस लिये उस का त्याग करने से  
स्त्री पुत्रादि कों के मन में रही हुई इच्छा भी निवृत्त होजाती  
काम की निवृत्ति होने पर कर्म द्वारा प्राप्त सुख और दुःख में  
से स्पृहा और उद्वेग दूर होजाते हैं । यह वार्त्ता स्थित प्रज्ञ के  
प्रसङ्ग में विस्तार पूर्वक वर्णन कियी गयी है । ऐहिक सुख  
दुःख के अनादर होने से परलोक के सुख में से भी राग त्याग  
होता है । क्योंकि जिस को इस लोक के सुख में स्पृहा होती उस  
को इस लोक के सुख पर से अनुमान किया पारलौकिक सुख  
में भी इच्छा होनी सम्भव है । इस लिये ऐहिक सुख में निः-  
स्पृह पुरुष को परलोक के सुख में विराग घटता है । इस प्रकार

इन दोनों लोकों के अनुकूल वैसाही प्रतिकूल विषयों में राग  
द्वेष रहित होता है । ऐसा विद्वान् अपने अशुभ करने हारे किसी  
भी पुरुष से द्वेष नहीं करता, उसी तरह अपने शुभ करने वाले  
पर प्रसन्न नहीं होता । राग द्वेष रहित जो पुरुष आत्मा में ही  
स्थिति करता, उस की सब इन्द्रियों की प्रवृत्ति उपराम को  
प्राप्त होती हैं । वैसा होने पर किसी समय भी उसको निर्विक-  
ल्प समाधि में विघ्न नहीं होता ।

जीवन्मुक्त पुरुष की कैसी स्थिति होती है ? इस प्रश्न का  
उत्तर संक्षेप और विस्तार से पहिले दिया गया । उस का ही  
यहां फिर हिरण्य के निषेध के प्रसङ्ग से स्पष्टीकरण किया है ।

अथ विद्वत्संन्यासमुपसंहरति ।

“यत्पूर्णानन्दैकबोधस्तद्ब्रह्माहमस्मीति कृत  
कृत्यो भवति ” इति ॥

यद्ब्रह्म वेदान्तेषु पूर्णानन्दैकबोधः परमा-  
त्मेति निरूपितं तद्ब्रह्माहमस्मीत्येवं सर्व-  
दाऽनुभवन्नयं योगी परमहंसः कृतकृत्यो  
भवतीति । तथा च स्मर्यते—

अर्थः—अब विद्वत्संन्यास का उपसंहार कहते हैं । जिस  
ब्रह्म का वेदान्त में पूर्णानन्द स्वरूप, अखण्ड ज्ञान स्वरूप और  
परमात्मा रूप से निरूपण किया है, वह ब्रह्म मैं हूं, इस प्रकार  
निरन्तर अनुभव करता हुआ योगी परमहंस कृत कृत्य होता है,  
स्मृति में भी ऐसा ही कहा है—

“ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।  
नैवास्ति किञ्चित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्”  
इति ॥



अर्थ:—ज्ञान रूप अमृत द्वारा तृप्ति को प्राप्त हुए कृतकृत्य योगी को कुछ भी कर्तव्य नहीं । और जो कर्तव्य हो तो, वह तत्पर नहीं ।

जीवन्मुक्तिविवेकेन बन्धं हार्दं निवारयन् ।

पुमर्थमाखिलं देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ १ ॥

अर्थ:—जीवन्मुक्ति के विवेक से हृदय के बन्धनों को नाश करता हुआ ऐसे भारतीतीर्थ गुरु से अभिन्न श्रीमहेश्वर सम्पूर्ण पुरुषार्थ को देवे ।

इति श्रीमद्विद्यारण्यप्रणीते जीवन्मुक्तिविवेके

विद्वत्संन्यासनिरूपणं नाम पञ्चमं

प्रकरणम् ॥ ५ ॥

भेदाभेदौ सपादिगलितौ पुण्यपापे विशीर्णे  
मायामोहौ क्षयमधिगतौ नष्टसन्देहवृत्तिः ।  
शब्दातीतं त्रिगुणरहितं प्राप्य तत्त्वावबोधं  
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां कोविधिः कोनिषेधः ॥ १ ॥  
तीर्थानि तोयपूर्णानि देवान् पाषाणमृन्मयान् ।  
योगिनो न प्रपद्यन्ते आत्मज्ञानपरायणाः ॥ २ ॥  
अग्निर्देवो द्विजातीनां मुनीनां हृदि दैवतम् ।  
प्रतिमा स्वल्पबुद्धीनां सर्वत्र विदितात्मनाम् ॥ ३ ॥  
सर्वत्रावास्थितं शान्तं न प्रपद्ये जनार्दनम् ।  
ज्ञानचक्षुर्विहीनत्वादन्धः सूर्यामिवोदितम् ॥ ४ ॥

सम्पूर्णोऽयं श्रीमद्विद्यारण्यप्रणीतो-

जीवन्मुक्तिविवेकः ।

अर्थ:—जिसको बाणी नहीं पहुचती और जो तीन गुणों से रहित ऐसे परमात्माका ज्ञान पाके भेद और अभेद उसी

समय नष्ट होजाते, पुण्य, पाप क्षीण होजाते, अविद्या और मोह का भी क्षय होजाता, और सन्देह रूप वृत्ति भी नष्ट हो जाती । त्रिगुणातीत मार्ग पर चलने वाले पुरुष के लिये क्या विधि ? या क्या निषेध होता ? अर्थात् ऐसा पुरुष विधि निषेध से रहित होता है । आत्मज्ञान में तत्पर योगी जल से पूर्ण तीर्थ को और पाषाण और मट्टी के बने देवों की शरण नहीं जाते । द्विजातियों की देव अग्नि, मुनियों का देव हृदय में, स्वल्पबुद्धिवालों का देव प्रतिमा में, और आत्मवेत्ताओं का देव सर्वत्र है । जैसे अन्धा पुरुष सूर्य के उदय होने पर भी नहीं देखता, तैसे अज्ञ पुरुष ज्ञान रूपी नेत्र से हीन होने से सर्वत्र व्यापक एवं शान्त और सब लोग जिसकी इच्छा करते ऐसे परमात्मा को नहीं देखते हैं ।

इस भांति विद्यारण्य विरचित जीवन्मुक्तिविवेक  
का श्रीउदयनारायणसिंह कृत  
भाषानुवाद पूरा हुआ ।